श्रीजानकीपरमकृपापात्रैर्बिन्दुश्रीप्रवर्तकाचार्य्यैः
श्रीरामानन्दसम्प्रदायकमलोल्लासकैः
श्रीमद्भगवद्रामप्रसादाचार्य्यैरायोध्यकैः
प्रणीतस्य

श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य

संक्षिप्तसारः



सम्पादको व्यवस्थापकः संशोधकश्च
परमहंसपरिव्राजक—
पण्डितराज-स्वामि-श्रीभगवदाचार्य्यैः

प्रकाशक —
स्वामी श्रीरामचरित्राचार्य व्याकरणाचार्य
श्रीराममन्दिर, मोटी हवेली नी पोल, दरियापुर,
अहमदाबाद १

मूल्य पाँच रुपये

प्रथमसंस्करण | जून १९५८ ई०

प्राप्तिस्थान—
(१) महान्त श्रीकृष्णदास
श्रीरामानन्द साहित्यमन्दिर, अड्डा
अलवर (राजस्थान)
(२) स्वामी श्रीरामचरित्राचार्य व्याकरणाचार्य
श्रीराममन्दिर, मोटी हवेली नी पोल, दरियापुर,
अहमदाबाद १

मुद्रक—बालकृष्णशास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस,
कालभैरव मार्ग, वाराणसी ।

धन्यवाद

यह कल्पित आनन्दभाष्य इतना अशुद्ध छपा है और इतना लम्बा चोड़ा उसमें जाल बिछाया गया है कि सामान्य कोई उसे न तो शुद्ध कर सकता है और न उसके असली रूप को पकड़ सकता है। इसमें श्रीजानकीभाष्य तो है ही, परन्तु उसमें कहीं कहीं संशोधनकार पण्डित श्री रघुवरदास जी के भी शब्द और वाक्य हैं। कहीं कहीं श्रीभाष्य की भी पङ्क्तियाँ हैं। कहीं कहीं वेदान्तसार की भी पङ्क्तियाँ हैं। कल्पित आनन्दभाष्य, श्रीजानकीभाष्य, श्रीभाष्य, वेदान्तसार आदि ग्रन्थों का मिलान करके शुद्ध श्रीजानकीभाष्य का संक्षिप्त सार बनाना अत्यन्त दुरूह कार्य था। ७८ वर्ष की उम्र में मेरे लिये तो अवश्य ही यह कठिन कार्य था और जब कि मेरा कोई अन्य सहायक नहीं। मैंने बहुत श्रम किया, आनन्दभाष्य की काट-छाँट की तब उसमें से यह विशुद्ध श्रीजानकीकृपाभाष्य संक्षिप्तसार निकल सका।

काटते, छाँटते, सुधारते, लिखते, मेरे लिये थक जाना बहुत स्वाभाविक बात थी। इसके सुधारने में कितनी ही भूलें भी रह गयीं। भाष्य सुधारने में लग गया तो सूत्र की ओर ध्यान नहीं गया और वह अशुद्ध ही रह गये।

इस ग्रन्थ का प्रूफ संशोधन मैंने नहीं किया है। ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काशी के अध्यक्ष श्रीमान् पण्डित बालकृष्ण शास्त्रीजी ने ही किया है। उन्होंने कितनी ही अशुद्धियों को तो शुद्ध कर लिया परन्तु तो भी

कितनी ही रह गयी हैं। जो पाण्डुलिपि मैंने तैयार की थी और जिसपर से यह ग्रन्थ छपा है, उसे मैंने सुरक्षित रखा है। उसके देखने से ही मूर्छा आ जाती है! उपर्युक्त श्रीशास्त्रीजी ने महापरिश्रम से इसका सशोधन किया और आशातीत शुद्धता के साथ यह ग्रन्थ मुद्रित हो सका। इसके लिये मैं श्रीशास्त्रीजी का अत्यन्त आभार मानता हूँ और उन्हें शतशः धन्यवाद देता हूँ। सच तो यह है कि जितना श्रम श्रीशास्त्रीजी-ने किया है उतना मैं नहीं कर सकता था, अत एव इतनी शुद्धताके साथ यह ग्रन्थ छप भी नहीं सकता था। अतः मैं इस ग्रन्थके पाठक विद्वानोंसे प्रार्थना करूँगा कि इसमें जहाँ कहीं थोडी भी भूलें रह गयी हैं और वे केवल मेरी भूलें हैं, मेरी ही अनवधानता से पाण्डुलिपि में यह भूलें रह गयी थीं, अत मेरी वृद्धता, अनेक कार्यपरायणता आदि की ओर ध्यान देकर उन्हें सुधार लेंगे और मुझे क्षमादान देंगे।

७ जून १९५८ ई० } भगवद्दाचार्य

उपकारस्मृति

बिन्दुश्रीप्रवर्तकाचार्य श्रीरामानन्दसम्प्रदायकमलदिवाकर आर्याध्यक्ष श्रीस्वामी रामप्रसादाचार्यजी महाराजकी गादीके आचार्य स्वामी श्रीगोपालप्रसादजी महाराजके कृपापात्र आयुर्वेद-विद्वान् परोपकारपरायण परमवीतराग स्वसम्प्रदाय सम्प्रदायाचार्य-निष्ठ स्वामी श्रीदयानन्ददासजी महाराजकी परम-उदारतासे यह दिव्यग्रन्थ शीघ्र मुद्रित हो सका है। अत मैं सम्प्रदायके इस महान् उपकारके लिये इन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। स्वामी श्रीदयानन्ददासजी महाराज अब वृद्ध हो गये हैं परन्तु उनका धार्मिक उत्साह तो नवयुवक ही है। अत हमे आशा है कि हम लोग आपके पवित्र धन और उदारताका साम्प्रदायिक कार्यमे पुनरपि उपयोग करनेके लिये भाग्यशाली बनेंगे।

अहमदाबाद
७ जून १९५८ }

भगवदाचार्य

सूत्रपाठसंशोधनम्

अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ	पृष्ठ
यत्तु	तत्तु	४१
उपपत्त	उपपत्त	९७
स्थानादि व्यप	स्थानादिव्यप	९७
वश्वानर	वैश्वानर	१०४
धृते	धृत	११८
विरोघ	विरोध	१३७
वृतान्य	वृत्तावप्य	१४०
श्यामपि–	श्यामपि	१७३
नवकाशदोष	नवकाशदोष–	१८२
वयत्त्व	वयत्त्व	२०१
थाह्याह	था ह्याह	२२९
देह योगाद्वा	देहयोगाद्वा	२७८
सुर्यकादि	सुयाकाशादि	२८१
तयाहि	तथा हि	२८४
शाखा हि	शाखासु हि	३१८



महामृत्युञ्जय दर्शन

मैं सत्यको ही महामृत्युञ्जय नाम दे रहा हूँ। उसीका दर्शन हम यहाँ करना कराना चाहते हैं।

आनन्दभाष्यनामक ग्रन्थ सन् १९२९ ई० में अहमदाबादके उत्कृष्ट प्रेससे छपकर प्रकाशित हुआ था। स्वामी श्री रघुवरदासजी वेदान्तीने उसका संशोधन किया था। उन्होंने उस ग्रन्थमें अपनी एक भूमिका भी संस्कृत भाषामें लिखी है उसका नाम रखा है—तत्त्वप्रकाशिका। उस आनन्दभाष्यका वास्तविक इतिहास मैंने सन् १९५१ ई० में मुद्रित श्रीरामपटल्म—सिंहावलोकनम प्रकाशित कर दिया है। वह आनन्दभाष्य कल्पित भाष्य है। श्रीरामानन्दस्वामीजीका उसके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह बात मैं लगभग १९ वर्षोंसे कहता और लिखता आ रहा हूँ। अप्रैल १९३९ में मैंने प्रथमबार इस बातको तत्त्वदर्शीके विशेषाङ्कमें लिखा था। उस समय इस ग्रन्थके संशोधक पण्डित श्री रघुवरदासजी जीवित थे। बहुत दिनों तक जीवित रहे थे। उन्होंने मेरे लेखके उत्तरमें कभी भी एक शब्द भी नहीं लिखा। मेरी बातको सुनने वालोंमेंसे कुछ सत्य घटनासे परिचित हैं, कुछ अपरिचित हैं। अपरिचित समाज कुछ नहीं बोल सका है। परन्तु परिचितोंकी एक छोटी सी टुकड़ी सदा मेरे सामने यह बात रखती आ रही है कि वह आनन्दभाष्य श्रीरामानन्दस्वामीजी का ही निर्मित है जो श्रीसम्प्रदायके एक महान् आचार्य थे।

महान्त श्रीवासुदेवाचार्यजी अयोध्या, महान्त श्री वैष्णवाचार्यजी अहमदाबाद और श्री नजरङ्गदासजी रमतेराम इन तीनों सन्तोंने यह आग्रह ले रखा है कि सत्यको असत्य और असत्यको सत्य सिद्ध करना परमावश्यक है। महान्त श्री वासुदेवाचार्यजी पण्डित हैं, विद्वान् हैं।

उन्होंने अपने लिये एक डिग्री बना ली है—दार्शनिक सार्वभौम। अब वह सार्वभौमके नाम से प्रसिद्ध हो चले हैं। महान्त श्री वैष्णवाचार्यजी विद्वान् भी हैं और कुछ लिखते रहनेके अभ्यासी भी हैं। उन्होंने अपनी दो एक छोटी-छोटी पुस्तकोंमें उस आनन्दभाष्य नामक ग्रन्थमेंसे कहीं कुछ उद्धरण भी किया है। उन्होंने यह भी घोषित किया है कि उस आनन्दभाष्य पर श्री टीलाजी और श्री मङ्गलदासजीकी टीकाएँ हैं। आबूके श्री रघुनाथमन्दिरसे एक सिद्धान्तदीपक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसके कर्त्ता स्वामी अनन्तानन्दजी बताये गये हैं। उसमें एक श्लोकमें लिखा है कि श्री रामानन्दस्वामी आनन्दभाष्यके कर्त्ता हैं। उस सिद्धान्त-दीपककी हिन्दी व्याख्या श्री रघुनाथमन्दिरके ही वर्तमान महान्त श्री रामशोभादासजीके नामसे प्रकाशित है। अन्यत्र भी जहाँ-तहाँ लोगोंने आनन्दभाष्यका नाम इन २० वर्षोंमें लिखा और प्रकाशित किया है। तीसरे बजरङ्गदासजी रमतेराम ही हैं। कभी मनमें आया और कहींसे कुछ पैसे मिल गये, तो कुछ लिख डाला। उनके लेखमें सिर-पैर बिनाकी बातें रहती हैं। इन्होंने कितनी ही विज्ञप्तियाँ छपा डाली हैं और आनन्द-भाष्यके सम्बन्धमें मुझसे शास्त्रार्थ करनेके लिये चैलेंज भी दे दिया है। कभी-कभी मेरा पराजय भी छाप दिया है। यह तो मियाँ-मिट्ठूवाली बात है। अभी उन्होंने एक छोटी सी पुस्तक शालिग्रामके विषय में लिखी है। भूपतवाला हरिद्वारके श्रीमान् महान्त पण्डित लक्ष्मणदासशास्त्रीजीसे भी कुछ रुपये उस पुस्तकको छपानेके लिये उन्होंने प्राप्त किये। पुस्तक छप गयी। उसमें मुझे भरपेट कोसा गया। महान्त पण्डित श्री लक्ष्मणदासजी-ने मुझे लिखा, शायद विरक्तपत्रमें भी प्रकाशित किया कि "यदि मुझे मालूम होता कि वह भगवदाचार्यको गालियाँ देंगे तो मैं एक पैसा भी सहायता न देता"।

डाकोरके श्रीमान् श्री महान्त रामनारायणदासजी टीलागाद्याचार्य माने जाते हैं। मङ्गलपीठाधीश भी वह हैं। अतः मैंने उनसे पत्र लिखकर पूछा

कि आपके पास आनन्दभाष्यके ऊपर टीलाजीकी कोई टीका और उसके ऊपर मङ्गलदासजीकी कोई टीका है ? उन्होंने उत्तर दिया कि सब ग्रन्थ थे परन्तु पण्डित वैष्णवाचार्यजी छपवानेके लिये अहमदाबाद ले गये हैं। मैं तो अहमदाबादमें ही रहता हूँ। श्री रामानन्दपत्रिकामें एक लेख लिखकर मैंने पण्डित वैष्णवाचार्यजीसे उन दोनों या तीनों ग्रन्थोंको देखनेके लिये इच्छा प्रकट की परन्तु वह निष्फल गयी क्योंकि ये तीनों ग्रन्थ इस धरातलपर तो नहीं ही हैं। यदि हों भी तो बनावटी होंगे और उन्हें मेरे जैसोंको दिखानेका किसीको साहस ही नहीं हो सकता। यही कथा सिद्धान्तदीपक की भी है। एक झूठे आनन्दभाष्यको सच्चा साबित करनेके लिये अनन्त झूठ का सेवन करके पापार्जनसे किसी को भय ही नहीं हो रहा है। यदि सम्प्रदाय पाप और पापाचारकी वृद्धिके लिये ही हो तो उसका आज ही नाश हो जाना चाहिये। दम्भ और पाखण्ड, असत्य और दुराचारके लिये सम्प्रदाय नहीं होना चाहिये। इन सब दुर्गुणोंकी निवृत्तिके लिये ही सम्प्रदायका अस्तित्व होना चाहिये। यदि मान लें कि श्री रामानन्द सम्प्रदायमें रामानन्द स्वामीसे पूर्व अथवा उनके पश्चात् बहुत दिनों तक कोई संस्कृतका महाविद्वान् और ग्रन्थ लेखक नहीं आया तो हो क्या गया ? यह सम्प्रदाय तो भक्तसम्प्रदाय है। इसमें भक्त हुए या नहीं, यह देखना चाहिये।

मैंने अपने समस्त प्रतिपक्षियोंको चैलेंज दे रखा है कि आनन्दभाष्य (उत्कृष्ट मुद्रणालयमें छपाकर श्री रघुवराचार्य द्वारा प्रकाशित) को यदि श्रीरामानन्दाचार्य कृत सिद्ध करना है तो उसकी वह प्राचीन प्रति मुझे दिखाइये, किसीको भी दिखाइये जिसके आधारपर यह आनन्दभाष्य छपाया गया है। परन्तु आजतक किसीका भी साहस ऐसा करनेका नहीं हुआ। हो भी नहीं सकता है, क्योंकि यदि कोई प्राचीन प्रति दिखायी जा सकती है तो वह श्री जानकीभाष्यकी ही प्रति होगी और उसमें काट-छाँट किया हुआ स्पष्ट ही दीख पड जायगा। कोई भी उसकी

प्राचीन प्रति हस्तलिखित दिखायी नही जा सकती है और मुद्रित प्रति प्रामाणिक मानी नहीं जा सकती है अत **भइ गति साप छुछुन्दर केरी** वाली बात हुई है । प्रतिपक्षी हैरान और परेशान है ।

मैंने श्रीरामानन्दपत्रिका (वर्ष अङ्क) मे घोषित कर दिया था कि यदि कोई भी मरे प्रतिपक्षी आनन्दभाष्यकी हस्तलिखित मूल प्रति नहीं दिखावेंगे तो मैं इस आनन्दभाष्यको कल्पित जानकीभाष्यके नामसे मुद्रित कराकर प्रकाशन करूगा । अभी तक किसीने उसे दिखानेका साहस नहा किया है । कोई झूठा ही यह न कह दे कि मने मूल हस्तलिखित आनन्दभाष्यको भगवदाचार्यको दिखा दिया था, अत मने यह भी घोषणा कर रखी है कि मे जिला कलक्टर ओर किसी अन्य सम्प्रदायके प्रतिष्ठित विद्वान्के साथ उस ग्रन्थको देखूगा । यदि कोइ कहेगा कि म मूल हस्तलिखित आनन्दभाष्यको भगवदाचार्यको दिखा चुका हू तो उस ग्रन्थपर मेरा, जिला कलक्टरका तथा किसी अन्य विद्वान्का हस्ताक्षर दिखाना ही पडेगा । यदि उस ग्रन्थपर मेरा हस्ताक्षर नहीं है तो अवश्य ही यह सिद्ध मानना पडेगा कि मैंने उसे देखा ही नहीं है ।

पण्डित श्री रघुवरदासजीने कल्पित आनन्दभाष्यकी अपनी तत्त्वप्रकाशिका भूमिकाम अन्तम टिप्पणीम लिखा है कि—

"अयोध्यामें ही किसी वैष्णवमन्दिरम एक पुस्तक है ऐसा मैंने सुना परन्तु देखा नहा । मेरे एक मित्रने उसे देखा आर कहा कि वह रामानन्दभाष्य नहा है, प्रत्युत किसीने वेदान्तसूत्रोंको उद्धृत करके उसकी टीकाके बहानेसे उपनिषद् आर गीताके वाक्योंको नीचे उद्धृत करके जानकीभाष्यके नामसे उसे प्रसिद्ध किया है । वह भाष्य प्रतिपद अशुद्ध है, उत्सूत्र (सूत्रके भावोंके विरुद्ध) है, अनाथक (अनर्थक) है और बाललीला विलसित है । यह सुनकर म उसके सग्रह करनेसे अलग

ही रहा। मैं मानता हूँ कि इसी श्रेयोनिधान आनन्दभाष्यको जड़-मूलसे उल्टा पुल्टा करके किसी ख्यातिलोभीने दुर्वचनरूप धागेवाले इस ग्रन्थरूप कन्थाको तैयार किया है"।

इसपर मैंने अयोध्यासे निकलनेवाले सस्कृतम् नामके साप्ताहिक पत्रमें लिखा कि यदि जानकीभाष्य उल्लूक है, अपार्थक है, प्रतिपद अशुद्ध है और गाळगाला विरचित है, तो यदि इस आनन्दभाष्यमें भी जानकी भाष्यके ही शब्द, धातु, अन्वय, क्रियापद, समस्तपद, श्रुति, स्मृति, सब मिल जायँ, आनुपूर्वी पाठ भी यदि इन दोनों ग्रन्थोंका सम हो तो यह आनन्दभाष्यभी प्रतिपद अशुद्ध, उल्लूक, और बाल्गालाविरचित सिद्ध होगा या नहीं? किसी भी आग्रही वन्धुने मेरे उस लेखका उत्तर नहीं दिया।

इसी तत्त्वप्रकाशिका की भूमिकामें प० श्रीरघुवरदासजीने लिखा है कि "इस आनन्दभाष्यकी एक हस्तलिखित पुस्तक जो बहुत अशुद्ध नहीं थी, और जिसके कितने ही स्थलोंमें अक्षर उड़ गये थे, हमारे गुरुने, जिनको कश्मीरमें रहनेका रंग लगा था, मुझे दिया। उस समय मैं न्याय-वेदान्तादि पढ़नेमें लगा था अतः अपने गुरुके ही बड़े भारी पुस्तकालयमें उसे रख दिया।"

पण्डित श्री रघुवरदासजीने जन्मभर अपने गुरुस्थानको छिपानेका प्रयत्न किया है। इसका कारण यह था कि यह स्वय धनाढ्य महन्त थे और उत्तम विद्वान् थे। इनके गुरुजी साधारण स्थितिके और साधारण विद्यासम्पन्न महन्त थे। इन्होंने अपने इस लेखमें न तो अपने गुरु या आचार्यका नामोल्लेख किया और न स्थान-मन्दिरनामनिर्देश किया है। यदि गुरुजी कश्मीरमें रहनेके रसिक थे और उनका बड़ा भारी पुस्तकालय था तो वह किसी मन्दिरमें ही रहते होंगे, या किसी आश्रममें रहते होंगे। उस मन्दिर और उस आश्रमका नाम तो बताना चाहिये। बहुत

बड़े पुस्तकालयके लिये छोटा मन्दिर तो अवश्य ही अनुपयुक्त है। उन्होंने कोई नाम ग्राम नहीं लिखा है। वस्तुत वह कश्मीरमें रहते ही नहीं थे। कश्मीरमें उन्हें न तो कोई सन्तमहान्त जानते हैं और न वहाँ के कोई प्रतिष्ठित विद्वान् जानते हैं। यह कथा अनादिकालकी तो है ही नहीं। ३२ या ३५ वर्षोंसे अधिककी यह बात ही नहीं है। तब यह भी तो नहीं पता लग रहा है कि वह परमगरीयान् आचार्य पुस्तकालय गया कहाँ? यह सब बातें कल्पित हैं। उनके गुरुजी या आचार्यजी महान्त श्री हनुमानदासजी सौराष्ट्रके चीतल ग्राममें एक छोटेसे महान्त थे। सुदामापुरी जाते समय चीतल रेलवे स्टेशन आता है। वहाँ ही वह रहते थे। पण्डित श्री रघुवरदासजी वहाँ ही, उसी ग्राममें, उन्हीं महान्त जीके बाल्यावस्थामें शिष्य बने थे। अन्तमें वह विपठिषु होकर अयोध्या गये थे और वहाँ बड़ा स्थान के श्री जगद्गुरुचार्य दिवङ्गत स्वामी श्री राममनोहरप्रसादाचार्यजी महाराजकी कृपासे बड़ा स्थानमें ही रहकर विद्याध्ययन करने लग गये थे। थोड़ा सा व्याकरण और मीमांसा पढ़ाकर स्वामी श्रीराममनोहरप्रसादजी महाराजने उन्हें मुजफ्फरपुर न्याय पढ़नेको भेज दिया था। अयोध्याके बड़ा स्थानके आचार्यचरण श्रीराममनोहरप्रसादजी महाराजने ही उन्हें विद्वान् भी बनाया था और प्रतिष्ठित भी।

अस्तु, सत्य बात तो इतनी ही है कि यह आनन्दभाष्य श्रीजानकी भाष्यका ही साम्प्रत स्वरूप है। श्रीजानकीभाष्यकी श्रीरघुवरदासजीने निन्दा की है और उसके प्रणेता स्वामी रामप्रसादजी महाराजके लिये अपशब्द प्रयोग किया है वह तो उनके ही गुण दोष के परिचायक हैं। अच्छा आदमी न किसीको गाली देता है और न किसीकी निन्दा करता है।

आज मैं उस कृत्रिम आनन्दभाष्यको उसके वास्तविक स्वरूप में ले जा रहा हूँ। जिसको कुछ लोगोंने आनन्दभाष्य कहा और लिखा है

तथा अन्योंसे कहलाया और लिखाया है उसी ग्रन्थको मैं "श्री जानकी भाष्यका संक्षिप्तसार" यह नाम दे रहा हूं। यही सत्य है। यही उचित है। यही न्याय है और यही ग्राह्य है। आजसे यह आनन्दभाष्य समाप्त होता है। सबको, सब विद्वानोंको, सब आचार्योंको, सब साम्प्रदायिकोंको आजसे यह जान लेना चाहिये कि स्वामी रामानन्दजी महाराजका बनाया हुआ वेदान्तदर्शनपर आनन्दभाष्य अभी तक दुष्प्राप्य है। वह अब दुष्प्राप्य ही रहेगा। मैंने भी आनन्दभाष्यके सम्बन्धमें झूठी-सच्ची बातें लिखी हैं, कही हैं, उनका भी आजसे अन्त हो रहा है। स्वामी श्री रामप्रसादजी महाराजके श्रमको छिपा दिया गया था, वह आज प्रकट हो रहा है। श्री रामानन्द सम्प्रदायपर इस जानकीकृपाभाष्यके द्वारा उनका जो महान् उपकार है, उसे भुला देनेका प्रयत्न किया गया था परन्तु वह सब प्रयत्न आजसे निष्फल हो रहे हैं। किसीके उपकारको भुला देनेमें निरी राक्षसता है।

श्रीजानकीकृपाभाष्यको आनन्दभाष्य बनानेमें पण्डित रघुवरदासजी को क्या-क्या उलट-फेर करना पडा था उसका थोड़ासा यहाँ विवरण देना उचित भी है और उत्तम भी है। विद्वत्पाठक ध्यानसे इसका निरीक्षण करेंगे, ऐसी आशा है।

१—श्रीमद्रामप्रसादाचार्य विरचितं शारीरकमीमांसायाः श्रीजानकी-भाष्यम् के स्थानपर श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरचित शारीरकमीमांसाया आनन्दभाष्यम् लिखा गया।

२—श्रीजानकीभाष्यमें मङ्गलाचरणके सात अनुष्टुप् छन्दमें श्लोक हैं जो निम्नलिखित हैं—

> श्रीरामाख्यं परं ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणम्।
> स्वभक्तैर्ध्येयमाप्यं च वन्दे दिव्यगुणाकरम् ॥१॥
> श्री राममानिन्यवशाज्जगदानन्ददायिनीम्।
> तां सृष्टिस्थितिसंहारकारिणीं सर्वदेहिनाम् ॥२॥

सीतां स्वादिगुरुं वन्दे शरणागतवत्सलाम् ।
यत्परम्परया लब्धो मन्त्रोऽस्माभि षडक्षर ॥३॥
वेदवेदान्तगुह्यार्थो यत्कृपात' प्रकाशते ।
त सर्वनिगमाचार्यं हनूमन्त गुरुं भजे ॥४॥
सीतारामैकगतिक सीतारामपरायणम् ।
सीतारामैकसम्प्राप्यं स्वाचार्यं तुलसीं भजे ॥५॥
शब्दब्रह्मपरब्रह्मनिष्णात सूत्रकारकम् ।
व्यास सत्यवती सूनु प्रणमामि पुन पुन ॥६॥
मूक करोति वाचाल पङ्गु लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमह वन्दे श्री राम करुणानिधिम् ॥७॥

इन श्लोकोंकी विशेषताकी ओर भी ध्यान देना चाहिये। श्री रामानुजसम्प्रदायसे श्रीरामानन्दसम्प्रदायको जिस गुरुपरम्पराके आधारपर पृथक् किया गया था उसका इसमें सक्षेपमे उल्लेख है। गुरुपरम्पराके आदिमें श्री राम है। इस प्रथम श्लोकमें भी श्री रामका स्मरण है। परम्परामें रामके पश्चात् सीता आती हैं। यहाँ भी द्वितीय और तृतीय श्लोकसे श्री सीताका स्मरण हुआ है। परम्परामें सीताके शिष्य श्री हनुमान् निर्दिष्ट हैं। यहाँ भी चतुर्थ श्लोकमे श्रीहनुमान्जीका स्मरण किया गया है। गुरुपरम्परामें व्यासजी भी पठित हैं, यहाँ भी षष्ठ श्लोकमें व्यासजीका स्मरण है। श्रीरामानन्दसम्प्रदायाचार्य श्री रामानन्दस्वामीजीको पाँचवें श्लोकमें स्वाचार्यम् कहकर स्मृत किया गया है। गुरुपरम्पराका मूल सौ वर्षोंसे सम्प्रदायमें प्राप्त है, यह सिद्ध करनेके लिये उत्तम साधन श्रीजानकीभाष्यकारने यहाँ उपस्थित कर दिया है। परिवर्तनकार (पण्डितरघुवरदासजी) ने इन सात श्लोकोंके बदले निम्नलिखित दो श्लोक रचे हैं—

यस्माद्विश्वमुदेति येन लभते संरक्षणं शाश्वतं,
यस्मिन्नप्ययमेति यो हि सततं कारुण्यराशिं निधि' ।

य कल्याणगुणाकरस्त्रिजगत श्रेय पर प्रापक-
स्त ब्रह्मार्चितपादपद्मयुगल रामाख्यमीश नुम ॥१॥
श्रीरामाख्य पर ब्रह्म सदाम्नायान्तदीपितम् ।
स्वभक्तैश्वर्यमाप्य च वन्दे दिव्यगुणाकरम ॥२॥

इन दोनोंम से प्रथम श्लोक तो उनका है और द्वितीय श्लोक श्री जानकीभाष्यका है। केवल द्वितीय चरणम जगज्जन्मादिकारणम् के स्थानपर सदाम्नायान्तदीपितम् लिख दिया है। इसके बदलनेम हेतु स्पष्ट है। प्रथम श्लोकम भी जन्मादिकारणता कहा गया है, द्वितीय श्लोकम भी वही विषय रह तो पुनरुक्त होता था। अत बदल डाला।

(२) चतु सूत्री पर श्रीजानकीभाष्यको परिवर्तित करनेम बहुत बडा प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ सूत्रका तो परिवर्तन करने सर्वथा ही नया भाष्य बना डाला है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु जानकीभाष्यम वह विषय जहाँ-तहाँ आ ही गया है। नवीनता कुछ नहीं है। चतुस्सूत्रीके शेष तीन सूत्रोंपर भी कला दिखायी गयी है। प्रथम सूत्रके जानकीभाष्यके कितनही अंश द्वितीय या तृतीयसूत्रके कल्पित आनन्दभाष्यम रखे गये हैं। ऐसा भी किया गया है कि द्वितीय तृतीय सूत्रके जानकीभाष्यके कुछ अंश प्रथमसूत्रके कल्पित आनन्दभाष्यमें रखे गये हैं। उदाहरणके लिये मैं कुछ स्थल यहाँ निर्दिष्ट करता हूँ।

(क) जानकीभाष्यमें प्रथमसूत्रके भाष्यमें ही अद्वैतवादिक अध्यासादिवादोंका खण्डन किया गया है। कल्पित आनन्दभाष्यमें द्वितीसूत्रके भाष्यमें वह खण्डन रखा गया है।

(ख) जानकीभाष्यम अथ परा यया (मु० १।१।६) यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च (मु० १।१।७) "यथा पृथिव्याम्०" 'तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्न च जायते" "एतस्माज्जायते प्राण०" (मु० २।१।३) इत्यादि श्रुतियोंका उल्लेख करके लिखा गया है—इत्येवमादिश्रुति

प्रतिपाद्यं निर्गुणं ब्रह्म यस्मिन् सर्वं चराचरं जगदध्यस्तमस्ति यच्चराचरात्मकजगत्कल्पनाधिष्ठानं सर्वकल्पनाधिष्ठानरज्जुवत् रजतकल्पनाधिष्ठानशुक्तिकावत् तन्निर्गुणं ब्रह्म जिज्ञास्यमित्यतो जगतो ब्रह्मण्यध्यस्तत्वज्ञानायाध्यासस्वरूपं वर्णयामासु ।

कल्पित आनन्दभाष्यमें भी यही सब श्रुतियाँ हैं और ये ही सब वाक्य और शब्द हैं। कहीं कहीं परिवर्तन किया गया है। परन्तु ये सब प्रकरण प्रथमसूत्र से उठाकर द्वितीयसूत्रभाष्यमें रखा गया है।

(ग) जानकीभाष्यमें भी शङ्करभाष्यका उद्धरण दिया गया है और वे ही सब उद्धरण कल्पित आनन्दभाष्यमें भी उपस्थित हैं।

(घ) जानकीभाष्यमें प्रथमसूत्रभाष्यमें लिखा है—"निर्गता प्राकृता सत्त्वादयो गुणा यस्मात्तन्निर्गुणम्"। कल्पित आनन्दभाष्यमें जन्माद्यधिकरणमें लिखा गया—निर्गता निकृष्टा सत्त्वादय प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणम्। जानकीभाष्यमें उसी स्थानपर लिखा है—निकृष्टगुणरहितत्व निर्गुणत्वम्। कल्पित आनन्दभाष्यमें लिखा गया जन्माद्यधिकरणमें—"निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्"।

(च) जानकीभाष्यमें प्रथमसूत्रमें बहुत दूर जाकर अद्रेश्यम् इत्यादि श्रौतपदोंकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

अद्रेश्यम् अदृश्यम्। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" "क्षीयन्ते चास्य०" (मु. २।८) "एष सर्वेषु भूतेषु, दृश्यते त्वग्रया बुद्धया" (क० २।३।१२) इति तस्य सूक्ष्मदर्शिभि सूक्ष्मया बुद्ध्या दृश्यत्वश्रवणात्।

कल्पित आनन्दभाष्यमें उपर्युक्त सभी श्रुतियाँ इसी क्रमसे लिखकर लिखा गया 'इत्यादौ स्वकण्ठरवेणैव तस्य दर्शनीयत्वप्रतिपादनात्। अतोद्रेश्यमित्यस्य स्थूलबुद्धया द्रष्टुमशक्यम्। लौकिकप्रत्यक्षाविषयमिति यावत्। सूक्ष्मबुद्धिविषयत्व तूदाहृतश्रुत्यनुरोधेन वर्तत एवेति भाव ।

(छ) 'अग्राह्यम्' की व्याख्या जानकीभाष्यमें यों है—**अपरिच्छिन्नत्वे-नातिसूक्ष्मत्वेन चाक्षाशयद्ग्राह्यमित्यथ.।** कल्पित आनन्दभाष्यमें यही आनुपूर्वी उपस्थित है।

(ज) 'अगोत्रम्' की व्याख्यामें जानकी भाष्यमें लिखा है—**स्वसमान द्वितीयब्रह्माजनकत्वात् पुत्रपौत्रादिपरम्परायाः अप्रवर्तकत्वाद्वागोत्र-मवंशमित्यर्थः।** कल्पित आनन्दभाष्यम भी यही आनुपूर्वी उपस्थित है।

(झ) 'अवर्णम्' की व्याख्यामें जानकीभाष्यमें लिखा है—ब्राह्मणादि-वर्णरहित प्राकृतनीलश्वेतादिवर्णरहित वा। कल्पित आनन्दभाष्यमें भी यही आनुपूर्वी उपस्थित है परन्तु द्वितीयसूत्रभाष्यमें।

चतु सूत्रोंसे आगेका जानकीभाष्य प्राय: ज्योंका-त्यों कुछ घटा-बढाकर कल्पित आनन्दभाष्यमें रखा गया है। विद्वानोंको चाहिये कि वह जानकीभाष्य और कल्पित आनन्दभाष्य दोनोंको एक साथ रखकर दोनों पढें। तब यह अवश्यही निश्चय होगा कि जानकीभाष्यको ही आनन्द भाष्य नाम दिया गया है। अन्तर इतना ही है कि जानकीभाष्य छोटे पतले अक्षरोंमें रायल ८ पेजी साइजमें ५९७ पृष्ठोंमें पूरा हुआ है और कृत्रिम आनन्दभाष्य डेमी ८ पेजी साइज व ४३२ पृष्ठोंमें स्थूल अक्षरोंमें पूरा किया गया है।

कितने ही बुद्धिभूधर महाशय कहते हैं कि इस आनन्दभाष्यके आधारपर श्रीरामप्रसादस्वामीजीने जानकीभाष्य लिखा है और अपने आचार्य रामानन्दके शब्दों, पदों, समस्तपदोंको ज्योंका त्यों रख लिया है। ऐसे महाविद्वानोंके लिये एक ही उत्तर पर्याप्त है—यदि रामानन्दस्वामी की कीर्ति बढानेके लिये ही जानकीभाष्य लिखा गया है और आनन्दभाष्यके पद-पदार्थ ले लिये गये हैं तो रामप्रसादजी महाराज इस आनन्दभाष्यका ५९७ पृष्ठोंमें कहीं भी तो नाम लेते। यदि आनन्दभाष्य जैसी कोई भी वस्तु अस्तित्वमें उस समय होती तो अवश्य ही वह परमादरके साथ उसका उल्लेख करते। ऐसा कहीं भी जानकीभाष्यमें किया नहीं गया है।

अतः यह कहना कि आनन्दभाष्य रामानन्दाचार्यका ग्रन्थ है, रामप्रसादजी भी रामानन्दीय थे अतः उन्होंने अपने आचार्यके शब्दों, पदोंको ले लिया और आनन्दभाष्यसे अधिक ग्रन्थ लिखकर आनन्दभाष्यका ही विस्तार किया, सर्वथा मूर्खतापूर्ण और अविवेकपूर्ण है।

वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदीकी एक टीका तत्त्वबोधिनी है। वह टीका अधिकांशमें मनोरमाका ही सार है। असत्यताका समादर करनेवाले लोग कहते हैं कि जैसे तत्त्वबोधिनीकारने मनोरमाके शब्द और भाव ले लिये और वह अनुचित और अप्रमाणिक नहीं माना गया वैसे ही जानकीभाष्यमें आनन्दभाष्य शब्द, पद, धातु आदि और अक्षर-अक्षर पङ्क्ति और वाक्य ले लिये गये, उनमें कुछ वृद्धि की गयी, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। इसपर मुझे दो बाते कहनी हैं—१. अनुचितका अर्थ पाप तो नहीं है। चोरी करनेवालोंको गर्हित कुछ तो हो ही नहीं जाता। अप्रतिष्ठा होती है, अनुकरणकर्ता और चोर वह माने जाते हैं। अतः असत्यताके पक्षपाती भी यह तो कहते ही हैं कि मनोरमाका ही रूपान्तर तत्त्वबोधिनी है। इतना कलङ्क तो सदाके लिये ही तत्त्वबोधिनीकारके विशाल मस्तकमें लगा हुआ है ही। २. तत्त्वबोधिनीकार टीकाकार हैं भाष्यकार नहीं हैं। टीकाकार और भाष्यकार की मर्यादामें बहुत बडा अन्तर होता है।

> सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
> स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

इस भाष्यलक्षणके अनुसार भाष्यकारको अपने पदोंका भी वर्णन विवरण करना पडता है। सूत्रार्थ लिखना पडता है। तत्त्वबोधिनीमें ऐसा नहीं हुआ है। वहाँ तो अप्रतिपत्त्यादिनिवारणप्रयोजनक तत्समानार्थक-पदान्तरसे सविस्तर तत् तत् पदों वाक्योंका अर्थ कथन हुआ है। टीका, व्याख्या, व्याख्यान ये तीनों शब्द समानार्थक हैं।

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपोथ समाधानं व्याख्यानं षड्विध मतम् ॥

यह व्याख्यानका लक्षण है। तत्त्वबोधिनी टीका है, व्याख्या है, व्याख्यान है। अतः उसके साथ आनन्दभाष्यकी तुलना नहीं करना चाहिये।

शुक्लयजुर्वेदपर सायणका भी भाष्य है और महीधरका भी। सायणभाष्य आज उपलब्ध नहीं है। महीधरभाष्य उपलब्ध है। महीधरने आरम्भमें ही उपकार स्मरण करते हुए कह दिया है कि—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं भाष्यं निरीक्ष्योवटमाधवीयम्।
यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थं परोपकाराय निजेक्षणाय ॥

"मैं उव्वट और माधव (सायण) के भाष्यको देखकर यजुर्वेदके मन्त्रोंका अर्थ लिखता हूँ।" यदि उस समय आनन्दभाष्यका नामोनिशान होता तो श्रीरामप्रसादजी महाराज भी ऐसा ही अवश्य करते क्योंकि कल्पित आनन्दभाष्यके पक्षपाती लोग इतना तो मानते ही हैं कि स्वामी रामप्रसादजी महाराज रामानन्दस्वामीको अपना आचार्य मानते थे। इसीलिये उन्होंने अपने मङ्गलाचरणके पाँचवें श्लोकमें स्वाचार्यम् लिखा है।

सच बात यह है कि अविवेकियोंने, क्रूर हृदयवालोंने, सत्य असत्यमें तनिक भी भेद न समझनेवालोंने श्री रामप्रसादजीमहाराजके श्रमको, उनके उपकारको, उनकी विद्वत्ताको माट्यामेट करनेका बीड़ा उठा लिया है। 'उलटा चोर कोतवालको डाटे' वाली बात हुई है। चोरी करे आनन्दभाष्य और दण्ड पावे श्रीजानकीभाष्य।

सबसे बढ़कर बात तो यह है कि अनेकों बार कहनेपर भी आज तक किसीने आनन्दभाष्यकी वह प्रति नहीं दिखायी जिसपरसे उञ्झाप्रेस अहमदाबादमें यह कल्पित आनन्दभाष्य छापा गया है।

इससे बढ़कर, इस आनन्दभाष्यके कल्पित होनेमें दूसरा प्रमाण नहीं मिलेगा।

इस प्रस्तुत आनन्दभाष्यकी कृत्रिमताके सम्बन्धमे मैंने तत्त्वदर्शीमें, रामानन्द पत्रिकामे, अपने अनेक पुस्तकोंमें, संस्कृतम् में बहुत कुछ लिखा है। बहुत वर्षों पूर्व कल्याणके सम्पादकने भी पं० वैष्णवदासजीके एक लेखपर टिप्पणि करके इसे अप्रामाणिक बताया है। यह कल्पित आनन्दभाष्य जब तक अस्तित्वमे रहेगा तबतक आचार्य श्री रामानन्द स्वामीजीकी प्रतिष्ठा भयमे ही रहेगी। जब तक संसार रहेगा तबतक इसकी प्रामाणिकतामे सन्देह बना ही रहेगा। अतः आग्रही बन्धुओंसे मेरा आग्रहपूर्वक कथन है कि वह पापसे बचने और अन्योंको बचानेके लिये इस कल्पित आनन्दभाष्यका आग्रह छोड दें और किन्हीं प्राचीन पुस्तकालयोंमें दूसरे सच्चे आनन्दभाष्यको ढूँढने लग जायँ।

प० रघुवरदासजीने लिखा है कि जानकीभाष्य प्रतिपद अशुद्ध है, उत्सूत्र है, अपार्थक है और बाल्लीलाविलसित है। पाठक देखेंगे ही कि यह कल्पित आनन्दभाष्य जानकीभाष्यसे अलग नहीं जा रहा है तो यह आनन्दभाष्य भी प्रतिपद अशुद्ध, उत्सूत्र, अपार्थक और बाल्लीलाविलसित क्यों नहीं?

प० रघुवरदासजीने यह भी लिखा है कि किसीने वेदान्तसूत्रोंका उल्लेख करके उसकी टीकाके बहानेसे उपनिषद् और गीताके वाक्योंको उद्धृत करके जानकीभाष्यके नामसे उसे प्रसिद्ध किया है। कोई विद्वान् देख सकेंगे कि जानकीभाष्यमें जो उपनिषद्वाक्य अथवा गीतावाक्य उद्धृत किये गये हैं वे ही वाक्य इस कल्पित आनन्दभाष्यमें भी उपस्थित हैं।

प० रघुवरदासजीकी विद्वत्ताकी रूपरेखाको पहचाननेके लिये उनके इस लेखको पढिये—

"पुनरयोध्यायामेव कस्मिंश्चिद्वैष्णवमन्दिरेप्येकं पुस्तकमस्तीति श्रुतमस्माभिः, परं न दृष्टम् । एतदुपक्रम्य मन्मित्रेण दृष्टं ग्रन्थेना-भ्यधायि यन्न तद्रामानन्दभाष्यमपि......"

"मैंने सुना कि अयोध्यामे ही किसी वैष्णवमन्दिरमें एक पुस्तक (रामानन्दभाष्यपुस्तक) है, परन्तु मैंने नहीं देखा। इसके आधारपर मेरे मित्रने उस ग्रन्थको देखा और कहा कि वह रामानन्दभाष्य नहीं है किन्तु (जानकीभाष्य है) ।"

यहाँ विचार करना है कि प० रघुवरदासजी अयोध्यामें ही रहते थे। सब स्थानोंसे परिचित थे। वह पुस्तक जिस स्थानमे रहा होगा और जिस स्थानमे उनके मित्रने उसे देखा होगा, उस स्थानका नाम न तो वह स्वयं ले रहे हैं और न उनके मित्र ही ले रहे हैं। इसका कारण क्या है ? इतना ही नहीं, वह अपने उस मित्रका नाम भी नहीं ले रहे हैं। इसमें भी तो कुछ कारण होना चाहिये। उन कारणोंको मैं बताता हूँ। वह जानकीभाष्य—पुस्तक किसी अप्रसिद्ध स्थानमें नहीं थी। जानकी घाट जैसे परमप्रसिद्ध स्थानमें थी। उस स्थानका यदि नाम लेकर वह ऐसा अनर्गल लेख लिखते तो वह जेल की हवा खाते। एवं यदि वह उस भाष्यके कर्ता स्वामी रामप्रसादजी महाराजका नाम लेकर उनको गाली देते तो भी वह जेल मे ही पहुँचाये जाते। एवं यदि अपने मित्र महाशयका भी वह नाम लेते तो उनकी विपत्तिका पार न होता। अतः सब गोल-गोल लिखकर पापका पहाड़ तैयार किया और उसे अपने ऊपर उठा लिया।

एक बात और कह दूँ। जिस हस्तलिखित पुस्तकके आधारपर यह कल्पित आनन्दभाष्य तैयार किया गया है उसमें प्रत्येक पादके अन्तमें लिखा हुआ है—

"इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुपतस्वाभिज्ञवैष्णव-प्रवर श्रीसम्प्रदायाभिवर्धक श्रीमद्रामानन्दीयाचार्य्यश्रीरामप्रसाद-

स्वामिकृते ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपे श्रीजानकीकृपाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथम पाद" इत्यादि ।"

यहाँ पर ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपे श्रीजानकीकृपाभाष्ये ये दो पद विचारणीय हैं। रामप्रसादस्वामीजीके भाष्यका नाम ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप है या श्रीजानकीकृपाभाष्य है ? यह शङ्का किन्हीं लोगोंकी है। उत्तर यह है कि रामप्रसादस्वामीजीके रचे हुए ब्रह्मसूत्रके भाष्यका नाम श्रीजानकीकृपाभाष्य है, ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप नहीं। यह तो श्रीजानकीकृपाभाष्य का विशेषण है। अर्थात् अबतक ब्रह्मसूत्रपर जितने भाष्य हुए हैं उनका दीपक समान यह श्रीजानकीभाष्य है। सर्वभाष्यश्रेष्ठ कहनेमें तात्पर्य है।

एक और विचारणीय प्रश्न है। मैंने आनन्दभाष्यका चतुर्थाध्याय अपने हिन्दी भाषानुवादके सहित संवत् १९८९ वि० में मुद्रित कराया था। इतना ही नहीं उसपर एक देवानन्दस्वामीके नामसे प्रमिताक्षरावृत्ति भी प्रकाशित की थी। लोगोंका प्रश्न यह है कि तुमनेभी उस ग्रन्थको आनन्दभाष्य ही कहा है, समर्थित किया है, आज उससे विपरीत क्यों बोलते हो ? मेरा उत्तर यह है कि सत्यस्य नाव: सुकृतमपीपरन्—सत्यकी नाव सत्कर्मा पुरुषको पार ले जाती है। मनुष्य जो कुछ जब करता है उसके लिये वह काल, वह परिस्थिति उसमें कारण होती है। उस समय तक मुद्रित जानकीभाष्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। मैं जानता भी नहीं था कि वह भाष्य मुद्रित हो चुका है। मेरा चतुर्थाध्याय-आनन्द भाष्य संवत् १९८९ में प्रकाशित हुआ था और श्रीजानकीभाष्य भी संवत् १९८९ वि० में प्रकाशित हुआ था।

मैंने उत्कृष्टमुद्रणालय अहमदाबादमें मुद्रित आनन्दभाष्यके आधारपर ही उसका प्रकाशन किया था। उस समय मैंने उस ग्रन्थमें मुद्रित पण्डित श्री रघुवरदासजीकी भूमिका नहीं पढी थी। पढनेके लिये उसमें कोई नयी सामग्री नहीं थी। अत मैंने उसकी उपेक्षा की थी। मुझे मुद्रित आनन्दभाष्य संवत्······में प्राप्त हुआ और संवत्······में मैंने

अविलम्ब तत्त्वदर्शीने उसका विरोध किया। विरोधके कारण केवल दो थे— एक तो यह कि जब जानकीभाष्य छप हो चुका है तो उसके कर्ताका नाम विलुप्त करना अमाननीय कृत्य बन जायगा। किसीकी कीर्तिका सरक्षण करना ही सद्वंशजोंका परमधर्म हुआ करता है। दूसरा कारण यह था कि जानकीभाष्य ही तो आनन्दभाष्य है। दोनोंकी भाषा तथा विचार, प्रमाणावतरण सब समान ही हैं। तब यही कहा जायगा कि यह आनन्द-भाष्य जानकीभाष्यकी कतरन है। मेरी दृष्टिसे रामानन्दस्वामीके नामपर यह कलङ्क लगता है। जब तक आनन्दभाष्यको जन्म नहीं दिया गया था, उसके बिना भी रामानन्दसम्प्रदायके स्थापक स्वामी रामानन्दकी विद्वज्जगत्में पूर्ण प्रतिष्ठा थी। आनन्दभाष्य प्रतिष्ठावृद्धिके लिये ही स्वामी रामानन्दके नामसे तयार किया गया था। परन्तु यदि वह प्रतिष्ठाविघातक सिद्ध हो तो आचार्यकी प्रतिष्ठाकी रक्षाका आदर्श बनाकर उसका विलोप करना चाहिये। मैंने इन्हीं दो कारणोंसे उस आनन्दभाष्यका विरोध किया और अब तक करता आ रहा हूं। लेकिन जब मैंने देखा कि आनन्द भाष्यको रामानन्दस्वामीकी कृति बताकर उसपर टीकाजी और मङ्गलदास जी की वृत्ति, टीका-टिप्पणीकी निराधार बातें फैलायी जा रही हैं और रामप्रसादजीका नाम और श्रम विलुप्त किया जा रहा है तब सम्प्रदायको असत्य और अन्यायके गड्ढेमें गिरनेसे बचा लेना मेरा कर्तव्य मुझे प्रतीत हुआ। ऐसा ग्रन्थ आचार्यके नामपर क्यों होना चाहिये जिसके विषयमें अत्यन्त सन्देहकी दृष्टि विद्वानोंकी बनी रहे? अतः मैंने जिसे अपने हिन्दी भाषा-नुवादसहित मुद्रित कराया था वह चतुःसूत्र्यध्याय भी आनन्दभाष्य नहीं है, वह भी श्रीजानकीभाष्यका ही सक्षिप्त स्वरूप है। उस ग्रन्थमें जो वेदा-नन्दस्वामीजीके नामसे प्रमिताक्षरावृत्ति प्रकाशित है, वह मेरी बनायी हुई वृत्ति है। मैं सम्प्रदायको आगे बढ़ाना चाहता था, आज भी चाहता हूं। उस समय मुझे अप्रामाणिक साधनामें विश्वास था अतः मैंने अप्रामाणिक मार्गका ग्रहण कर लिया था। अब मुझे यह अनुभव हुआ कि अप्रामा

णिक मार्गसे जाने पर भी यह सम्प्रदाय आगे नहा बढा। उस कल्पित आनन्दभाष्यका भी न कोई अध्यापक मिला और न कोई अध्याप्य। प्रमिताक्षरावृत्तिकी भी वही दशा हुई है। मै जानता हू कि दूर भविष्यमे तत्त्वान्वेषी विद्वान् यही सिद्ध करेंगे कि यह आनन्दभाष्य कल्पित है और यह प्रमिताक्षरावृत्ति भी कल्पित है। बहुत देरमे इन ग्रन्थों की छीछालेदर हो उससे अच्छा है कि उसके सत्यस्वरूपको स्वय प्रकट करके सब भूत और भावी कलङ्कोंको मिटा दिया जाय।

सत्यका स्वीकार करलेने पर किसी सम्प्रदायकी या किसी व्यक्तिकी प्रतिष्ठा नहीं जाती है प्रत्युत प्रतिष्ठारक्षण होता है। असत्य वस्तुको पकड रखने पर जन्मभर और प्रलय तक नये नये असत्यों को जन्म देना पडता है तभी स्वीकृत असत्य का अल्पकालके लिये रक्षण होता है। सदा असत्य ही बोलना पडे, सदा पाखण्ड ही करना पडे, सदा आत्मवञ्चना ही करनी पडे, यह किसी भी सम्प्रदायके लिये प्राणघातक कार्य है। अत सत्य वद, सत्यान्नास्ति परो धर्म, सत्ये नास्ति भय कचित्, सत्यमेव जयते नानृतम् इत्यादि वाक्यों और उपदेशोंको जीवित रखनेमे ही रामानन्द सम्प्रदायका कल्याण है। इस अनुपम तत्त्वको हमारे बन्धु सोचें, समझें, मानें, इसीमें उनका और सम्प्रदायका कल्याण है।

अब एक अन्य आवश्यक बात कहकर इस प्रस्तावनाको समाप्त करूगा। श्रीजानकीभाष्यको सक्षिप्त करके आनन्दभाष्य बनानेवाले पण्डित श्री रघुवरदासजी ही थे। उन्होंने जानकीभाष्यकी निरर्थक अत्यन्त भर्त्सना की है। उन्हें जानकीभाष्यकार की वन्दना करनी चाहिये थी, शत शतबार साष्टाङ्ग प्रणिपात करना चाहिये था, उन्होंने ऐसा न करके उनके लिये अनुचित शब्दप्रयोग किया—'मन्यामहे श्रेयोनिधान मिदमेवानन्दभाष्य मूलतो विपर्यस्य ख्यातितृष्ण कश्चिद्रचयाचकार दुर्व चरवीररचणामिमा ग्रन्थकन्थाम्। अर्थात्—मैं मानता हू कि मङ्गलमय

इसी आनन्दभाष्यको मूलसे उलट पलट कर इधर उधर करके किसी-ने इस ग्रन्थकन्था को तैयार किया है जिसमें टुनचवी भरे पड़े हैं । पण्डित श्री रघुवरदासजीने यह लिखकर बड़ा भारी पाप किया है। जिस ग्रन्थ के लिये यह लिखते हैं कि "मने देखा नहीं है" उस ग्रन्थके विषयमें अनवलोकित ग्रन्थके विषय में ऐसा अनर्गल सम्मान देना बड़ा भारी अन्याय्य कार्य है। मुझे अच्छा यही लगा कि मैं उनके नामको जीवित रहने दूं और इस कल्पित आनन्दभाष्यको यमराजके हवाले कर दूं। अतः सम्पादकता का नाम उनका ही रहने दिया है। इससे उनका मोक्ष हो जायगा। उनके असभ्य पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा।

पण्डित श्री रघुवरदासजी ने, जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है चतु सूत्री के जानकीभाष्यमें तुम्बाफेर बहुत किया है। मैंने उसे सुधार कर श्री जानकीभाष्यके क्रमसे ही यहाँ रखा है। एवम् कामाच्च नानुमानापेक्षा १।१।१९। इस सूत्र भाष्यकोभी उन्होंने बिगाड़ा है, उसे भी मैंने जानकीभाष्य के अनुगुण ही रखा है।

मूल तो यह कि जो सिरपर चढ़कर बोले। पण्डित श्रीरघुवरदासजी-ने कल्पित आनन्दभाष्यमें कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १ । १ । १९ ॥ इस सूत्र के भाष्य में—

"ये त्वनुमीयत इत्यनुमानमनुमानगम्यं प्रधानं तस्य नापेक्षा परमात्मन आनन्दमयस्य जगत्सर्गापेक्षा नास्तीत्यर्थः । कुतः? कामात् । सोऽकामयत बहुस्यामित्यारभ्येदं सर्वमसृजतेत्यादौ काममात्रेण जगत्सृष्टिश्रवणादित्यर्थः" इतना पाठ उद्धृत करके आगे खण्डन किया है—'तन्नोपपद्यते'। मैं विश्वभरके विद्वानोंको आमन्त्रण देता हूं इस विचारके लिये कि यह उद्धृत पाठ किस ग्रन्थका है बताया जाय। श्रीभाष्य में यह पाठ है नहीं। शाङ्करभाष्य में भी यह पाठ नहीं है। अन्य किसी भी सम्प्रदायाचार्यके भाष्य में यह पाठ नहीं है।

तब यह पाठ आया कहाँ से ? इसका उत्तर तो मै ही दे सकता हूँ। उसे आप सब विचारक विद्वान् सुने। श्रीजानकीभाष्य में इसी सूत्र के आरम्भ में उपर्युक्त उद्धृत पाठ उपलब्ध है। देखिये—

अनुमीयते इत्यनुमानमनुमानगम्यं प्रधानं तस्य नापेक्षा परमात्मन आनन्दमयस्य जगत्सर्गेऽपेक्षा नास्तीत्यर्थः, कुतः ? कामात्। 'सोऽकामयते" त्यारभ्य "इदं सर्वमसृजते" ति काममात्रेण जगत्सृष्टिश्रवणात्।'

इस उद्धरणमे पण्डित श्री रघुवरदासजीने केवल **सोऽकामयते' त्यारभ्य** के स्थानमें **सोऽकामयत बहु स्यामित्यारभ्य** ऐसा लिखा है। अर्थात् श्रुति को थोड़ा सा पूर्ण किया है। एवम् **'इदं सर्वमसृजतेति'** के स्थानमें **'इदं सर्वमसृजतेत्यादौ"** लिखा है। यहाँ केवल आदौ पद बढ़ा दिया है। अब नये रूपसे विद्वद्वर्ग विचार करें कि श्री रघुवरदासजी कहते हैं कि मैंने जानकीभाष्यको देखा नहीं है, यदि उन्होंने उसे देखा नहीं था तो उसके आनुपूर्वी वाक्योंको लेकर ये तु कहकर खण्डन कैसे किया ? अतः पाठक महानुभाव समझ लें कि किस दुर्भाव, छल, कपट, द्वेष, वञ्चनाके साथ जानकीभाष्यको बिगाड़ा गया है और कृत्रिम आनन्दभाष्यको उपस्थित किया गया है।

श्री रघुवरदासजी कहते हैं कि इसी आनन्दभाष्यको उलट पुलट करके जानकीभाष्य बनाया गया है। मैं कहता हूँ कि जगत्में आनन्दभाष्यका कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा है और न आज है। यदि यही आनन्द-भाष्य है तो मै कहता हूँ कि यही संक्षिप्त श्रीजानकीभाष्य है। इसको संक्षिप्त करनेका अब तक स्वामी रघुवरदासजीके नामपर कलङ्क था। आज मैं उसे धो देता हूँ और उन्हें इस विद्वत्तापूर्ण कार्य के लिये इस श्रेयका भागी बनाता हूँ। वह मेरे मित्र थे। कभी अनन्य मित्र थे। मै अपने मित्रके कलङ्कको सुकृतके रूपमे परिणत करता हूँ।

यह बात तो अब किसीसे भी अविदित नहीं है कि श्रीरामानुज सम्प्रदायसे श्रीरामानन्दसम्प्रदायको पृथक् करनेका यशोभार केवल मैं हू। मेरे परमविरोधी श्रीरामटहलदासजीने भी मेरा लोहा मान लिया है। सहायक मेरे अनेक थे, इसका अस्वीकार नहीं कर रहा हू। दोनों सम्प्रदायोंको पृथक् करनेमें जो भावना मुझमें काम कर रही थी उसका साक्षी केवल मैं ही बन सकता हू, अन्य नहीं। मैं चाहता था कि रामानुज सम्प्रदायके साथ श्रीरामानन्दसम्प्रदायका कहीं भी ऐसा संघर्ष न हो जाय जो ऐक्यका सम्पादक हो। इस दिशामें मेरा जो प्रयत्न रहा है वह मेरे अनेक ग्रन्थोंसे जाना जा सकता है।

आनन्दभाष्यवादियोंका कहना यह है कि जब सम्प्रदाय पृथक् है तो प्रस्थानत्रयीका भाष्य भी पृथक् होना चाहिये। उनका कथन यह भी है कि वह भाष्य आचार्य रामानन्दकृत ही होने चाहिये। मैं कहता आया हू कि आचार्यको प्रस्थानत्रयीपर भाष्य करना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता। हम देखते हैं कि श्रीरामानुजस्वामीने भी प्रस्थानत्रयीपर भाष्य नहीं किया है। श्रीवल्लभाचार्यजीने भी ऐसा नहीं किया है। श्रीनिम्बार्काचार्यने भी ऐसा नहीं किया है। तब यह कहा जा सकता है कि इन उपर्युक्त आचार्योंने प्रस्थानत्रयीपर नहीं, तो एकाध प्रस्थानपर तो भाष्य किया ही है। श्रीरामानन्दभाष्य भी किसी प्रस्थानपर होना ही चाहिये। मैं यह कहता आया हू कि आचार्य रामानन्दका समय भाष्य बनानेके अनुकूल नहीं था। इसकी उन्हें आवश्यकता भी नहीं हुई। अतः उन्होंने भाष्य नहीं बनाया। यदि उन्होंने प्रस्थानत्रयीपर भाष्य नहीं लिखा तो सम्प्रदायका बिगड़ क्या जाता है? यह कहा जा सकता है कि प्रमाण प्रमेयादिकी व्यवस्थाके लिये आचार्यचरणोंका अनुशासन अवश्य अपेक्षित है। परन्तु इसपर यह भी तो कहा जा सकता है कि आचार्यके आचार विचारकी पर्यालोचनासे उनके अभिमत प्रमाण प्रमेयादिकी सुव्यवस्था अब भी की जा सकती है। यह कार्य अनेक

विद्वान् भी कर सकते हैं। पुराणमित्येव न साधु सर्वम् का ध्यान क्यों नहीं रखा जाता। रामानन्दके अभिमत प्रमाण प्रमेयादिको अत्यधिक स्पष्ट करनेके लिये आज अत्यधिक उत्तम काल उपस्थित है। असत्यका आश्रय सर्वथा त्याज्य होना ही चाहिये। कल्पितवस्तु अवस्थान और उत्थानका हेतु नहीं बन सकती। अस्तु।

जब सम्प्रदाय पृथक् है और उसके भाष्यादि भी पृथक् ही हैं, ऐसी धारणा बना ली गयी है तो उसमें इस बातका भी सन्निवेश करना चाहिये कि *जिसके साथ पार्थक्य हुआ है उसीके सम्प्रदायके या उसी सम्प्रदायके* आचार्य के शब्द, पद, वाक्यादि रामानन्दभाष्यमें कहीं भी नहीं आने चाहिये। यदि कल्पित आनन्दभाष्यमें श्रीभाष्यके शब्द, पद, वाक्यादिकी आनुपूर्वी आ जाय अथवा किञ्चिन्मात्र परिवर्तित करके वही आनुपूर्वी रखी जाय तो इससे बढ़कर निर्लज्जता, मूर्खता और अदूरदर्शिता हो ही नहीं सकती। *तब तो यही सबसे कहलाना और सुनना आनन्दभाष्यवादियोंको* इष्ट होगा कि रामानन्द चोर थे और श्रीभाष्यसे भी चोरी करके अपना ग्रन्थकन्था उन्होंने तयार कर लिया है। अभी तक तो मैं यही सिद्ध करता रहा हूं कि वर्तमान आनन्दभाष्य श्रीजानकीभाष्यकी कतर ब्योंत है। श्रीजानकीभाष्यको ही बिगाड़कर आनन्दभाष्य बनाया गया है। यही सत्य भी है। परन्तु इससे अधिक अन्याय और अविवेक तो तब सिद्ध होता है जब हम आनन्दभाष्यमे श्रीभाष्यकी भी पङ्क्तियां देखते हैं। उदाहरणके लिये नीचेके भाष्यों पर दृष्टिपात करें—

आनन्दभाष्य

"ननु अथैन गार्हपत्योनुशशास" इत्यादिभिर्मध्येऽग्निविद्योपदेशात् कथमक्षिस्थानः परमात्मेति चेन्न। "तस्मै होचु प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मे" ति "य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इत्युपक्रमोपसंहारयोः श्रूयमाणेन ब्रह्मशब्देन मध्य उपदिष्टाया अग्निविद्याया ब्रह्मवि

द्याङ्गत्वावगमात् । एवं चाङ्गत्वेवगते सति फलानुकीर्तनमर्थवाद इति निश्चीयते । 'अपहते पापकृत्या लोकीभवति सर्वमायुरेति" इत्यादिश्रुत्यधिगतानां फलानामपि मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात् । न ह्यत्र मोक्षविरोधि किञ्चिदपि फलं श्रूयते । तत्र पापशब्दस्य ब्रह्मविद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकपापपरत्व लोकशब्दस्य च ब्रह्मलोकप्राप्ति मार्गभूताग्निलोकपरत्वमवगन्तव्यम् । अत एव ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य गतवति गुरावकर्चिर्माभूदिति स्वपरिचर्यया परं सन्तोषमुपगताश्चा-ग्नयान्तेवासिनमुपकोशलमुपचिकीर्षवो ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदङ्गभूताम ग्निविद्यां चोपदिश्य "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इति श्रुतेराचार्य एवास्मै संयद्वामत्वादिगुणकं ब्रह्म तदुपासनस्थान मचिरादिका गतिं चोपदिशत्विति मनस्याकलय्य साधुतमत्वप्राप्तये "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता 'इत्यूचुरिति" ॥ १ । २ । १५ ॥

अब आप इसी सूत्रका श्रीभाष्य देखें—

श्रीभाष्य

ननु अग्निविद्याव्यवधानात् 'कं ब्रह्म' इति प्रकृतं ब्रह्म नेह संनिधत्ते । तथाहि अग्नय "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति ब्रह्मविद्यामुपदिश्य "अथ हैनं गार्हपत्योनुशशास" इत्यारभ्याग्नी नामुपासनमुपदिदिशु । न चाग्निविद्या ब्रह्मविद्याङ्गमिति शक्यं वक्तुम् । ब्रह्मविद्याफलानन्तर्गतदीर्घायुःसर्वायुःप्राप्तिसन्तत्यविच्छे दादिफलश्रवणात् । उच्यते । 'प्राणो ब्रह्म' "एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इत्युभयत्र ब्रह्मसंशब्दनात् 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इत्यभिवचनाच्च गत्युपदेशात्पूर्वं ब्रह्मविद्याया असमाप्तेस्तन्मध्यगताग्निविद्या ब्रह्मवि-द्याङ्गमिति निश्चीयते । "अथ हैनं गार्हपत्योनुशशास" इति ब्रह्मविद्या-धिकृतस्यैवाग्निविद्योपदेशाच्च । किं च व्याधिभिः प्रतिपूर्णोस्मि" इति ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तनानाविधकामोपहतिपूर्वकगर्भजन्मजरामरणादि

भवभयोपतप्तायोपकोसलाय 'एषा सोम्य तेस्मद्विद्यात्मविद्या च 'इति समुच्चित्योपदेशान्मोक्षैकफलात्मविद्याङ्गत्वमग्निविद्याया प्रतीयते। एव चाङ्गत्वेवगत सति फलानुकीर्तनमर्थवाद इति गम्यते। न चात्र मोक्षविरोधिफल किञ्चिच्छ्रूयते। अपहते पापकृत्या लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति नास्यावरपुरुषा क्षीयन्ते उप वयन्त भुञ्जामोस्मिंश्चलोकेमुष्मिंश्च" इत्यमीषा फलाना मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात्। अपहते पापकृत्याम्—ब्रह्म प्राप्तिविरोधि पाप कर्मापहन्ति। लोकी भवति तद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोक प्राप्नोति। सर्वमायुरेति ब्रह्मोपासनसमाप्तयावदा युरपेक्षितम् तत्सर्वमेति। ज्योग् जीवति व्याध्यादिभिरनुपहतो यावद्ब्रह्मप्राप्ति जीवति। नास्यावरपुरुषा क्षीयन्ते–अस्य शिष्यप्रशि ष्यादय पुत्रपौत्रादयोपि ब्रह्मविद एव भवन्ति। उप वयन्त भुञ्जामोस्मिश्च लोकेमुष्मिंश्च–वयमग्नयस्तमेनमुपभुञ्जाम —यावद्ब्रह्म प्राप्ति विघ्नेभ्य परिपाल्याम इति। अतोग्निविद्याया ब्रह्मविद्याङ्ग त्वेन तत्सन्निधानाविरोधात् सुखविशिष्ट प्रकृतमेव ब्रह्मोपासन स्थानविधानार्थं गुणविधानार्थं चोच्यते। ननु "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इतिगतिमात्रपरिशेषणादाचार्येण गतिरेवोपदेश्येति गम्यते, तत्कथ स्थानगुणविध्यर्थतोच्यते। तदभिधीयते 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्यस्यायमभिप्राय—ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य प्रोषितु गुरौ तदलाभादनाश्वासमुपकोसलमुज्जीवयितु स्वपरिचरणप्रीता गार्हपत्यादयो गुरोरप्रयस्तस्मै ब्रह्मस्वरूपमात्र तदङ्गभूता चाग्निवि द्यामुपदिश्य "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठ प्रापत्" इति श्रुत्यर्थमालोच्य साधुतमत्वप्राप्त्यर्थमाचाय एवाम्य सपद्वामत्वादि गुणक ब्रह्म तदुपासनस्थानमर्चिरादिका च गतिमुपदिशत्विति मत्वा "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्यवोचन्। गतिग्रहणमुपदेश्यविद्या शेषप्रदर्शनार्थम्। अत एवाचार्योपि "अह तु ते तद्वक्ष्यामि यथा

पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवविदि पाप कर्म न श्लिष्यते" इत्युपक्रम्य सयद्वामत्वादिकल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्माक्षिस्थानोपास्यमर्चिरादिका च गतिमुपदिदेश। अत "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधानादयमस्याधार. परमात्मा ॥ १ । २ । १५ ॥

(२)

आनन्दभाष्य

प्रतिबिम्बात्मनस्तावत्पुरुषान्तरसंनिधानाधीनत्वान्न नियमेन स्थितिसम्भवः। देवतात्मनोपि "रश्मिभिरेषाऽस्मिन् प्रतिष्ठित" इति रश्मिद्वारेणावस्थितिवचनाद्देशान्तरावास्थतस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षुष्यवस्थानत्वम्। तथैव जीवात्मनोपि सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिमत्त्वात्केवले चक्षुषि नावस्थानम्। तदन्यत्नमेमृतत्वाभयत्वसयद्वामत्वादिनिरुपाधिकगुणानामसम्भवाच्च। अक्ष्याधारपुरुषत्वेन परमात्मैवोपास्य इति सिद्धम् ॥ १ । २ । १८॥

(३)

श्रीभाष्य

प्रतिबिम्बादीनामक्षिणिनियमेनावस्थानादमृतत्वादीनां च निरुपाधिकानां तेष्वसम्भवान्न परमात्मन इतर छायादि अक्षिपुरुषो भवितुमर्हति। प्रतिबिम्बस्य तावत् पुरुषान्तरसंन्निधानायत्तत्वान्न नियमेनावस्थानसम्भव। जीवस्यापि सर्वेन्द्रिय व्यापारानुगुणत्वाय सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिरिति चक्षुषि नावस्थानम्। देवतायाश्च "रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित" इति रश्मिद्वारेणावस्थानवचनाद्देशान्तरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षुष्यवस्थानम्। सर्वेषामेतेषां निरुपाधिकामृतत्वादयो न सम्भवन्त्येव। तस्मादक्षिपुरुष परमात्मा ॥ १ । २ । १८ ॥

आनन्दभाष्य

। स एव चैक सन् सर्वलोकमर्वभूतसर्वदेवादीन्नियमयतीति । तथा 'य इम च लोक पर च लोक सर्वाणि च भूतानि योन्तरो यमयति' इत्युपक्रम्य "तमन्तर्यामिण ब्रूही"ति उद्दालकेन पृष्ट आचार्यस्तस्योत्तरमाह—"य पृथिव्या तिष्ठन् ' इत्यादि। तस्मादेतत्सर्वभूतसर्वदेवसर्ववेदादियज्ञान्ताना नियमन मवशरीरतया सर्वात्मत्व च सर्वशक्ते पुरुषात्तमादन्यस्य कस्यचिदपि न सम्भवतीति तदन्ये हि ॥ १ । २ । १९ ॥

श्रीभाष्य

। यदेक एव सन् सर्वलोकमर्वभूतसर्वदेवादीन्नियमयतीति । तथा उद्दालकप्रश्न "य इम च लोक पर च लोक सर्वाणि च भूतानि योन्तरो यमयति" इत्युपक्रम्य 'तमन्तर्यामिण ब्रूहि" इति तस्य चोत्तरम् ' य पृथिव्या तिष्ठन्" इत्यारभ्योक्तम् । तदेतत्सर्वाँल्लोकान् सर्वाणि च भूतानि सर्वान् देवान् सर्वान्वेदान् सर्वांश्च यज्ञानन्त प्रविश्य सर्वप्रकारनियमनम्, सर्वशरीरतया सर्वस्यात्मत्व च सर्वज्ञात्सत्यसङ्कल्पात् पुरुषोत्तमादन्यस्य न सम्भवति ।" १ । २ । १९ ॥

इसी प्रकार १ । १ । २१ ॥ १ । १ । २४ ॥ १ । १ । २८ ॥ १ । २ । १२ ॥ १ । २ । १३ ॥ १ । २ । १५ ॥ १ । २ । १८ ॥ १ । २ । १९ ॥ १ । २ । २७ ॥ १ । २ । ३२ ॥ १ । ३ । १ ॥ १ । ३ । २ ॥ १ । ३ । ७ ॥ १ । ३ । १० ॥ १ । ३ । १३ ॥ १ । ३ । १४ ॥ १ । ३ । १९ ॥ १ । ३ । ३३ (वेदान्तसार) ॥ १ । ४ । ३० ॥ १ । ४ । १॥ इत्यादि अनेक सूत्र हैं जिनमें श्रीभाष्यकी या तो आनुपूर्वी इस कृत्रिम आनन्दभाष्यमें उपस्थित है और या तो उसकी स्पष्ट छाया है । यह भी स्मरण रहे कि श्रीजानकीकृपाभाष्यमें यह दोष नहीं है । कहीं कहीं उसमें

भी श्रीभाष्य का अनुसरण भी है और अनुकरण भी है परन्तु जो स्थलऊपर निर्दिष्ट हैं उनमें श्रीजानकीभाष्य विरुद्ध है। फलतः कृत्रिम आनन्दभाष्यमें ही यह कुकृत्य हुआ है। किसप्रकार स्वामी रघुवरदासजीको ऐसा करना क्यों पड़ा, इसे भी जान लेना चाहिये। श्रीजानकीभाष्य बहुत बृहद् ग्रन्थ है। जब उक्त महंत महानुभाव वह ग्रन्थ बनाते थे तब इधर-उधर से लेकर सन्दर्भोंका समन्वय कर के जाते थे और जहाँ से जो मिल गया, लिखकर ग्रन्थ पूरा कर दिया करते थे। उनकी बातों से यही प्रतीत होता है।

जो लोग यह कहते हैं कि स्वामी रामानन्द जी गुरु थे और स्वामी रामप्रपन्नाचार्यजी शिष्य थे। गुरुके ग्रन्थकी बातें शिष्यने की तो अनुचित नहीं हुआ उनसे पूछना चाहिये कि जब गुरुशिष्यकी ही बात मध्यस्थ रहती है तो शिष्यने गुरुके सूत्रपाठकी अवहेलना क्यों की? कल्पित आनन्दभाष्यमें सूत्रोंका जो पाठ है उससे विपरीत पाठ श्रीजानकी कृपाभाष्यमें उपलब्ध है। दृष्टान्तके लिये १।१।१०॥ १।१।१३॥ १।३।१॥ १।३।४॥ १।३।१०॥ १।१।३४॥ १।३।३०॥ १।१।११॥ १।१।१८॥ २।१।६॥१।३।६॥ २।३।१३॥ ३।३।७॥ इत्यादि सूत्र देखें। इस व्यतिक्रमसे यही सिद्ध होता है कि आनन्दभाष्य जैसी कोई भी चीज जानकीकृपाभाष्यकारके समय में नहीं थी अन्यथा परमगुरुभक्त जानकी कृपाभाष्यकार कभी भी अपने सम्प्रदायाचार्यके निश्चितपाठके विरुद्ध न जाते। यदि विरुद्ध जाना ही पड़ता तो वे अवश्य निर्देश करते कि परमाचार्य निर्धारित सूत्रपाठसे विरुद्ध जानेमें अमुक कारण है। भाष्यकारने कहींपर भी आनन्दभाष्यका नाम नहीं लिया है। आनन्दभाष्यकारके रूपमें कहीं पर आचार्यका स्मरण भी नहीं किया है। अतः आनन्दभाष्यकी कल्पना उसपर टाली जी और मङ्गलाचरणके सुरतरु और सुरतरुमञ्जरी आदि ग्रन्थनामोंकी कल्पना, सिद्धान्तप्रमाणादि

ग्रन्थोंकी कल्पना निरर्थक और इस सम्प्रदायकी प्रतिष्ठाको धूलमें मिलानेवाली है। उपर्युक्त ग्रन्थोंमे से एक भी मूल-वास्तविक ग्रन्थ पृथिवीपर नहीं है। अवश्य ही वे गगनकुसुम हैं।

इस आनन्दभाष्यके कल्पित होनेमें एक दूसरा प्रबल प्रमाण अब उपलब्ध हुआ है। समय बीतता जायगा और असत्यतानिवारणके लिये स्वयं ही कितने ही प्रमाण सत्यप्रेमियोंकी आँखोंके सामने आते जायगे। बजरङ्गदासजीका नाम ऊपर कई जगह लिखा गया है। उन्हे शास्त्रार्थकी खुजली बहुत होती है। यद्यपि वह किसी भी शास्त्रके पण्डित नहीं हैं।

विरक्त साप्ताहिकपत्रके १८ फरवरी १९-८ ई० के अङ्कमें उनके एक भाषणका सार छपा है। उसमें बिना शास्त्रार्थके ही मेरे पराजयकी बात भी की गयी है। अन्य भी कितनी ही बातें—एक गपेडीकी बातें जैसी उसमें कही गयी हैं। उसी सिलसिलेमें उन्होंने एक बडे कामकी बात कह दी है। कहा है कि—विक्रम संवत् १९७४-७५ मे सूरतके पास छह कोसकी दूरी पर खरवासा ग्राममें उन्हें हस्तलिखित आनन्दभाष्य मिला। तब वह फूलकर कुप्पा हो गये। उस ग्रन्थको उन्होंने वि० संवत् १९७७ मे श्रीजनकनन्दिनीशरणजीको दे दिया। उसी ग्रन्थको वि० संवत् १९८४ मे पण्डित श्रीरघुवरदासजीने उत्कृष्ट मुद्रणालय अहमदाबादमे छपाकर प्रकाशित किया।

अब इस कथनका विश्लेषण कीजिये। विश्लेषण करनेसे पूर्व पाठक इतना निश्चित समझ लें कि श्रीबजरङ्गदासजीका संस्कृतभाषाका पल्लवग्राहिपाण्डित्यसे अधिक पाण्डित्य नहीं है। उनके पास इतना संस्कृतज्ञान नहीं है कि जिससे वह पण्डित श्रीरघुवरदासजीकी तत्त्वप्रकाशिका भूमिकाको समझ सकें।

अब आगे चलिये। पण्डित श्रीरघुवरदासजी कहते हैं कि उस कल्पित आनन्दभाष्यकी एक प्रति उन्हें उनके गुरुजीके महापुस्तकभण्डारमें से

कश्मीरसे मिली थी। वह यह भी लिखते हैं कि उन्हें उस ग्रन्थकी एक प्रति किसी नेपाली श्रीरामानन्दीय वैष्णव छात्रसे प्राप्त हुई थी। इन्हीं दो प्रतियोंका नाम मुद्रापक और संशोधक महाशय ले रहे हैं। तीसरी किसी उस प्रतिका नाम वह नहीं ले रहे हैं जिसकी सहायतासे नकली आनन्द भाष्य छपाया गया।

यदि बजरङ्गदासजी सच्चे हैं तो पण्डित श्रीरघुवरदासजी अवश्य ही झूठे सिद्ध होते हैं क्योंकि उन्होंने न बजरङ्गदासजीका नाम लिया है, न जनकनन्दनाचार्यजीका नाम लिया है। यदि पण्डित जी सच्चे हैं तो बजरङ्गदासजी अपने आप ही झूठे सिद्ध हो जाते हैं। कौन झूठा है, कौन सच्चा है, इस झगड़ेमें मुझे पड़नेकी आवश्यकता नहीं है। मुझे तो इतना ही कह देना है कि आनन्दभाष्य कल्पित ग्रन्थ है। वह न पण्डित रघुवरदासजीको कश्मीरसे मिला है और न बजरङ्गदाससे परम्परया मिला है। वह तो श्रीजानकीभाष्यका ही कतरन है। झूठी बातको सच्ची बताने और बतानेमें सैकड़ों झूठी बातें बनानी पड़ती हैं और पापका पहाड़ सिरपर लादना पड़ता है। ऐसे पापभारवाह श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें अनेक हैं।

अब बजरङ्गदासजीके शास्त्रार्थके चलैंजकी बात कह दूं। मैंने उनके चलैंजको एक क्षणका भी विलम्ब किये बिना स्वीकृत कर लिया और विज्ञप्तिमें प्रकाशित कर दिया कि शास्त्रार्थ काशीमें होगा और अमुक अमुक विद्वान् मध्यस्थ होंगे। बस, सब मजा किरकिरा हो गया। बजरङ्ग दासजीने कहा कि 'मैं ऐसा शास्त्रार्थ नहीं करूंगा। मैं तो चाहता हूं कि विज्ञप्तिमें मैं भी लेख लिखूं और स्वामीजी (भगवदाचार्य) भी लिखें।" बस, उनका शास्त्रार्थ पूरा हो गया।

पहले तो उन्होंने लिखा था कि शास्त्रार्थके मध्यस्थ होंगे महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधरशर्माजी चतुर्वेद। जब मैंने उन्हें छोड़कर काशी और बङ्गाल आदि विद्वानोंके नाम लिये तो उत्तर दिया कि वे सब

विद्वान् अवैष्णव हैं—अरामानन्दीय हैं। विरक्त विद्वान् सम्पादक ब्रह्मचारी श्री वासुदेवाचार्यजीने स्वय प्रश्न कर दिया कि यदि काशीके विद्वान् अवैष्णव हैं तो पण्डित श्री गिरधर शर्मा जी भी तो अवैष्णव ही हैं? उन्हें आपने कैसे मध्यस्थ चुन लिया? तब टॉय टॉय फिस। जिन्हें निग्रहस्थानोंका भी पता नहीं है वह चले हैं शास्त्राथ करने मुझसे! आश्चर्यमेतत्।

विरक्तपनक विद्वान् सम्पादक ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजीने तथा मैंने भी श्रीबजरङ्गदासजीको सूचना दी थी कि एक एक क च ट त प से तो शास्त्राथ करना ही निरथक और अयुक्त है। कल फिर कोई रमताराम कहेगा कि मैं भी स्वामीजीसे शास्त्रार्थ करूगा और परसों पुन ऐसा ही कोई कहेगा। अत सर्वोत्तम यह होगा कि आप सम्प्रदायके अखाड़ा, खालसा, द्वाराचार्याचार्यो, प्रतिष्ठित मठमान्दराधीशों और समस्त विद्वानोंका प्रतिनिधित्व लेकर शास्त्राथ करनेके लिये काशीमें अमुक निश्चित तिथिमे उपस्थित हो जाय। परन्तु वह किसीका भी प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त कर सके। इसका अर्थ यह है कि उनकी विद्या, बुद्धि आदिका किसी भी श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवको विश्वास नहीं है। उनके विजयसे सम्प्रदाय अपनेको विजयी और उनके पराजयसे अपनेको पराजित माननेको तैयार नहीं है। सम्प्रदायने यह भी सिद्ध कर दिया कि कल्पित आनन्दभाष्यके साथ उसका अब कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध रखनेकी इच्छा होती तो श्रीबजरङ्गदासजीने शास्त्राथका अथवा प्रामाणिक विचारका अवसर सभी विद्वानोंके लिये उपस्थित कर दिया था। बजरङ्गदासजीको आगे न करते तो स्वय भी कोई विद्वान् आगे आते और विचार करते। परन्तु कोई भी नहीं आया। इसमें शास्त्रार्थ और विचार करना ही क्या था? मैं तो केवल आनन्दभाष्यकी कोई हस्तलिखित प्राचीन प्रति चाहता था। उसे दिखाकर कोई भी विद्वान्, अविद्वान् मुझे पराजित कर सकता था। परन्तु पराजित होना तो मेरे भाग्यमें विधाताने लिखा ही नहीं है

तो कोई मुझे पराजित करता तो कैसे करता ? अब आनन्दभाष्यको लक्ष्य बनाकर सब शास्त्रार्थोंकी समाप्ति आजसे हो रही है, सब विवादों और विद्रोहोंका आजसे अन्त हो रहा है, उसपर कही जानेवाली किसी भी टीका-टिप्पणीका आजसे घोष, आघोष, व्याघोष बन्द हो रहा है। आजसे सम्प्रदाय एवं दम्भ और पाषण्डके पर्देको चीरकर आगे बढ़ रहा है। आज सम्प्रदाय भगवान् सत्यनारायणके सामने नतमस्तक हो रहा है। आजसे आनन्दभाष्य गया और उसके स्थान पर श्री जानकीकृपाभाष्य संक्षिप्त सारका पवित्र पदार्पण हुआ है। आज सत्यके विजयका पवित्र और ओजस्वी दिन है। आजके पुण्यप्रभातमें श्रीरामानन्द सम्प्रदाय अपने उन्नत मस्तकके साथ जगत्के प्राङ्गणमें उपस्थित है।

अन्तमें एक बात और कह दूं। वि० संवत् १९९८ में चौखम्बा संस्कृतसीरीज आफिस वाराणसीसे एक ब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्ति प्रकाशित हुई है। उसके रचयिता हैं स्वामी श्रीरघुवराचार्यवेदान्तकेसरी। वि० संवत् १९८६ में कल्पित आनन्दभाष्य छपा है। उसके परिशोधक स्वामी श्री रघुवरदास वेदान्ती ही १२ वर्षोंके बाद मेरा अनुमान स्वनकर स्वामी श्रीरघुवराचार्य बने थे। ब्रह्मसूत्रीयवेदान्तवृत्ति शब्दका अर्थ समञ्जस हो अथवा असमञ्जस, परन्तु वह वेदान्तवृत्ति कल्पित आनन्दभाष्यानुसारिणी है। और कल्पित आनन्दभाष्य श्रीजानकीकृपाभाष्यका ही संक्षिप्त सार है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि वह वेदान्तवृत्ति भी श्रीजानकीकृपाभाष्यसंक्षिप्तसारका सार है। इस वृत्तिमें नवीनता कुछ भी नहीं है। श्री जानकीकृपाभाष्यसंक्षिप्तसारके वाक्यों और शब्दोंका परिवर्तनमात्र है। अतिसंक्षिप्त तो है ही। इसे विद्वान् लोग ब्रह्मसूत्रकी वृत्ति मान सकते हैं या नहीं, यह सन्देहास्पद है। इतना अवश्य सत्य है कि इस वृत्तिनामक अतिसंक्षिप्त ग्रन्थसे श्रीजानकीकृपाभाष्य जैसे महाग्रन्थका आशय अतिसंक्षेपमें समझा जा सकता है। इस वृत्तिग्रन्थके प्रारम्भमें वृत्तिकार महोदय लिखते हैं—

"...... सर्वेश्वरो भगवान् साकेताधिपतिर्द्वापरान्ते जनान् वृजिनार्णवनिमग्नान् अवलोक्य.........तेषामुद्धाराय कृतेक्षण. स्वयमेव द्वैपायनस्वरूपेणाध्यवनिमण्डलमवतीर्य प्रणिनाय...... ब्रह्ममीमांसाम् । इमाम् अतिगम्भीराशयशालिनीं संक्षिप्तां चोपलक्ष्य अल्पश्रुतैरर्थान्तरयोजनयानया तत्त्वबुभुत्सूनामपि अनर्थावाप्तिर्जातु स्यादिति सम्भाव्य स्वजनजातकरुण: तां पुनः सुविशदं व्याचिख्यासु' कलेरादौ अधिभारतभूमि भूयोपि स एव साकेतनिकेतनो देवदेव श्रीरामानन्दस्वरूपं विधाय व्यरीरचत् अत्रानन्दभाष्यम् । श्रीमदाचार्यप्रसादिते......भाष्ये सर्वेप्यर्था विपश्चिद्धुरीणैरेवावगन्तुं शक्या न पुनः साधारणैरित्यवधार्य महाचार्यकृपावलम्बिना मया सर्वेषां सुखावगमाय इयमतिसंक्षिप्ता वृत्तिर्विधीयते ।"

इसका भाव। रामजीने द्वापरयुगके अन्तमें मानवोंको पापसागरमें डूबे हुए देखकर उनके उद्धारके लिये विचार करके व्यासके रूपमें पृथ्वीपर आकर ब्रह्ममीमांसाका प्रणयन किया। पश्चात् रामजीको याद आया कि मेरी बनायी हुई ब्रह्ममीमांसा बहुत संक्षिप्त है। संभव है कि थोड़े पढ़े-लिखे लोग इसका वह अर्थ न करें जिस अर्थको मैंने समझकर उसे लिखा है, तब तत्त्वबोधकी इच्छा रखनेवालोंको अनर्थकी प्राप्ति होगी ऐसी सम्भावना करके कलियुगके आदिमें उन्हीं रामजीने रामानन्दका रूप धारण करके आनन्दभाष्य रच डाला। फिर मैंने निश्चय किया कि आचार्यका वह आनन्दभाष्य केवल बड़े-बड़े पण्डित ही समझ सकते हैं अन्य लोग नहीं इस लिये महाचार्यकी कृपाके अवलम्बसे मैं यह अतिसंक्षिप्त वृत्ति बना रहा हूँ जिससे सबको अनायास ही बोध हो जाय।"

इस लेखसे निम्नलिखित बातें कही गयीं—

अच्छा, रामजी आ गये, रामानन्दस्वामी बन गये और भाष्य करने लग गये। शङ्करभाष्यको उडा दिया, निम्बार्कभाष्य को उडा दिया, मध्वभाष्यको उडा दिया। श्री भाष्यका क्या किया? इसका तो खण्डन रामजीने किया ही नहीं। वही विशिष्टाद्वैत, वही तत्त्वत्रय, वही सायुज्य मुक्ति। नया तो कुछ रामजीने किया ही नहीं। आगे, रामानुजके भाष्यके अक्षरों और पदोंको भी रामजीने आनन्दभाष्यमें सुरक्षित रख लिया। तब प्रश्न है कि रामजीके आनेकी आवश्यकता ही क्या थी? शेषावतारने ही सब काम बना दिया था। नया कुछ कहना नहीं था, फिर रामावतार की=श्री रामानन्दस्वामीजीको क्या आवश्यकता पडी? एक प्रयोजन कहा जा सकता है। वह यह कि—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्रमें ब्रह्मशब्द रामजीने लिख दिया था, वह गडबड था। ब्रह्मका ब और ह भूलसे लिखा गया था। र की मात्रामें भी भूल हो गयी थी अतः ब्रह्मको राम समझानेके लिये ही रामानन्दावतार हुआ था। परन्तु रामजी अपने आनन्दभाष्यमें प्रथम सूत्रमें इसका स्फोट करना भूल गये तब वृत्तिकार महाशयने उस भूलका सुधार किया और प्रथम सूत्रकी वृत्तिमें लिख दिया कि—ब्रह्मण परमपुरुषश्रीरामस्य ̈ विचार, कर्तव्य'। इस वेदान्तदर्शनमें रामजीने रामका क्या विचार किया है, यह तो रामजी ही जाने। इतना तो खटकता ही है कि रामजीने तिलक, कण्ठी, राममन्त्रजप, नाम, मुद्रा आदिका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। पञ्च संस्कारोंके बिना पापियोंका उद्धार होगा कैसे? यह भी समझमें नहीं आया। रामजीने आनन्दभाष्यमें न तो सरयूस्नान लिखा, न गङ्गास्नान ही लिखा। तीर्थयात्रा करनेकी भी बात नहीं लिखी। अवधवास करनेकी भी आज्ञा नहीं दी। किसी ग्रन्थका नित्य पाठ करना भी नहीं बताया। रामतापिनी उपनिषद्के एक ही वाक्यका उच्चारण किया, अवशिष्ट मन्त्रों या श्लोकोंका स्मरण भी नहीं किया? पापियोंका उद्धार होगा तो कैसे होगा?

अच्छा, इस उद्धारकी बात छोड दें। यह तो होता ही रहेगा, होता ही रहा है। अब इस वृत्तिकी बात कर। रामजीने अतिसंक्षिप्त ब्रह्मसूत्र लिखा और उन्हें सम्भावना हुई कि सब मेरे अर्थका अनर्थ कर डालेंगे, इसीलिये तो उन्हें ५ हज़ार वर्षके बाद भाष्य—आनन्दभाष्य करनेका सूझा। और आप पुन अतिसंक्षिप्त वृत्ति लिखकर वही भूल करने चले, तो यह तो अच्छा नहीं हुआ। अच्छा, यह भी सहा। यहाँके लेखसे यह बताया गया है कि वृत्तिकार स्वबुद्धिसे वृत्ति बना रहे हैं परन्तु मङ्गलाचरणके चतुर्थ श्लोकसे यह कहा गया है कि—

> श्रीमदानन्दभाष्यस्याशयं तदनुसारत ।
> विचार्य ब्रह्मसूत्रेषु वृत्तिरेषा विधीयते ॥

अर्थात् "आनन्दभाष्यके आशयको विचार करके, उसीके अनुसार ब्रह्मसूत्रोंपर यह वृत्ति बनायी जा रही है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि इस वृत्तिमें वृत्तिकारकी स्वबुद्धिका उपयोग नहीं हुआ है, आनन्दभाष्यके अनुसार ही यह वृत्ति बनायी गयी है। यही ठीक भी है। क्योंकि आनन्दभाष्यके ही भाव, परिवर्तित पदादि यहाँ वृत्तिमें उपस्थित हैं। परन्तु तत्तु समन्वयात् इस सूत्रमें तो सब गडबड हो गया है। रामजीके आनन्दभाष्यमें जो कुछ लिखा है, उससे सर्वथा ही विरुद्ध इस सूत्रकी वृत्तिमें लिखा गया है। अत प्रतिज्ञाविरोध तो हुआ ही और समाधान दुःशक है। ऐसे विरोधका अन्य सूत्रोंकी वृत्तिमें भी होना असम्भव नहीं है।

वृत्तिकार बन्धुने उपर्युक्त संस्कृत लेख बहुत असम्बद्ध लिखा है। वह यह भूल जाते हैं कि सूत्रग्रन्थ संक्षिप्त ही होते हैं। उनकी कार्य-वृद्धि तो भाष्यकारकी बुद्धिकी बात है। ग्रन्थका कोई अनर्थ करेगा ऐसी भविष्यकी सम्भावना रामजीको क्यों हुई जब कि रामानन्दके रूपमें अनेक अर्थ उस ग्रन्थके किये जा चुके थे? वृत्तिकारने यह इस लिये लिखा कि उन्हें बताना था कि रामानन्द स्वामीजी कलियुगके आदिमें हुए थे।

परन्तु यह तो स्पष्ट ही असत्य है। वृत्तिकार महाशयके गड़बड़ने श्री रामजीको भी गड़बड़ कर दिया।

अस्तु, मुझे तो कहना यह है कि वृत्तिकारने सब झूठ ही लिखा है। न रामजीने भाष्य किया है और न रामानन्द स्वामीजीने। मैं कह चुका हूँ कि एक असत्यको छिपानेके लिये अनेक असत्योंको जन्म देना पड़ता है। और नामस्मारपातक परम—असत्यसे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है। गोसाईंजी ने भी तो कहा है—'नहिं असत्य सम पातकपुंजा"। अत सदा असत्यकी धारा चलती रहे, यह सम्प्रदायके लिये कलङ्क है, इस विचारसे मूलोच्छेद मने कर दिया है। आनन्दभाष्य जैसी कोई वस्तु इस जगत्‌में न पैदा हुई है और न पैदा की गयी है। यदि वह की गयी है तो उसकी मिट्टी मा खराब हो गयी है।

अब एक दूसरी बात। स्वामी श्री रामप्रसादजी महाराजने एक धर्म शिक्षा-पत्री लिखा है। वह वि० सवत् १९८७ में प्रथमबार अयोध्यामें ही छपी है। इससे पूर्व वह हस्तलिखित थी जिसका दर्शन मुझे भी पयहारीजीके वहाँके एक महात्मा कशवदासजीके द्वारा तभी हुआ था, जिन दिनों मैं नया दीक्षित था। इस धर्मशिक्षापत्रीमें २२० श्लोक हैं। श्रीमान् पण्डित श्रीराम वल्लभाशरणजी महाराजने उसपर हिन्दी टीका लिखी है। उस ग्रन्थमें एक सौ चाठहवाँ श्लोक इस प्रकार है—

> भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण च।
> शारीरकं च श्रीभाष्य पूर्वाचार्यकृत च मे॥

१०८ वें श्लोकके अनुसन्धान से इस श्लोकका अर्थ यह है—"भक्ति शास्त्र, योगशास्त्र, धर्मशास्त्र, वेदान्तदर्शन पर पूर्वाचार्यका किया हुआ श्रीभाष्य तथा वेदान्तदर्शनपर मेरा किया हुआ भाष्य विशेष रूपसे माननीय है।" इस श्लोकमें श्रीभाष्य शब्द आया है। वह अवश्य ही रामानुजभाष्यके लिये है। परन्तु टीकाकार विद्वान्‌ने उसका अर्थ—"श्रीरामानन्दस्वामीजीका किया हुआ भाष्य—" ऐसा किया है वह तो

नवीनधाराके अनुसार है। विक्रम सवत् १९८६ में कृत्रिम आनन्दभाष्य छपा है और विक्रम सवत् १९८७ में शिक्षापत्री छपी है। अतः उस श्लोकके अर्थमें श्रीरामानन्दस्वामीजीका भाष्य माननीय है, ऐसा लिखना युगधर्म था। बहुत बडी बात तो यह हुई है कि उसमें आनन्दभाष्यका नाम नहीं दिया गया है। अस्तु; मुझे तो यह सूचित कर देना है कि श्रीरामप्रसादजी महाराज केवल श्रीभाष्यमें परिचित थे किसी भी आनन्द-भाष्यसे वह परिचित नहीं थे, क्योंकि उनके समयमें आनन्दभाष्य था ही नहीं, अतएव उन्होंने श्रीजानकीभाष्यमें कहा पर भी आनन्दभाष्यकी चर्चा नहीं की है।

अब एक और बात। आनन्दभाष्यके सम्बन्धमें मेरे थोडेसे लेख और कितनी घोषणाएं अभी गत थोडे वर्षोंमें जहाँ-तहाँ प्रकाशित हुई हैं, उनका यहाँ पर उल्लेख कर देना बहुत ही आवश्यक है।

(१)

मैंने अपने "तत्त्वदर्शी" मासिकपत्रके आठवें वर्षके विशेषाङ्कके ६१वें पृष्ठपर लिखा है—"इस अहमदाबादी आनन्दभाष्यको शीघ्र ही अप्रामाणिक घोषित कर देना चाहिये" वह मेरा लेख ८ पृष्ठोंमें है। पढ़ने योग्य है (१ अप्रैल १९३९)

(२)

पण्डित श्रीरामचरणशरण जी शास्त्रीने भी उसी विशेषाङ्कमें आनन्द-भाष्यकी आलोचना ११॥ पृष्ठोंमें की है। (१ अप्रैल १९३९)

(३)

"जब तक प्रामाणिकोंके समक्ष यह सिद्ध न कर दिया जाय कि यह आनन्दभाष्य श्रीजानकीभाष्यका ही रूपान्तर नहीं है तबतक आनन्द-भाष्य श्री रामानन्दस्वामीजी महाराज प्रणीत है, यह कभी माना या मनाया नहीं जा सकता।" यह लेख श्री वैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थकी भूमिकामें मैंने लिखा था। (वि० संवत् श्रावण वदि ११, २००२)

(४)

"एक मेरी और भी सूचना है। यदि इसी विजयादशमी तक अयोध्याके रामानन्दीयवैष्णवपरिषद्वाले पण्डितलोग प्राचीन आनन्द भाष्य जिसपरसे कि यह वर्तमान आनन्दभाष्य छापा गया है—नहा दिखा सकेंगे तो म आनन्दभाष्यका अपनी ओरसे प्रकाशन करूगा और उसका नाम रखूँगा संक्षिप्त जानकीभाष्य।" (ता० २७-९ ··)। यह मेरा लेख श्रीरामानन्दपत्रिका १ अक्टूबर १९·· के अङ्कमें छपा था।

(५)

"अहमदाबादमें छपे हुए आनन्दभाष्यको म जानकीभाष्य ही मानता हूँ।" श्री रामानन्दपत्रिकामें यह मेरा लेख है (१ नवम्बर ५५)

(६)

"किसामें साहस हो, सत्यता हो, धार्मिकता हो तो उस दिन आनन्दभाष्यको मुझे और पूर्वोक्त महानुभावोंको दिखावे। यदि यह तारीख भी पूर्वकी तारीखोंके समान ही चली जायगी और हवाई किलेके निवासी बन्धु महाशय चुप ही रहेंगे तो यह आनन्दभाष्यके माननेवालोंका पूर्ण और अन्तिम पराजय होगा।" यह मेरा लेख उसी रामानन्दपत्रिकामें मुद्रित है। (१७-१०-५५ ई०)

(७)

रामानन्दपत्रिकाके १ अक्तूबर १९·५ ई० के अङ्कमें मेरा एक लेख मुद्रित है। वह यह है—

डभोई (गुजरात) से एक गृहस्थ बन्धु अपने २२ ९-५५ ई० के पत्रमें पूछते हैं कि—"स्वामी टीलाचार्यकृत आनन्दभाष्यका सुखम व्याख्यान तथा स्वामी मङ्गलदासजी कृत सुखममञ्जरी ये दोनों ग्रन्थ कहाँ से मिल सकते हैं? तथा हिन्दीमें हैं या संस्कृतमें?"

मेरा उत्तर है कि आनन्दभाष्य तो जानकीभाष्यका कतरन है। उसका कोई अस्तित्व नहीं है। वह स्वामी रामानन्दजीका ग्रन्थ नहीं है। वह पुराना ग्रन्थ ही नहीं है। परन्तु यदि उस भाष्यका व्याख्यान सुरद्रुम है और उसका व्याख्यान सुरद्रुममञ्जरी है तो मोक्षका मार्ग हमारे कितने ही बन्धुओंके लिये बहुत सरल हो गया है। स्वामी टीलाजीकी गादी कहाँ है, मैं जानता नहीं हूँ। परन्तु डाकोरके महान्त श्री रामनारायणदासजीको कितने ही लोग टीलागाद्याचार्य लिखते हैं। तब मैं श्रीमान् महान्त श्री रामनारायणदास जी महाराजसे प्रार्थना करूँगा कि वह टीलागाद्याचार्य भी हैं और मङ्गलपीठाधीश भी हैं। अतः उनके पास ये दोनों ग्रन्थ यदि उपस्थित हों तो कृपाकर मुझे सूचित करें। मैं श्री टीलाजीके और श्री मङ्गलदासजीके उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ देखना चाहता हूँ। मैं इन ग्रन्थोंको अकेला नहीं देखूँगा। मैं जिला कलक्टर तथा दो संस्कृतके विद्वानोंके साथ देखूँगा। जब मैं देख लूँगा तो लिखकर दूँगा कि मैंने अमुक-अमुकके साथ वे दोनों ग्रन्थ देखे और ये पुराने हैं या नये हैं। जब तक मैं इतना नहीं लिखूँ तब तक किसीके कहनेसे कोई यह मान न ले कि मुझे ये दोनों ग्रन्थ दिखाये गये हैं।

श्री महान्त अयोध्यादास जी शास्त्री जी (अहमदाबाद) भी श्री मङ्गलपीठाधीश हैं। उनसे भी मेरी यही प्रार्थना है।

यदि ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन कागजपर प्राचीन स्याहीसे प्राचीन अक्षरोंमें लिखे हुए मुझे मिल जायँगे तो मुझे आनन्दभाष्यको मान लेनेमें बहुत बाधा नहीं पड़ेगी। यदि ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन नहीं मिलेंगे तो ये दोन ग्रन्थ भी कल्पित और तरङ्गी हैं। आनन्दभाष्य तो कल्पित है ही।

डाकोर और अहमदाबादमें बहुत अन्तर नहीं है। एक ही दिनमें यह काम पूरा हो सकता है। अतः १५ वीं अक्तूबर तक मैं समय देता हूँ। इतने समयमें यदि मुझे ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होंगे, दिखाने वाले नहीं दिखावेंगे तो रामानन्दस्वामी और श्री रामानन्दसम्प्रदायकी

प्रतिष्ठाको नष्ट करनेवाले आनन्दभाष्य, सुरद्रुम, सुरद्रुममञ्जरी ये तीनों ग्रन्थ झूठे, जाली और तरङ्गी सिद्ध हो जायँगे।

एक मेरी और भी सूचना है। यदि इसी विजयादशमी तक अर्थात् रामानन्दीय वैष्णव परिषद्वाले पण्डितलोग प्राचीन आनन्दभाष्य जिसपरसे कि यह वर्तमान आनन्दभाष्य छापा गया है, नहीं दिखा सकेंगे तो मैं आनन्दभाष्यका अपनी ओरसे प्रकाशन करूँगा और उसका नाम रखूँगा सक्षिप्त जानकीभाष्य ‥ ‥।

२७ ९ ५५ ई०] भगवदाचार्य

(८)

मेरे "मोक्षके सरल उपायका" कुछ न कुछ उत्तर तो डाकोरसे निम्न द्वारा मिला ही। मैं उपकार मानता हूँ। दुःख इतना ही है कि मुझे उत्तर जहाँसे मिलना चाहिये था वहाँसे नहीं मिला। महन्त श्री रामनारायणदासजी महाराजने कृपा नहीं की।

उत्तर देनेवाले चाहे जो हों, मैं मान लेता हूँ कि वह उत्तर महान्त श्री रामनारायणदासजीको स्वीकृत है। क्योंकि उसमें लिखा है कि — "इनकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ हमारे पास थीं। प्रकाशित करनेके समय श्री वैष्णवाचार्य जी म० वै० भू० वे० ती० मांडवडा अहमदाबाद हमारे स्थानसे ले गये।" ‥ महान्तजीकी ओरसे यह कहा गया है कि सुरद्रुम, सुरद्रुममञ्जरीको उन्हें प्रकाशित करनेके समय श्री वैष्णवाचार्यजी ले गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों ही ग्रन्थ प्रकाशित हैं। मिलनेका पता नहीं लिखा गया। मैं मिलनेका पता चाहता हूँ।

तथा श्रीवैष्णवाचार्यजीसे अनुरोध करता हूँ कि वह उन प्राचीन प्रतियोंको दिखानेकी मुझे सूचना दें।

रामानन्दपत्रिका
१-११-१९५५ ई० } भगवदाचार्य

(९)

रामानन्दपत्रिकाके इसी अङ्कमें और इसी पृष्ठमें श्री मङ्गलपीठाधीश श्री महान्त अयोध्यादासजी शास्त्री का मेरे लेखका उत्तर छपा है। वह इस प्रकार है—" । मेरा उत्तर यह है कि यह मङ्गलपीठ बहुत प्राचीन स्थान है। परन्तु यहाँ पर न तो श्रीटीलाचार्य्यजी महाराजका बनाया हुआ सुरद्रुम है और न श्रीमङ्गलदासजी महाराज का बनाया हुआ सुरद्रुममञ्जरी नामका व्याख्यान है। मेरे यहाँ सुरद्रुम–सुरद्रुममञ्जरी या ऐसे ही किसी अन्य ग्रन्थ का कहीं न तो उल्लेख है और न पता ही है। यदि कोई आदमी श्री स्वामीजीको इन ग्रन्थों को दिखलाने की सूचना दे तो यदि स्वामीजी मुझे भी सूचित करेंगे तो नियत समयपर मैं भी श्री मङ्गलदासजी महाराज के हस्ताक्षर के साथ उनके पास अपना प्रतिनिधि भेजूँगा ॥

(१०)

इसी उपर्युक्त पत्रिकामें इसी अङ्क में बजरङ्गदासजी के लिये भी मैंने कुछ लिखा है। आवश्यक अंश ये है—"उन्होंने अभी मेरे पास एक विज्ञप्ति भेजी है जो मुझ २१–१०–१५ ई० को मिली है। उन्हें खुजली हो रही है। वह आनन्दभाष्य के लिये मुझे शास्त्रार्थ करनेको चैलेंज दे रहे हैं। मैं ऐसे लोगों को कहू तो क्या कहू ? उन्हे मैंने उत्तर तो रजिष्ट्री पत्र से भेज दिया है परन्तु वह ऐसे जीव हैं कि शान्त नहीं होंगे ।

उनका जय-पराजय उनका ही जय पराजय माना जायगा या सम्प्रदायका, यह भी नहीं मालूम। ऐसे पण्डित तो कितने ही मारे मारे फिरते हैं। किस किससे शास्त्रार्थ किया जाय ? ।"

उनकी जय पत्रिका में जय विजय छपा है वह अशुद्ध है। जय-पराजय ऐसा पाठ होना चाहिये। इसे मैंने यहाँ सुधार दिया है। (भगवदाचार्य)

(११)

रामानन्दपत्रिका के इसी अङ्क में मेरा एक और लेख है जिसका कुछ अंश यों है—

"परन्तु एक अवसर आज मैं उन लोगों को देता हूं जो मानते हों कि सुरद्रुम भी है और सुरद्रुममञ्जरी भी है। वे लोग इसी ७-११-५५ ई० को आनन्दभाष्यके इन बच्चे कच्चे दोनों ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ उपस्थित करें। मुझे ता० ७-११-५५ ई० तक सूचना मिल जानी चाहिये कि मैं कब और कहाँ सरकारी उच्चपदाधिकारी जिला कलक्टर और दो अन्य तटस्थ विद्वानोंके साथ उन दोनों ग्रन्थों को देखूं। यदि वह तारीख निकल जायगी और सुरद्रुम-सुरद्रुममञ्जरी के नाम की माला फेरनेवाले मूर्ख, पण्डित, पठित, अपठित, सन्त, महान्त, महात्मा इन दोनों ग्रन्थों की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ नहीं दिखा सकेंगे तो आज से इन ग्रन्थों और ग्रन्थों के नामों का अन्त समझ ही लेना चाहिये।

अहमदाबाद
१७-१०-५५ } भगवदाचार्य

(१२)

पत्रिका के इसी अङ्कमें पण्डित वासुदेवाचार्यजी दार्शनिक सार्वभौम के लिये भी मैंने एक लेख लिखा था। पण्डित वासुदेवाचार्यजीने मेरे पास एक पत्र आनन्दभाष्य की रक्षा में भेजा था जो २० अङ्गुल लम्बा, १२ अङ्गुल चौड़ा और ६९ लाइनों वाला था। उसीके उत्तरमें मैंने यह लेख लिखा था। उसमें मैंने उनसे ६ प्रश्न किये थे, मैंने अन्त मे लिखा था—"इन छहों प्रश्नों का उत्तर यदि पत्र पत्रिका में वह न देना चाहें तो जैसे अभी एक पत्र मेरे पास भेजा है वैसे ही एक पत्र में, रजिस्टर्ड कराकर उत्तर भेजें। यदि दीपावली से पूर्व ही मुझे मेरे पहले लेखका उत्तर मिल जायगा तो मैं उसके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करूँगा। यदि तब तक उत्तर न मिला तो इस लेख के लिये भी मैं २० नवम्बर तक प्रतीक्षा करूंगा। यद्यपि नियमानुसार तो सुरद्रुम और सुरद्रुममञ्जरी की घोषणा का पराजय पूर्ण पराजय १५ अक्तूबर १९५५ ई० को ही हो चुका है। दीपावली के दिन आनन्दभाष्य के समस्त पक्षपातियों का पूर्ण पराजय हो जायगा। गत जून

मासमें भी आनन्दभाष्य के माननेवालों का पराजय कर चुका हूँ। अब तो मरे को मारनेकी बात है। यह मेरा लेख अब कार्तिक वदि प्रतिपद् तद्नुसार १ नवम्बर को प्रकाशित होगा। जून के अन्त में भी पराजय हुआ। विजयादशमी को भी पराजय हुआ। दीपावली को भी पराजय होगा और मैं ता० २०-११-२९ की एक तारीख और देता हूँ। किसी म साहस हो, सत्यता हो, धार्मिकता हो, तो वह उस दिन आनन्दभाष्य को मुझे और पूर्वोक्त महानुभावों को दिखावें। यदि यह तारीख भी पूर्व की तारीखों क समान ही चली जायगी और हवाई किले क निवासी बन्धु महाशय चुप ही रहेंगे तो आनन्दभाष्य क माननेवालों का यह पूर्ण और अन्तिम पराजय होगा।

अहमदाबाद
१७-१०-२९ } भगवदाचार्य

इस कालमें आनन्दभाष्यके विषयमें और भी मेरे कितने लेख मिल सकते हैं। किसीने भी मेरे लेखोंके उत्तरके लिये साहस नहीं किया है। अयोध्यासे निकलनेवाले प्रसिद्ध साप्ताहिक संस्कृतपत्र संस्कृतम् में भी मेरे ४-५ लेख आनन्दभाष्य के कल्पित होने के सम्बन्धमें प्रकाशित हो चुके हैं।

अहमदाबाद
१७-१०-२९ } भगवदाचार्य





श्रीमान् वैद्यराज स्वामी दयानन्ददासजी महाराज
बड़ास्थान, अयोध्या
(वर्तमान निवास, अहमदाबाद)

श्रीमतेरामानन्दायनम

श्रीजानकीपरमकृपापात्रै र्बिन्दुश्रीप्रवर्तकाचार्य्यै
श्रीमद्भगवद्रामप्रसादाचार्य्यैरायोध्यकै
प्रणीतस्य
शारीरकमीमांसायाः

श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य

संक्षिप्तसारः

श्रीरामाख्य परं ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणम् ।
स्वभक्तैश्वर्यमाप्य च वन्दे दिव्यगुणाकरम् ॥१॥
श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनीम् ।
तां सृष्टिस्थितिसंहारकारिणीं सर्वदेहिनाम् ॥२॥
सीतां स्वादिगुरुं वन्दे शरणागतवत्सलाम् ।
यत्परम्परया लब्धो मन्त्रोऽस्माभिः षडक्षरः ॥३॥
वेदवेदान्तगुह्यार्थो यत्कृपातः प्रकाशते ।
तं सर्वनिगमाचार्यं हनूमन्तं गुरुं भजे ॥४॥
सीतारामैकभाविकं सीतारामपरायणम् ।
सीतारामैकसम्प्राप्यं स्वाचार्य्यं तुलसीं भजे ॥५॥
शब्दब्रह्मपरब्रह्मनिष्णातं सूत्रकारकम् ।
व्यासं सत्यवतीसूनुं प्रणमामि पुनः पुनः ॥६॥

प्रथमोऽध्यायः, प्रथमः पादः

(*जिज्ञासाधिकरणम्*)

अथाखिलाम्नायाध्ययनमनुपपत्तिमद्दते ब्रह्मचर्यादिति तत्प्रयुक्त-वाक्यविचारस्याप्यन्तरेण वेदाध्ययनमसम्भवाद् ब्रह्मविचाराऽनुपपत्तिरित्यापाततो *ब्रह्मज्ञानमन्तरेण तद्विषयकजिज्ञासाया अनुदया त्तदभावे चाखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकरत्वाश्रयभगवत्स्व* रूपानुभवासम्भवान्मोक्षानुपलब्धि ।

तस्मादर्थावगमपुरस्सरमादौ वेदाध्ययनमापादनीयम् । तेन च कर्मणामल्पास्थिरफलकत्वमाकलय्यानन्तानन्दफलावाप्तये ब्रह्मस्वरूपानुभवसाधनीभूताम्नायान्तवाक्यविचारोऽनुष्ठेय इत्यर्थोलभ्यते । एवञ्च "तद्यथेह कर्मचितो लोक क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोक *क्षीयते" (छा० ८।६।१) इति श्रुतिविरुद्धत्वात् "अक्षय्य* ह वै चातुर्मास्ययाजिन सुकृत भवति तस्माच्चातुर्मास्येन यजेते" त्यस्य विधिशेषत्वेन तदर्थवादतया तत्स्तुतिमात्रपरत्वमवगन्तव्यम् । स्मर्यतेऽपि च उपभुक्तकर्मविपाकानामुर्वरितानुशयशालिनाम्पुनरावृत्ति । "आ ब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन" (*गीता ८।१६*) *इत्यादिना । तस्मा "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो* निर्वेदमायान्नास्त्यकृत कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् । तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय । येनाक्षर पुरुष वेद सत्य प्रोवाच ता तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् । (मु० १।२।१२।१३) मोक्षस्य ब्रह्मावाप्तिलक्षणस्य कृतेन कर्मणाऽसिद्धेरिति ततो विरक्तस्य परतत्त्वबुभुत्सया स्वाचार्योपसदनपूर्वक ब्रह्मविद्योपदेशश्रवणात्तस्या एव परमात्मन प्राप्तिहेतुत्त्वमवसीयत इति । द्रढयत्यमुमेवार्थं श्रुतिगण । "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० १। १। १) "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" (मु० ३।२।९) ' यो वेद

निहित गुहायाम्" (तै० २।१) "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै० २।१।१) "ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमान" "यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन परम साम्य मुपैति" (मु० ३।१।३) "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मुण्ड० २।२।८) "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ० २।६।१४।) "न च पुनरावर्तते" (छा० ८।१५) इति ब्रह्मज्ञानस्यैव परब्रह्मानुभवरूपफलत्वश्रवणात् "येनाक्षर पुरुष वेद" इत्यादौ कर्मफलविरक्तस्यैव ब्रह्मज्ञानार्थित्वम वसीयते । एवञ्च 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्वेति तपोऽतप्यत स तपस्त प्त्वानन्दम्ब्रह्म व्यजानात्' (तै० ३।५।६।) इति तपसो ब्रह्मजिज्ञा सायास्तज्ज्ञानस्य च साधनत्वश्रवणादादौ तदनुष्ठेयम् ।

एतदुक्तम्भवति । परमपुरुषार्थानुभवलक्षणविलक्षणसुखा वाप्तिकामेनादौ ब्रह्मचर्यादिनियमपूर्वक सार्थानुश्रवमधीत्य तदुदित कर्मणामन्तवत्फलमाकलय्यानन्तफललिप्सया मन स्थैर्यादिसाधनम धिगम्य ब्रह्मविचारोऽहर्दिव विभावनीय इति । तदर्थं भगवान् बादरायण आम्नायान्तवाक्यविचारलक्षणां प्रणिनाय शारीरकब्रह्म मीमासाम् । तस्याश्चेदमादिम सूत्रम् ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १। १। १।

अत्रानन्तर्यार्थकोऽयमथशब्द । अधिकारादिवाचकस्य तस्य प्रकृतेऽनुपयोगात् । अत शब्दो हेत्वर्थक । एवञ्च, साङ्गसशिरस्क वेदाध्ययनेनाधिगतकर्मज्ञानस्य तत्फलवितृष्णतयाऽवाप्ततपस्वित्व मुमुक्षुत्वाद्यनेकसाधनस्य, अविनाशिफलमोक्षाभिलापुकस्य तदु पायतयावगतब्रह्मजिज्ञासैवानन्तरभाविनी ।

कर्मज्ञानानुष्ठानयाश्चित्तकल्मषापनयनपूर्वकवैराग्योत्पादनद्वारा च ब्रह्मज्ञानम्प्रति साधनत्वेन तयोर्हेतुहेतुमद्भावतया पूर्वोत्तरमीमांसयोरेकशास्त्रत्वम् । ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । कर्मण्येषा षष्ठी । 'कर्तृकर्मणो कृती'ति कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी विभक्तिर्भवतीति कृद्योगलक्षणा षष्ठी । इध्मप्रव्रश्चनपलाशशातनादिवत्समासः । एवञ्च "कृद्योगा च षष्ठी समस्यत" इति वचनबलात् "प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत" इति निषेधस्याप्रसक्तिः । अथवा शेषलक्षणैव षष्ठीति न किमपि वक्तव्यमवशिष्यते । न चैव सर्वत्र शेषलक्षणषष्ठ्यैव कार्यसम्भवे षष्ठीसमासप्रतिषेधसूत्राणामानर्थक्यमितिवाच्यम् । तेषां स्वरचिन्तायामुपयोगस्याङ्गीकारादिति सर्वमवदातम् ।

ब्रह्मशब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्ताखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममेवाह । सामान्यवाचकानां पदानां विशेषार्थे पर्यवसानात् ।

जिज्ञासेत्यत्र प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमिति सनोऽन्यत्रेति वचनबलादिच्छायाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणज्ञानमिह विधेयम् । न केवलं कर्मभिः परपुरुषानुभवरूपो मोक्षः शक्योऽवाप्तुम् । वेदान्तवाक्यविचाररूपाया उत्तरमीमांसाया वैयर्थ्यप्रसङ्गात् ।

इदमत्र विचार्यते । परमतत्त्वपरपर्यायज्ञानातिरेकिकर्मभिर्मुक्तिस्तद्विरहितेन ज्ञानेन वा ? नाद्यः । वेदान्तविचारशास्त्रानारभ्यत्वप्रसङ्गात् । नान्त्यः । अपसिद्धान्तान्नैष्कर्म्यवादप्रसङ्गाच्च । तस्मात् कर्मविशिष्टस्यैव ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वमितिसिद्धान्तः । तथा च श्रुतिः । "अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।" (ईश० ९) अत्राविद्याशब्देन केवलं कर्मोच्यते "अविद्या कर्मसज्ञान्ये" तिस्मृतेः । एवं विद्यायां

रता इत्यस्य स्वाधिकारोचितकर्मपरित्यागेन विद्यायां रता इत्यर्थः। अयमभिप्रायः। पार्थक्येन नैकस्यापि श्रेयःसाधनत्वमपि तु कर्मसचिवज्ञानस्यैवेति वेदवित्समयः। दर्शयति चामुमेवार्थं श्रुतिः। "विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई० ११) इति नित्यनैमित्तिककर्मणां कल्मपापनयनद्वारा ब्रह्मोपासनरूपविद्योपचारकत्वमेव।

एवञ्च, अङ्गाङ्गिभावेन सहानुष्ठेयं यो वेद सोऽविद्यया विद्याङ्गतयाऽनुष्ठितेन कर्मणा मृत्युं ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकीभूतमदृष्टपदवेदनीयं प्राक्तन कर्म तीर्त्वोल्लङ्घ्यामृतमश्नुते मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः। अस्यां श्रुतौ विद्याशब्देन प्रकृतसूत्रे च ब्रह्मजिज्ञासाघटके जिज्ञासापदेन ध्यानोपासनादिशब्दवाच्य वेदनमेवोच्यते न तु वाक्यजन्यमापातज्ञानम्। पदवाक्यप्रमाणनिष्णातस्य व्युत्पत्तिमतः पदसन्दर्भश्राविणो विधिमन्तरेणाऽपि तस्य प्राप्तत्वात्। समामनन्ति च, "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० ६।५।) "अनुविद्य विजानाति" (छा० ८।१२।६) "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" (बृ० ६।४।२१) "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० ३।४।७) इत्यादिश्रुतयः। अतो निदिध्यासनमेवात्र विहितम्। तथा च श्रुतिः। "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। (श्वे० १।३) तच्च विसजातीयप्रत्ययानन्तरितब्रह्माकारकमनोवृत्तिरूपम्। सा च वृत्तिः स्मृत्यपरपर्य्याया साक्षात्काररूपैव। अत एव "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २।८) "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इत्यादावपरोक्षात्मकानुभवरूप एव प्रदर्शितः। प्राप्नोति च स्मृतिरेव भावनाप्रकर्षाद्दर्शनरूपताम्। द्रढयत्यमुमेवार्थं श्रुतिः। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्। (मु० ३।२।३) अयमर्थः–"यथा

न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि हिरण्यं निधाय तु चेतव्यम् ।" इत्यादौ केवलपृथिव्याद्यधिकरणकाग्निचयनं निषिध्य हिरण्यस्थापनपूर्वकं तद्विधीयते । तथात्रापि केवलेन प्रवचनसाधनेन मननेन ध्यानेन श्रवणेन वेदमात्मस्वरूपं नासाद्यते । अपि तु निरतिशयप्रेमविशिष्टेनैव । एष आत्मा च प्रीतिविशिष्टं पुरुषं वृणुते स्वीकरोति तेनैव पुरुषविशेषेणायं लभ्यः । स्वीक्रियमाणता च स्वविषयकाखण्डानुरागवत्येव जायत इति लोकव्यवहारः ।

एवञ्च, परमात्मविषयकोऽनुरागस्तस्मिन् परमपुरुषे प्रेमोत्पादनद्वारा तदवाप्तौ कारणतामभजत इति निर्विवादम् । अत एव "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" । (गी० १०।१०) 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।" (गी० ८।२२) 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गी० ७।१७) इत्यादयः स्मृतयः सङ्गच्छन्ते । तस्योपासकस्योत्कटदिदृक्षागर्भरूपपरभक्तिमत एष आत्मा परमात्मा स्वरूपं प्रकाशयति प्रदर्शयतीतिसिद्धम् ।

अनेन श्रवणादिसाधनसम्पन्नस्यापि परभक्तिरूपोत्कृष्टसाधनस्यावश्यकत्वमित्यर्थस्वभावादुपबृंहणबलाच्चावगन्तव्यम् । श्रुत्यनुस्मृत्यपरपर्यायपरभक्त्यतिरेकेण श्रवणादीनां वैयर्थ्यमेवेतिहृदयम् ।

सा च भक्तिः परमप्रेयोभगवदितरवैतृष्ण्यपूर्वकपरमपुरुषानुरागरूपो ज्ञानविशेष एव । तदुद्भवश्च संसारस्यानित्यतामाकलय्याचार्योपसत्तिपुरस्सरवर्णाश्रमाचारसेवनजनितपुण्यक्षालितकषायस्य विवेकवैराग्याभ्यासादिभिरेवेति सर्वमवदातम् ।

केचित्तु आहुः । ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र निरस्ताखिलभेदमदोषविशेषप्रत्यनीकं चिन्मात्रमेव तत्त्वं ब्रह्मपदवाच्यम् । तदेव वस्तुपदाभिलप्यं परमार्थरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमप्याम्नायावगततत्त्वमस्यादिवाक्यार्थसेयसामानाधिकरण्यविनिश्चितजीवैक्यं बध्यते मुच्यते

च । एवञ्च षड्विधतात्पर्यनिर्णायकैर्लिङ्गैस्समेषां वेदान्तानामद्वैते ब्रह्मण्येव निश्चय । "नेह नानास्ति किञ्चन मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (का० २।१।११) उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" (तै० २।७) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति कश्चित्" (श्वे० ३।९) "यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत । तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत " (ई० ७) एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बभूव (क० २।२) तथाक्षरा द्विविधा सौम्य भावा प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" (मु० २।१ १) "एतस्माज्जायत प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च । ख वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मु० २।१।३) "इद सर्वं यदयमात्मा" (बृ० २।४।४) "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कम्पश्येत् तत्केन क विजानीयात्" (बृ० २।४।१४) "वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० ६।१।४) "मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" (ब्र० सू० ३।२।३) "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य " (ब्र० सू० २।१।१४) "क्षेत्रज्ञ चापि मा विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" (गी० १।३।२।) "न तदास्ति विना यत्स्यान्मया भूत चराचरम् ।" (गी० १०।३९) "विभेदजनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिके गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्त क करिष्यति" (वि० पु० ६।७।९४) "मायामात्रमिद द्वैतमद्वैत परमार्थत (गौ० पा० का० १७) इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृतिप्रामाण्यात् सर्वोऽपभोक्तृभोक्तव्यादिभेदप्रपञ्चस्तस्मिश्चिन्मात्रब्रह्मण्यनाद्यविद्यया परिकल्पित । इयञ्चानिर्वचनीयरूपाविद्यैवाज्ञानपदेनाभिधीयत ।

तच्चाज्ञानमागमप्रत्यक्षानुमानबलेनानादिभावरूपमेवावगम्यते । अभावरूपत्वे तु तुच्छतयाऽकिञ्चित्करत्वेन तद्विशिष्टस्य ब्रह्मणो

जगत्कारणत्वं न स्यात्। ननु नास्त्येव मत्सिद्धान्तेऽखिलदोषपूर्णस्यास्य जगतो ब्रह्मकारणत्वम्। तस्य निर्विकारत्वेन कौटस्थ्यभङ्गप्रसङ्गात्। अपि तु निरस्तसमस्तदोषगन्धं कार्यकारणविलक्षणं स्वानुभूतिरूपं वस्तु इति चेत्। चिरं जीवत्वायुष्मान्। कोह्यनुकूलमाचरति प्रतिकूलमाचरेत्। नास्त्येव वस्तुतोऽस्मन्नयेऽसङ्गस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्। न च तदभावे "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० ३।१) इत्यादिजगत्कारणत्वाभिधायिनीनां श्रुतीनां वैयर्थ्यमिति वाच्यम्। तासां जगदुपादानाज्ञानाधिष्ठानत्वेनैवोपपत्तेन ब्रह्म कारणमपि स्वज्ञानमेव। वस्तुतो नाज्ञानस्यापि तत्त्वं वेदान्तेन निर्दिष्टम्। तस्य भ्रमनिमित्तमात्रत्वेनैव उक्तत्वात्। कार्यकारणवादस्याप्युपनिषदनयानन्तर्गतत्वाद्विवर्तवादस्यैव वेदान्ततात्पर्यविषयत्वादिति। विवर्तश्च पूर्वसिद्धाधिष्ठानविरुद्धासदर्थस्यावस्तुनोऽवभासः। भवति चैव मरुमरीचिकासूदन्वतोऽवभासः स्फीतप्रकाशसमवस्थितशुक्तिकायां रजतस्य चेति। एवं व्यावहारिकसत्तामुपेयुषोऽस्य मिथ्याभूतस्य जगतोऽखण्डानन्दकरसे चिन्मात्रब्रह्मण्यध्यास इति समन्वयः।

तदेतदनादिभेदवासनाप्यायितकलेवरमज्ञानविजृम्भणं "तरति शोकमात्मवित्" इत्यागममहस्रवशेन निर्विशेषब्रह्मात्मैकत्वप्रकारकवस्तुज्ञानेन कृत्स्नं निवर्तते। तच्च ज्ञानमज्ञानं नाशयत्कतकरेणुवत्स्वयमप्युपशाम्यति। ततः परं यदवशिष्यते तत्स्वानुभूतिरूपं चिन्मात्रं ब्रह्मैव। तद्वस्तुभूतस्य ब्रह्मण एवाऽत्र जिज्ञासाभिमता सूत्रकृतामिति।

समाधानभाष्यम्।

तदेतदनास्वादितागमतत्त्वानां त्रयीसमधिगतार्थोऽनुष्ठानखिन्नानां कुतर्ककर्कशवागुरानिगडितान्तःकरणानां श्रुतिप्रतिपन्नतत्त्वपराहतमानसानां चोद्यमिदं धर्मपथारूढैश्श्रद्धाघनैरनादरणीयम्।

तथाहि निर्विशेषं ब्रह्मेति कथमवगतम् ? केनचित् प्रमाणेन तदतिरिक्तेन वा ? नाद्यः। प्रमाणगम्यत्वेन सविशेषतया निर्विशेषत्वाभावात्। न द्वितीयः। प्रमाणातीतस्य वस्तुनः प्रामाणिकैरनङ्गीकारात्। नापि षड्विधलिङ्गैर्वेदान्तानामद्वैततात्पर्यमित्यपि युक्तम्। तेषां सविशेषब्रह्मण्येव तात्पर्यावसायित्वात्। यत्तु स्वार्थसाधनाय केषाञ्चिच्छ्रौतवचसामुपोद्वलकतयोपादानम्, तत् "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानर" मितिन्याय स्मारयत् स्वविरुद्धार्थमेवोपस्थापयति। तथा हि "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० ६।४।१६) इत्यादौ नाद्वैतं प्रतिपाद्यते किन्तु इह द्रष्टव्ये ब्रह्मणि नानात्वं किञ्चन नास्ति–भेदलेशोऽपि नास्तीत्युच्यते। अयमभिप्रायः। स्थावरजङ्गमस्यास्य जगतो ब्रह्मकार्यतया तदन्तर्यामितया च तदात्मकत्वेनैक्यात्तद्भिन्नं नानात्वं प्रतिषिध्यते। अन्यथा "बहु स्यां प्रजायेय" (छा० ६।२।३) इति बहुभवनसंकल्पपूर्वकं ब्रह्मणो नानात्वं श्रुतिसिद्धं बालक्रोडनकं स्यात्। समबलश्रुत्योर्विरोधे तु विकल्प एव स्यात्। तस्य चाष्टदोषदुष्टत्वादनुपदमनङ्गीकारात्।

किञ्चैकमर्थं प्रतिपाद्य स्वयमेव निराकुर्वत्याः श्रुतेरुन्मत्तप्रलापित्वमपि दुष्परिहरम्। न च न स्वरूपेण निषेधं ब्रूमः किन्तु पारमार्थिकत्वाकारेणेति वाच्यम्। स्वरूपस्यानिषेधेऽबाध्यत्वलक्षणपारमार्थिकत्वस्यापि सत्त्वेन तस्यापि निषेधानर्हत्वात्। तस्मान्नास्मिन्प्रकरणे ब्रह्मातिरिक्तं निषिध्यत इति निर्विवादम्।

यदपि—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भय भवति" (तै० २।७।) इत्यादिना भेददर्शिनो भयप्राप्तिरित्युक्तम्। तदप्यापादनानर्हम्। तथाहि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छा० ३।१४।१) इत्यादौ सर्वस्यास्य जगतस्तदुदयावन–लयकर्मतया तच्छरीरानुसन्धानेनात्र शान्तिर्विधीयते तज्ज्ञानस्याभयजनकतया न भयोत्पादकत्वमिति। "अथ तस्य भयं भवती"

त्युत्तरवाक्यस्य तु "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नि"त्यादिना या प्रतिष्ठा विहिता तस्या भङ्गे भयमित्युच्यत इति स्पष्टोऽयमर्थः श्रुतिपदुप बृहणीभूतेतिहासपुराणेषु।

"सदेव सोम्येदमग्र" इत्यादिच्छान्दोग्यसद्विद्याप्रकरणेऽप्यस्य जगतो न मिथ्यात्व प्रतिपाद्यते। प्रत्युतास्य सन्दर्भस्य मिथ्यात्व खण्डन एव तात्पर्यम्। तथा हि—श्वेतकेतोर्जिज्ञास्यमशमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञान पूर्वं त्रिभिर्दृष्टान्तै सम्यगुपपाद्य दार्ष्टान्ते योजयितु सर्वस्यास्य ब्रह्मकारणत्वमेवेति प्रतिपिपादयिषारुद्दालकस्येयमुक्ति। अत्र चेद् बहुत्वावस्थ जगत्सृष्ट प्रागेकमेव। सृष्ट्यनन्तरं विभक्त नामरूपतया बहुत्वावस्थापन्नमपि सृष्टिप्राक्कालिकाविभक्तनामरूप तयैकत्वावस्थात्मकमेवाधिष्ठात्रन्तररहितसदात्मकमेवासीदित्यर्थ।"

सच्छब्दस्य विशेष्यभूतपरमात्माभिधायित्वेऽप्युत्तरत्रेक्षणपूर्वक बहुभवनरूपकार्यपरिणतत्वात्प्रकृते कारणत्वौपयिकगुणाश्रितत्व विशिष्टसूक्ष्मचिदचिच्छरीरकत्वरूपपरब्रह्मत्वमेव सत्पदप्रवृत्तिनिमि त्तम्। एवञ्चाग्रिमवाक्यानामप्यर्थ सङ्गच्छते। नहि यूनि देवदत्ते यथावकाश प्रसरमाप्नुवाना ज्ञानेच्छादयो गुणा बाल्ये नासन्निति शक्य कल्पयितुम्। तस्मान्निखिलशक्तिविशिष्टमेव ब्रह्म सृष्टे प्राक्कालेऽविभक्तनामरूपतया सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकमवतिष्ठत इति निर्विवादम्। अद्वितीयपदञ्चात्यन्तविलक्षण विसजातीयमेव ब्रह्मो पस्थापयन्निमित्तकारणान्तरमस्य जगतो व्यावर्तयति। न तु सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वम्ब्रह्मणोऽभिदधाति एकमेवेत्य त्रैवकारेण तस्यामवस्थायां व्यवच्छिद्यते बाहुल्यम्। एवञ्चाक्ष पादीयनये कारकव्यापारात्प्राक्कारणे कार्यस्यासत्त्वमप्यनेन सदिति पदेन व्युदस्तम्। तथाचानया श्रुत्या प्रवाहानादित्वमस्य जगतो ऽङ्गीकृत्याचद्‌द्वारक पारिणामिकमेवास्मिन् प्रकरणेऽभिधीयते। न तु सदसद्भ्या व्यपदेशानर्हं मिथ्यात्वम्। प्रत्युताग्रिमवाक्ये केषाञ्चि

दजुस्वान्तानामस्मिन्नर्थे मा भूद्विशय इति तन्मतमुपन्यस्य स्वयमेव दूषितत्वात्। "कथमसतः सज्जायेत" (श्वे० ६।२।२) इति। स्पष्टीकरिष्याम उपरिष्टाज्जन्माद्यधिकरण इममर्थमित्यत्र सक्षेपः।

एतेन 'यस्मात्परं नापरमस्ती" (श्वे० ३।९) त्याद्युपनिषत्सु "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धी' (गी० १३।२) त्यादिस्मृतिषु च प्रपञ्च मिथ्यात्वपूर्वकं परमार्थतोऽद्वैतमेकमेव ब्रह्माभिधीयत इति मायिमतं सर्वं व्याख्यातं वेदितव्यम्। दुराग्रहमात्रैकसाधनत्वात्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्गप्रसङ्गाच्च। नहि तन्मते ब्रह्मातिरिक्तं वस्त्वन्तरं सर्वपदाभिलप्यमस्ति यद्विज्ञानमेकविज्ञाननियतं स्यादिति। न च ब्रह्मस्वरूपेऽवगते तदध्यस्तं प्रपञ्चजातं ज्ञातमेव। अधिष्ठानमेव ह्यारोपितवस्तुनः स्वरूपम्। तद्व्यतिरेकेणावस्तुभूतस्य कल्पनामात्रलब्धसत्ताकस्य तस्य निर्देष्टुमशक्यत्वादितिवाच्यम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि–आध्यासिकः प्रपञ्चः स्वोपादानतया ब्रह्माश्रयति न वा? आद्ये स्वरूपसत्तया, असत्तया वा? यदि सत्तयेत्यभिधत्से, हन्त! तर्हि, आगतं प्रपञ्चे सत्यत्वम्। अथ चासत्तयेत्यन्तिमं पक्षं कक्षीकरोषि चेदमन्दमुपहास्यम्। आश्रयाश्रयिभावश्च सतोरेव कयोश्चिद्वस्तुनोः कुण्डबदरयोरिव लोकशास्त्रसिद्धः। द्वितीये ब्रह्मोपादानवादभङ्गप्रसङ्गः। ननु शुद्धस्य चिद्वस्तुनो नास्त्येवोपादानत्वमितिचेन्न। "यतो वे" (तै० ३।१।१) त्यादिश्रुतिशतव्याकोपप्रसङ्गात्। अथाध्यस्तोपादानमेव श्रुतिरभिधत्त इतिचेत्कोह्यर्थोऽनेन बालक्रीडनेन साधितः स्याद्भगवत्या श्रुत्या। अतः प्रपञ्चसत्यत्वमेव सर्वत्रोपदिष्टमितिदिक्।

यदपि चाज्ञानमनादिभावरूपं पदार्थान्तरमागमप्रत्यक्षानुमानबलेन प्रसाध्य तच्छबलितस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमितिकथनं तदपि महाम्भसि निमज्जतः कुशकाशावलम्बनमनुकरोति। तथा हि–भावरूपस्याज्ञानस्यागमेन साधयितुमशक्यत्वात्। न च "अनृतेन

हि प्रत्यूढा ” (छा० ८।३।२।) ‘ इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते (बृ० ४।५।१९) इत्याद्यागमा प्रमाणतामत्र दधत इति वाच्यम्। तत्रा नृतशब्दस्य बन्धप्रदायककर्मणि नियतत्वात्। “ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके” (कठ० ३।१) इत्यादौ भगवदाराधनरूपनिष्कामकर्मणो यत्फल तदृतमिति दृष्टत्वात्तद्व्यतिरिक्तमनृतमित्युच्यते। नह्यनेना नृतपदेनानिर्वचनीय भावरूपमज्ञानमर्हति वक्तुम्। न च, ‘ आयुर्वै घृतम्” (तैत्तिरीय० का० २। प्र० ३० अ० २) इतिवदनृतपदमत्र गौण्या वृत्त्याऽनिर्वचनीयभावरूपमज्ञानमभिधत्त इति वाच्यम्। सति शक्यार्थे तात्पर्य्यनिश्चये लक्षणाया अस्वीकार्यत्वात्।

एवमपरस्मिन् वाक्येऽपि मायापदस्याद्भुतरचनक्षमत्वमेव प्रवृत्ति निमित्त श्रुत्यन्तरपुराणकोशादितोऽवसीयते न त्वनिर्वचनीयाज्ञान त्वम्। *तस्मान्नागमतोऽज्ञान भावरूप शक्य प्रतिपत्तुम्।* प्रतिपादयिष्यते चैतदुपरिष्टादतोऽत्र सक्षेप ।

प्रत्यक्षेणाप्यनादिभावरूपस्य ज्ञाननिवर्त्यस्याज्ञानस्य साधन तु शक्यम्। नचाहमज्ञो मामन्यञ्च न जानामीति प्रतीतिरेव तदध्यक्षे मानम्। तथा हि निरुक्तप्रतीतावहमित्यात्मनोऽभावानुयोगितया तत्प्रतियोगितया च ज्ञानस्य प्रतिपत्तिर्भवति न वा ? यदि प्रथम कल्प कल्पयसि न तर्हि ज्ञानाभावप्रत्यय प्रसरतामासादयति। धर्मिप्रतियोगिनिश्चयाभ्या प्रतिबध्यमानत्वात्। नापि द्वितीय। अभावानुभवस्य स्वप्रतियोगिज्ञाननियतसापेक्षत्वात्। तस्मादिदम ज्ञान ज्ञाननिवर्त्यं भावरूपमेवेति नाभावमतमनुसृत्याभिहिताना दूषणानामवकाश । तथा च धर्मिप्रतियोगिज्ञानसमकालिक एवास्य भावरूपाज्ञानस्याप्यनुभव उपपद्यते। परस्पराविरुद्धत्वादितिवाच्यम्। अहमज्ञो मामन्यञ्च न जानामीत्याद्यनुभूयमानमज्ञानमभावरूपमेव न तु भावरूपम्, विकल्पकल्पनाकलुषितकलेवरत्वात्। तथा हि अज्ञानस्य निवर्तकाश्रयविषयतया किञ्चित्प्रत्यक्त्व प्रतीत न वा ? आद्ये

स्वरूपज्ञानवाध्यं तदज्ञानमिति नियमात् तत्प्रतीतौ कथङ्कारमवतिष्ठेत। अन्तिमे तु निवर्तकाश्रयविषयरहितमज्ञानं नतरामनुभूयते। तस्माद्भवदभिमतभावरूपस्याज्ञानस्य ज्ञानाभावसमानचर्चत्वात्तत्रैव पर्यवसानमित्ययमप्याशापाश. शिथिलबन्धोऽन्यत्राभिनिवेशात्। एवञ्चोभयसमधिगतज्ञानाभाव एवाहमज्ञो मामन्यञ्च न जानामीतिप्रतीतिगोचर इत्यभ्युपेयम्।

यदपि च कैश्चिन्मायिमतम्परिष्कुर्वद्भिर्नव्यैरविद्याया भावरूपत्वेऽनुमानं प्रदर्शितम्—विवादपदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावदिति। तदपि न युक्तिसहम्। स्वाभिमतमज्ञानं साधयितुं प्रयोजितेऽप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेनापसिद्धान्तापातात्। तदसाधने तु हेतोरनैकान्त्यम्। दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यञ्च। नहि प्रदीपप्रभाया अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वं सम्भवदुक्तिकम्। ज्ञानस्यैव तान्त्रिकै. प्रकाशकत्वाभ्युपगमात्। अन्यथा ज्ञानरूपस्यात्मन एव स्वयप्रकाशकत्वमिति भवत्सिद्धान्तो व्यालुप्येत। विद्यमानायामपि प्रदीपप्रभायामन्तरेण ज्ञानं विषयप्रकाशासम्भवात्। प्रदीपप्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानमुत्पादयतस्तत्प्रतिकूलतमस्तिरस्करणेनोपकारकत्वमेव। तस्मान्नागमप्रत्यक्षानुमानानि प्रभवन्ति भावरूपमज्ञानं साधयितुमित्यलमनेन शुष्कतर्कनिरासायासेनेत्युपरम्यते।

किञ्च, केवलतर्कवादास्तु सूत्रकृद्भि स्वयमेव, तर्काप्रतिष्ठानादपि (ब्र० २।१।११) इतिविलक्षणत्वाधिकरणे निराकृता.। अत एव

"आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर.।"

इति भगवता मनुनापि सिद्धान्तितम्। केवलतर्केणैव कार्यनिर्वाहे आगममर्यादाया. प्राधान्येनोद्घोषणं व्यर्थमेव स्यात्। एवञ्च निरुक्त

भवत्प्रयोगे हेतो सत्प्रतिपक्षिताऽपि सम्भवति। तथाहि—विवादाध्यासित प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्ताज्ञानपूर्वक न भवति, प्रमाणज्ञानत्वाद्भवदभिमताज्ञानसाधनप्रमाणज्ञानवदित्यादिप्रयोगाणामपि जागरूकत्वादिति दिक्।

अपि च येयमनादिभावरूपाऽविद्या भवद्भिरास्थीयते सा कार्यरूपाऽकार्यरूपा वा? कार्यरूपेतिचेत्किमस्या कारणमिति विवेचनीयम्। अविद्यान्तरमितिचेन्न। अनवस्थादोषभयात्। सैव कारणमितिपक्षस्तु आत्माश्रयदोषप्रसङ्गाद्धेय एव। एकस्यामेव कारणत्व कार्यत्वञ्चेत्युभयमसम्भवि, विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्। ब्रह्मण एव कारणत्वमित्यपि न युक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमुपाधिविशिष्टम्ब्रह्मैव तस्या कारणमाहोस्वित्तद्रहितम्। तत्र न प्रथम। अविद्याया प्रागुपाधीनामसत्त्वात्। सत्त्वे तु किं तस्य कारणमिति विचारे सैवानवस्था पिशाची दुरवस्था स्यादतो विषमोऽयमुपन्यास। न द्वितीय। शुद्धायाश्चिच्छक्तेस्त्वन्मतेऽकारणत्वात्। अभ्युपेताऽपि शुद्धस्य कारणत्व न मुक्तिर्दोषशृङ्खलातो, यत ससृते कारणमज्ञानमेव, तस्यैव च ससृतेस्सामग्रीत्वेन मुक्त्यभाव प्रसज्जेत, संसृतिसामग्रीतयाऽवसितस्याज्ञानस्याद्याप्यविनष्टत्वात्। अथाकार्यरूपत्वेऽनादिभावपदार्थस्यानिवृत्त्यभावात् तन्निवर्तकगुरुशास्त्रोपदेशवैयर्थ्यम्। प्रयोगश्च—विमता अविद्या न निवर्तते, अनादित्वे सति भावपदार्थत्वाद्ब्रह्मवत्। स्यादेवम्। इदमज्ञान स्वस्मिन् कार्यकारणतां परित्यजत् सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमेव रूप धत्ते। एवञ्चास्याज्ञानस्य मायापदाभिलप्यस्य भूषणमेवेद यल्लक्षणविवेचनाश्रान्तत्व न दूषणमिति। मैवम्। अनिर्वचनीयस्य वस्तुनो दुरुपपादत्वात्। तथाहि-सर्वं हि वस्तुजात प्रातिस्विकरूपेण सत्तयाऽसत्तया वा शक्यते निर्वक्तुम्। न त्वेकस्यैव वस्तुन सत्त्वविशिष्टासत्त्वम्, असत्त्वविशिष्टासत्त्व वा। एतेन सदसदनधिकरणत्वमेवानिर्वचनीयत्व

मितिकथनमपि प्रत्युक्तम् । इतरेतरविरुद्धत्वात् । सद्विलक्षणमसदेव भवति, असद्विलक्षणञ्च सदिति लोकव्यवहारात् । तदुभयविलक्षणस्य वस्तुन प्रामाणिकैरनङ्गीकारात् । सद्विलक्षण किन्तु नासत्, एवमसद्विलक्षणमपितु न सदितिकथनन्तु "ममानने जिह्वा नास्ती" तिकथनवद्व्याहतार्थकत्वादनादरणीयमेव । तस्मादस्यानिर्वाच्यस्या ज्ञानस्यानिर्वचनीयतैवेति न प्रागुक्तदूषणनवनिर्मुक्तिरितिसर्वं स्पष्टम् ।

एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिबलाच्च विशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्ममीमांसाशास्त्रस्य विषयो न तु केवलाद्वैतम् । तथा हि—चिदचिद्वस्तुनो शरीरतयाऽपृथक्सिद्धत्वेन प्रकारत्वम्, तद्विशिष्टस्य ब्रह्मणश्च शरीरित्वेन प्रकारित्व शाश्वतिकमेव काश्चन श्रुतयोऽभिदधते । "पृथगात्मान प्रेरितार च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" (श्वे० १।६।) 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" (श्वे० १।९) "भोक्ता भोग्य प्रेरितारञ्च मत्वा" (श्वे० १।१२) 'क्षर प्रधानममृताक्षर हर क्षरात्मानावीशते देव एक " (श्वे० १।१०) "प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश " (श्वे० ६।१६) अत्र प्रधानक्षेत्रज्ञपदाभिधेययोश्चिदचितोर्भोक्तृभोग्यत्वेन पतिरितिपदेन च तयोर्नियमनकारित्व परमात्मन इति स्पष्टतयैवाभिहितम् । गुणेश इतिपदञ्च सत्यकामत्वसत्यसकल्पत्वादिनित्यगुणयोगञ्चाभिदधाति । "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।" जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक (श्वे० ४।६) "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप " (श्वे० ६।९) "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (श्वे० ६।१३) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य ।" (तै० आ० ६।१०, ना० १२।१) "य पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद यस्य

पृथिवी शरीर य पृथिवीमन्तरो यमयत्येप त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३।७।३) "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीर य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३।७।२२) "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षर शरीर यमक्षर न वेद। अन्त प्रविष्ट शास्ता जनाना सर्वात्मा" (तै० आ ३।११ २) इत्येवमादय । एप एवाभिप्राय स्मृत्यादिपु बाहुल्येनोपलभ्यते। यथा—

प्रकृतिं पुरुप चैव विद्धयनादी उभावपि (गी १३।१९)
मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (गी० ९।१०)
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भव सर्वभूताना ततो भवति भारत ॥ (गी० १४।३।)
उत्तम पुरुपस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर ॥ (गी० १५।१७)
प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।
पुरुपश्चाप्युभावेता लीयेते परमात्मनि ।
परमात्मा च सर्वेपामाधार परमेश्वर ।
विष्णुनामा स वेदेपु वेदान्तेपु च गीयते ॥
(वि० पु० ६।४।३८ ३९)

"ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्र० सू० १।१।५) 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" (ब्र० सू० २।१।१५) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । (ब्र० सू० १।४।२३) इत्याद्या । 'ईक्षतेर्नाशब्द" मित्यत्राशब्दप्रतिपाद्यस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वं निरस्य सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मण एव तत्त्वमीक्षणकर्तृत्वेन हेतुना सम्यगुपपादितम । एवञ्च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टेन सह स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य प्रपञ्चस्याभेदस्तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इत्यादावभिहितम् ।

"सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) इत्यभेदशब्दस्यापि चिदचिद्विशिष्टपरत्वमेव। अतएव च सामानाधिकरण्यम्। एवं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१) "तत्वमसि" (छा० ६।८।१६) इत्यादावपि सर्वादिपदानां तत्तच्छरीरकपरमात्मपरत्वात्सर्वादिपदब्रह्मादिपदयो सामानाधिकरण्यं मुख्यमेव। शरीराभिधायिपदानां शरीरिणि शक्तिरितिसिद्धान्तात्। न च स्थाणुः पुरुष इतिवद्बाधार्थं सामानाधिकरण्यं तथा च ज्ञितं विवर्तवादेनेति वाच्यम्। "सदेव सोम्येदमि"त्यादि'श्रुता' अग्र इति निषेधविरोधात्। एवञ्च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्विशिष्टम्प्रत्युपादानत्वमुपपन्नम्। भाव्यवस्थाविशेषवत' प्रागवस्थाश्रयत्वमेवोपादानत्वम्। एवञ्चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापि सम्यगुपपन्ना भवति। भवन्मते तु ब्रह्मणोऽतिरिक्तस्य कस्यचिदपि वस्तुनोऽभावात् "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञात स्या" दित्यादौ कस्य श्रुतेन किमश्रुतं श्रुतं स्यात्। द्वितीयस्यासद्भावादितीयमपि प्रतिज्ञा निरालम्बना स्यात्। यदि चाधिष्ठानभूतायाश्चिच्छक्ते पारमार्थिकत्वेन परिज्ञाते तदध्यस्तस्याखिलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेनावगतिर्भवत्येवेत्युच्यते; हन्त ! तर्हि परिज्ञानप्रयोजनमेव मन्दफलकम्। पारमार्थिकमिथ्यात्वपदयो. श्रुतिविरुद्धयोरध्याहारः। दृष्टान्तानुपपत्तिश्च स्पष्टैव। तथा सत्येकेन शुक्तिशकलेन सर्वं रजताभ्रकादिकं यथा वा सोम्यैकया रज्ज्वा सर्वं सर्पभूदलनाम्बुधारादिकं विज्ञातं स्यादित्येव ब्रूयात्। यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादित्यादि दृष्टान्तनये तु परिणामवाद एव मगच्छत इति सुधिय एव विभावयन्तु।

न चैवमभेदनिरासे श्रुतिव्याकोपः "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" (छा० ८।३।४) "स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत नहास्योद्ग्रहणायैव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत

लवणमेवैव वा अरे इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघनएवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सञ्ज्ञास्तीति' (बृ० २।४।१२) "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मु० ३।१।३) "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय" (मु० ३।२।८) 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" (मु० ३।२।९) इत्यादावसकृत्तथैव प्रतिपादितत्वादितिवाच्यम्। अभेदवादस्योदाहृतश्रुत्यर्थास्पृष्टत्वात्। तत्रच मुक्त्यवस्थैव प्रतिपाद्यते। परं ज्योतिः परमात्मानमुपसम्पद्य याथार्थ्येनावगम्य स्वेनानन्दरूपेण तिष्ठतीति प्रथमश्रुत्यर्थः। द्वितीयायान्तु विज्ञानघनो जीवः पाञ्चभौतिकं देहम्परित्यज्य सर्वाधारे परमात्मनि विनश्यति लीनो भवति देवादिनामरूपपरित्यागादित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः, "स यथा सैन्धवखिल्य" इत्यादि। सैन्धवखिल्यो लवणपिण्डः एकरूपताम्भजते। न हि रूपतः पार्थक्यं दृश्यते परं यतो यत आदिमध्यान्ताचमने तु रसतो वैधर्म्यं ज्ञायत एव। एतदुक्तम्भवति। यथा सैन्धवघनः उदके प्रास्तस्तत्र लयमुपगच्छति समानाकारतया च पार्थक्येन ग्रहणं न भवति परं परिमाणविशेषेण रसविशेषेण च शक्यत एव विवेक्तुं तथा ब्रह्मलीनोपीति तात्पर्यम्। अत एव 'निरञ्जनः साम्यमुपैती'त्यादौ भेदघटितं साम्यमेवाभिहितम्। न केवलं साम्यमात्रमपितु परमं साम्यमित्युक्तम्। अतिशयभेदद्योतनायैव परमेण विशिष्यते। नदीसमुद्रदृष्टान्तेऽपि नामरूपभेदाभाव एव विवक्षितः। तत्रापामाधिक्यं परं केन निवार्यते। एवञ्च भवदभिमताभेदे दृष्टान्त एव नास्तीति सिद्धम्। तस्मात्सत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिदिव्यकल्याणगुणविशिष्टस्य सविशेषब्रह्मण एवात्र शारीरकमीमांसाशास्त्रे जिज्ञासाऽभिमता सूत्रकृतामिति सर्वं समञ्जसम् ॥१।१।१॥

(इति जिज्ञासाधिकरणम्)

(जन्माद्यधिकरणम्)

ब्रह्मप्राप्तिकामस्य मुमुक्षोस्तज्जिज्ञासनमेव युक्तन्तत्र तद्विषयी भूतं ब्रह्म निर्गुणं सगुणं वोतोभयविधश्रुतिप्रतिपाद्यमेकमेवेति विषये मीमांसकानां धर्मजिज्ञासायाः सम्मतत्वात्, सांख्यवैशेषिकाणाञ्च प्रकृतिपुरुषद्रव्यगुणादिपदार्थतत्त्वज्ञानस्यात्मतत्त्वज्ञानद्वारा मोक्ष-साधनत्वाभिमतत्वात्तेषां ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रयोजनत्वाभावेन तन्म-तस्य पूर्वपक्षत्वानुपपत्तेरस्मिन्च्छारीरकमीमांसाशास्त्रे जगत्कारण-सगुणब्रह्मजिज्ञासायाः सिद्धान्तितत्वात्तद्दृढीकरणकामो मुनिस्ताव-दादौ ब्रह्मस्वरूपं लिलक्षयिषुर्निरचयाञ्चकार द्वितीय सूत्रम्। तत्र मुमुक्षुजिज्ञास्यस्य लक्षणमसम्भवि। चिदचितोरतिरिक्तस्य वस्तुनो-ऽसिद्धत्वात्, वेदान्तवाक्यानाञ्च कर्मस्वरूपविवेचनायामेवापक्षीण त्वादित्याशङ्कायामाह—

जन्माद्यस्य यतः १। १। २।

तैत्तिरीये श्रूयते "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति" श्रुतिरियं ब्रह्मणो लक्षणविधयाऽभिधातुमीष्टे न वेति विषयस्तत्र च पूर्वः पक्षः, ब्रह्मणः स्वावधिकोत्कृष्टत्वाभाववत्तयाऽसाधारणधर्मवत्तया स्वसादृश्यवदभावेन "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वे० ६।८) इत्यादिश्रुतिशतैरुपवर्णितात्तादृशनिस्समाभ्यधिकस्य कस्यचिदपि वस्तुनोऽसिद्धतया तस्य लक्षणतः प्रतिपत्तुमशक्यतया तादृशवस्तु-प्रतिपादने वेदान्तानामप्रामाण्यासम्भवेन जिज्ञासनमसङ्गतम्। यतो वेत्यादिश्रुतिसमधिगतजगज्जन्मादिकारणत्वादिरूपधर्माणाञ्च नानात्वाद्धर्मिभेदोऽपि दुष्परिहरः। इतरव्यावृत्तिविशिष्टवस्तुबोध-कत्वमेव लक्षणत्वम्। तच्चोपलक्षणविधया वा विशेषणविधया वेत्यन्य-

देतत् । प्रकृते तु त्वदुक्तरीत्या "यतो वा इमानी" इत्यादिश्रुतिर्न कयापि रीत्या ब्रह्मणो लक्षणमभिधाय प्रमाणतामास्थातुमर्हतीत्यार्थवादिकत्वमेव तच्छ्रुतेः स्यात् । किञ्च वेदान्तेषु निर्विशेषमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यते । तथाहि—"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । यत्तद्द्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिम्परिपश्यन्ति धीराः" (मु० १।१।६) "यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च" (मु० १।१।७) "यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति, यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" "तस्मादेतद्ब्रह्मनामरूपमन्नञ्च जायते" "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायु ज्योंतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी (मु० २।१।३) इत्यादिश्रुतिशतप्रतिपाद्यं निर्गुणं ब्रह्म । यत्र चराचरञ्जगदध्यस्तमस्ति । यच्चराचरात्मकजगत्कल्पनाधिष्ठानं सर्पकल्पनाधिष्ठानरज्जुवत्तन्निर्गुणञ्ब्रह्म जिज्ञास्यमित्यतो जगतो ब्रह्मण्यध्यस्तत्वज्ञानायाध्यासस्वरूपं प्राग्विवेचनीयम् । तत्राहु । युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासस्तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणाञ्च विषयाध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् । तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराऽविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्त सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदमिति ममेदमिति च नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः । आह कोऽयमध्यासो नामेति ? उच्यते । स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभास इति । अस्यार्थः । परत्र रज्जुशुक्तिकादिषु पूर्वदृष्टानां सर्परजतादीनां योऽवभासः सोऽध्यास इति संक्षिप्तार्थः । स्यात्यन्तरवादिनां सर्वेषां तान्त्रिकाणामप्यस्मिन्नेवार्थे पर्यवसानमितिम·

न्तव्यम्। एवञ्च युक्तमेवोक्तलक्षणस्याध्यासस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तत्वम्। नचैकान्ततस्तस्याध्यासस्य सत्त्वमेवेष्टव्यम्। उत्तरकालिकबाधदर्शनात्। अन्यत्र स्थितस्य सत्यभूतस्य रजतादेरत्राभानत्वाद्बाधो युज्यत एवेतितत्त्वम्। नचासत्त्वमप्यपरोक्षतयानुभवविषयतया च प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नचैकस्य सदसत्त्वं परस्परविरोधात्। अतोऽनिर्वचनीयत्वमेवेतिसिद्धम्। स चायमध्यासो द्विविधस्तन्मतावलम्बिभिर्वर्णितः। प्रथमः परत्र परावभास इतिलक्षणोऽध्यासो ब्रह्मणि सर्वचराचरजगदध्यस्तत्वबोधनाय स्वीकृतः। द्वितीयस्तु अतस्मिंस्तद्बुद्धिरितिलक्षणः प्रत्यगात्मनि ब्राह्मणादिदेहेन्द्रियाद्यध्यासबाधनाय स्वीकृत इति। तदयमध्यासः सर्वथाऽक्षम एवाद्वैतमुपपादयितुम्। तथाहि—विचारेण विमृश्यमाने चानेनाध्यासेन न जीवानां न वा प्रकृतितत्कार्याणां देहेन्द्रियादीनां शुक्तिकाकल्पितरजतवद्रज्जुकल्पितसर्पवच्च ब्रह्मणि कल्पितत्वेन मिथ्यात्वमुपपद्यते। किन्त्वनात्मनि देहादावात्मबुद्धिर्या अहं ब्राह्मणः क्षत्रिय इतीदृशी सैवाविद्येति तत्प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इत्येवमादितदीयवचनैरवगम्यते। तानि च जगन्मिथ्यात्वसाधकब्रह्मात्मैकत्वबुद्धेरेव मिथ्यात्वमवगमयन्ति। तथाहि—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभास इत्युपक्रमाभिहिताध्यासलक्षणस्यायमर्थः। परत्रेत्युक्ते परस्येत्यार्थिकम्। परत्र परावभासोऽध्यासः। एतदुपपादकतया स्मृतिरूपत्वं तत्साधनार्थं च पूर्वदृष्टत्वमुपात्तम्। अवभासनमवभासः। परस्य रजतसर्पादेः परत्र शुक्तिरज्ज्वादिष्ववभासः परावभासः। स्मर्यत इति स्मृतिः स्मर्यमाणोर्थः "भावे" (पा० ३।३।१८) "अकर्तरि च कारके संज्ञायामि" (पा० ३।३।१९) ति सूत्रद्वयमधिकृत्य "स्त्रियां क्तिन्नि" (पा० ३।३।९४) तिसूत्रेण भावे कर्तृव्यतिरिक्ते च कर्मादौ कारके संज्ञायामसंज्ञायां क्तिन्विधानात्। "अकर्तरि चेति" (पा० ३।३।१९) चकारस्य संज्ञायाव्यभिचारार्थ-

त्वाङ्गीकारात्। स्मर्यमाणस्य रजतादेः रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूप शुक्त्यादौ स्मर्यमाणो यो रजतादिरूपोऽर्थस्तस्य रूपमिव रूपमस्य ब्रह्मणि जगदध्यासस्येति स्मृतिरूपोऽन्यत्र पूर्वदृष्टस्य रजतादेरपदार्थस्य यथा शुक्तिरज्ज्वादावबभासो भवति शुक्तिरज्जुस्वरूपानभिज्ञाना न तत्र वस्तुतो रजतादिरस्ति तथा ब्रह्मण्यधिष्ठाने चराचरस्य जगतोऽवभासमात्र भवति। तत्त्वस्वरूपज्ञानविधुराणामित्यधिष्ठाने ब्रह्मण्यारोप्यस्य जगतोऽत्यन्ताभाव एव दर्शितो भवति। एवञ्च भ्रमदशायामप्रतीयमानत्वे सत्यारोप्यस्याश्रयत्वमधिष्ठानत्वं यथा रज्जु सर्पस्याधिष्ठानम्। प्रतीयमानत्वे सत्यारोप्यस्याश्रयत्वमधिष्ठानत्वमपि द्वितीयलक्षणम्। तदुदाहरणञ्च, यथा शुक्तिकाऽऽरोप्यस्य रजतस्याधिष्ठानमित्यधिष्ठानलक्षण दृष्टान्ते साङ्गत्यमुपैति। प्रकृते त्वस्याध्यासस्याधिष्ठानानुपपत्तिरिति स्पष्टम्। एतदुक्तम्भवति। पूर्वदृष्टस्य रजतसर्पादेरवभास शुक्तिरज्ज्वादौ कल्प्यते। अन्यत्र रजतसर्पादे सत्यत्व शुक्तिरज्ज्वोस्तदवभासस्य मिथ्यात्वञ्च निर्बाधम्। अन्यथा पूर्वदृष्टयो रजतसर्पयोर्मिथ्यात्वाङ्गीकारे तयोरसत्योरन्यत्रावभासानुपपत्तेरित्यध्यासवादासिद्धयाद्वैतासिद्धिः। परत्र परावभास इत्येतावन्मात्रमेवाध्यासलक्षणमिति चेत्तर्हि परत्र परावभासस्य मिथ्यात्व परत्र परशब्दवाच्ययो शुक्तिरजतयोरिव ब्रह्म जगतोरुभयो सत्यत्वमेवापन्नमन्यथा परस्य मिथ्यात्वाङ्गीकारे तदवभासवचनानुपपत्तेरध्यासवादासिद्धयाऽद्वैतासिद्धिरित्यद्वैतसाधनाक्षमस्याध्यासस्य सार्थक्य साकारे श्रीरामचन्द्रचरणे निष्पद्यते। तथाहि तत्रावभासमानाना जगद्धर्माणा शोकमोहक्रोधादीना मिथ्यात्वनिष्पत्त्या परत्र श्रीरामचन्द्रे परस्य शोकमोहादिजगद्धर्मस्यावभास। परत्र परावभास इत्यध्यासलक्षणस्य सार्थक्यसम्भव। ब्रह्मणि चराचरजगदध्यस्तत्ववादस्य सर्वथानर्थक्यनिष्पत्तेश्च। किम्बहुनोक्तेन, वेदशास्त्राणां समेषा ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन मिथ्यात्वकथनमन्त

रेण ब्रह्मणोऽद्वैतस्यासिद्धि । तथा मिथ्यात्वस्वीकारे मिथ्याभूतै र्वेदान्तवाक्यैस्तत्त्वमस्यादिभिरसाधितस्य ब्रह्मण्यद्वैतस्य मिथ्यात्वोपपत्त्या ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वोपपादकोऽयमद्वैतसाधकोऽध्यासोऽनादरणीय इति । किञ्च जगन्मिथ्यात्वसाधनसमर्थस्याध्यासस्य परैरङ्गीकृतस्य कर्तृत्व ब्रह्मणो जीवात्मा वा ? नाद्य । ब्रह्मणस्तत्कर्तृत्वे तस्याधिष्ठानानुपपत्तिरज्ञत्वापत्त्या ससारित्वापत्तिश्चानिवार्या स्यात् । न द्वितीय । जीवात्मा ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन तस्मिन्नेव ब्रह्मणि जगदध्यासस्य कर्तृत्वानुपपत्त्या ससारित्वानुपपत्त । नचोभयोस्तदिति वाच्यम् । दृष्टान्तासिद्धे । तथाहि—यथा शुक्तिकाया रजतमध्यस्त तत्र न रजतशुक्तिकयोरुभयोरन्यतरस्य वा तत्कर्तृत्व किन्तु तदन्येषा तत्र भ्रान्तिमता मनुष्याणामेव । एव रज्जौ सर्पाध्यासस्य कर्तृत्व नाधिष्ठानभूताया रज्जोर्नचाध्यस्तस्य सर्पस्योपपद्यत । उपपद्यते चान्येषा भ्रान्तिमता प्राणिनाम् । तथाधिष्ठाने ब्रह्मणि सर्वं चराचरात्मक जगदध्यस्तमित्यत्रापि नाधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणस्तत्कल्पितस्य जगतो जीवात्मा वाध्यासकर्तृत्वमुपपद्यते न वा भ्रान्तिहेतुक ससार उपपद्यते । एतदध्यासकर्तृत्वादिक ब्रह्मणि जगज्जीवभ्रान्तिमता ब्रह्मजगद्भिन्नानामेव सम्भवति । नचैतादृशा ब्रह्मतदध्यस्त जगज्जीवभिन्ना केप्युपलभ्यन्ते येन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुभयोरपि सामञ्जस्य निर्वहेदित्यत्र सक्षेप । स्यादेवम् । नास्माभिस्तल्लक्षणमध्यासस्य सिद्धान्ततयाऽभ्युपेयते परमतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्युक्तलक्षण एव । अतस्मिन्ननात्मनि देहेन्द्रियादौ तद्बुद्धिरात्मबुद्धिरह ब्राह्मण क्षत्रियादिक स्थूल कृश गौरो मूढ काणोऽन्धो बधिरो गच्छामि श्रोता वक्ता द्रष्टा कर्ता भोक्ता इत्येवमादिरूपाऽनात्मन्यात्मबुद्धि । सैवाऽध्यासपदवाच्येत्यर्थकोऽयमध्यास एव यथार्थो लोकशास्त्रप्रसिद्धश्चास्माभिरङ्गीक्रियत इति तदपि तुच्छम् । स्वाभिमतविरुद्धार्थोपस्थापकत्वात् । स्वोदीरितग्रन्थविरोधश्च । तथाहि—अध्या

सेनाऽनेन जीवानाम्प्रकृतेश्च तत्कार्यभूतानां देहेन्द्रियादीनां नित्यत्वमेव साध्यते तदीयग्रन्थस्थतत्प्रकरणोपसंहारस्वारस्यात् । तत्र हि-एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व-भोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्ष इत्यनेनाध्यासस्यानाद्यनन्तत्वोक्त्या-ऽऽद्यन्तरहितत्वेनाध्यासस्य नित्यत्वज्ञापनात् । तत्कर्तॄणां जीवाना-मप्याद्यन्तरहितत्वेन नित्यत्वाऽविनाशित्वोपपत्त्या सनातनत्वोप-पत्तेः । "अजामेकाम्", "अजो ह्येक." (श्वे०।४।५।) इतिप्रकृति-जीवयोरजत्वश्रुत्याऽनादित्वेन नित्यत्वोपपत्तेश्च । "नित्यः सर्वगत-स्थाणुरचलोऽय सनातन·" "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि" (गी० १३।१९) इति भगवताऽपि जीवानाम्प्रकृतेश्च नित्यत्व-सनातनत्वानादित्वबोधनान्नानेन स्वेष्टसिद्धिः । अनात्मन्यात्म-बुद्धिमात्रस्य मिथ्यात्वसाधकतयाऽयमध्यासो न ब्रह्मणोऽद्वैतत्व-साधकः । "अपि त्वात्मऽनात्मनोर्जीवदेहयोरन्योन्याध्यासपर एवेतिसिद्धम् । नन्वत्र मदीयसिद्धान्तग्रन्थे प्रत्यगात्मपदेन ब्रह्मोच्यते तत्र च देहेन्द्रियादीनामध्यस्तत्वेन ब्रह्मणोऽद्वैतत्वं सिद्ध्यतीति चेन्न । जीवस्य चेतनात्मकस्याचेतनदेहेन्द्रियादिपदवाच्यत्वाऽनुप-पत्त्या स केन शब्देनोच्यते ? अनात्मन्यात्मबुद्धिरेव जीव इति चेन्न । तस्याः प्रकृतिकार्यत्वेनाऽचेतनरूपायाश्चेतनजीववाचकत्वा-नुपपत्तेः । न च तत्र ग्रन्थे प्रत्यगात्मपदेन जीव एव गृह्यत इति वाच्यम् । एवं सत्यधिष्ठानत्वेन तस्याध्यस्तत्वाऽसिद्धेः । कल्पित-त्वानुपपत्त्या च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य तस्यापि सत्त्वेनाद्वैतासिद्धिः । एवञ्च शुक्तौ रजताऽध्यासवद्ब्रह्मणि जगदध्यस्तमस्तीत्ययम्पक्षः कथ-मपि नोपपद्यते । निरुक्तरीत्या ब्रह्मजीवयोरन्यतरस्याप्युक्ताध्यास-कर्तृत्वानुपपत्त्या तत्कर्त्रभावेन तदसिद्धेः ।

एतेनाद्वैतसाधनाय कल्पितस्य ब्रह्मणि जीवभावकल्पितत्वार्थ-कस्याऽध्यासवादस्य निरासेन तन्नान्तरीयकतयाऽद्वैतसाधनाय

कल्पिता विवर्तादिवादा अपि निरस्ता वेदनीयाः । तथा च तान्वादानाश्रित्य श्रुतिस्मृतिसूत्राणामानर्थक्येनाऽद्वैतवादस्य निर्मूलकत्वमेवेति । किञ्चैतन्मते जीवभावस्यारोपितत्वेन मिथ्यात्वे तद्भुक्तिमुक्त्युपायबोधकानां शास्त्राणां मिथ्यालापकत्वाऽऽपत्तिः । इमानि सच्छास्त्राणि सृष्ट्यादीनि च परमात्मकर्माणि सर्वथोपयन्ति सार्थकतां जीवानां तत्कर्मणां प्रकृतेश्चानाद्यनन्तत्वपक्ष इति तथैव तत्सामञ्जस्यायावश्यमभ्युपेयम् । अद्वैतवादिमते तु परमपुरुषकर्तृकसृष्ट्यादिकर्मणां वेदान्तादिसच्छास्त्राणां गुरूपदेशस्य चैकान्ततो नैरर्थक्यमेवेति स्पष्टम् । किं चास्याऽध्यासस्यासम्भवोऽपि सुतराम् । तथाहि "सदेव सोम्येदमग्र" (छा० ६।२।१) इत्यादिश्रुतिभिरद्वितीयं स्वसजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यम्ब्रह्मैवाऽग्र आसीदित्यर्थस्तेषाम्, तदा प्रकृतेर्जीवानाञ्चात्यन्ताऽभावात् कि वस्तु स्वस्मिन्नध्यस्य ब्रह्म जीवत्वम्प्राप्तमिति विवेचनीयम् । सृष्टेः प्राक्काले जीवानामभावेन तत्कृतकर्मणामप्यसत्त्वादन्तरेण निमित्तं प्रयोजनञ्च जीवशरीरेन्द्रियादीनां रचनानुपपत्तेः । उपादानपदार्थान्तराभावाऽप्यनुपपत्तावुपोद्बलकम् । तदानीम्प्रकृतेरतिरिक्तस्य पदार्थस्याऽभावात् । प्राक्काले जीवासत्त्वमेव जीवकृतकर्मासत्त्वमवगमयत्तत्फलभोगायापेक्षितशरीरेन्द्रियादिरचनायास्तैश्च सह जीवसम्बन्धस्य व्यतिरेकं ग्राहयति । न च "तदैक्षत बहु स्याम्प्रजायेय" (छा० ६।२।३) इतिश्रुतिप्रामाण्यात्स्वेच्छया लीलार्थमेव स्वस्मात्प्रकृतिमुत्पाद्य तां च स्वस्मिन्नध्यस्य स्वय जीवभावम्प्राप्य तयैव प्रकृत्या जीवार्थं शरीरेन्द्रियाणि कारितानीति वाच्यम् । इच्छावत्त्वेन ब्रह्मणि सगुणत्वसिद्धेः । स्वस्मादचेतनप्रकृत्युत्पादकत्वेन विकारितया निर्विकारत्वप्रतिपादकश्रुतेर्व्याकोपः । स्वस्यैव ब्रह्मणो जीवत्वेऽज्ञत्वसंसारित्वादिदोषाणाम्पुनरनुद्धारश्च । अपि च प्रकृतिरपि कं निमित्तीकृत्य कस्मै प्रयोजनाय जीवसाधनभूतानि शरीरेन्द्रिया-

दीनि रचयेत्। न तावत्कर्मणो निमित्तत्वम्। क्रियत इति हि कर्म तस्य च स्वतोऽनादित्वाऽसिद्धेः। शरीरेन्द्रियसम्बन्धात्पूर्वन्तु तेषामभाव एव। "कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते" (गी० १३।२०) इतिभगवद्वचनबलाच्च प्रकृतेरेव शरीरेन्द्रियरचनकर्तृत्वमकामेनाऽपि भवताऽभ्युपेयम्। तच्च त्वन्मते नैव सम्भवति। ननु ब्रह्मणा स्वयं कर्माण्युत्पाद्य जीवैः कारितानि कर्माणि वा निमित्तीकृत्य तत्फलभोगार्थं प्रकृत्या तच्छरीरेन्द्रियाणि कारितानीति चेन्न। जीवानां शरीरेन्द्रियसम्बन्धात्पूर्वं शरीरेन्द्रियरहितानां तेषां कर्मकर्तृत्वानुपपत्त्या ब्रह्मणा तैः कारयितृत्वाऽसम्भवात्। कथञ्चित्सम्भवेऽपि विषमसृष्टिहेतुभूतविषमकर्मकारयितृत्वेन तस्मिन् वैषम्यनैर्घृण्यापत्तेः। एवञ्च जीवानां शरीरेन्द्रियसम्बन्धमन्तरेण कर्मकर्तृत्वानुपपत्त्या कर्मणामसिद्धिः। तदतिरेकेण शरीरेन्द्रियरचनायास्तैश्च सह जीवसम्बन्धासम्भवादितीतरेतराश्रयदोषस्य दुरूद्धरत्वादयमद्वैतवादो ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याऽखिलस्य मिथ्यात्वबोधकतया प्रकृतेर्जीवानाञ्च तद्भुक्तिमुक्त्युपायबोधकश्रुतिस्मृत्यादीनां सर्वेषां शास्त्राणां मिथ्यात्वापादनमन्तरेण स्वरूपसत्तामलभमानः श्रुतिसत्तर्कादिविरोधितया स्वयमेव मिथ्यात्वङ्गत इति सर्वतश्चतुरस्रम्। तस्माज्जगत्सृष्ट्यादिरचनानुगुणं जीवानां तत्कर्मणां प्रकृतेश्चाऽनाद्यनन्तत्वमवश्यमङ्गीकार्यम्। तथा चात्र श्रुतिस्मृतयः "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः जनयन्तीं सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वे० ४।५) "गौरनाद्यन्तवती सा जनयित्री भूतभावनी" "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (कठ० २।५।१३) "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" (गी० २।२०) "नित्यः सर्वगतस्थाणुरचलोऽयं सनातनः" (गी० २।२४) "वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्" (गी० २।२१)

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" (गी० १३।१९) इत्याद्या जीवप्रकृत्योरुभयोरपि नित्यत्वमनादित्वञ्चाह । जीवकर्मणामपि "न कर्मणामनादित्वात्" (ब्र० २।१।३५) इतिसूत्रेणानादित्वमभिदधते सूत्रकृत । एतदुक्तम्भवति—तत्तज्जीवानुगुणकर्माण्यपेक्ष्य सत्यसंकल्पो भगवान् भोग्यभोगस्थानभोगोपकरणशरीरेन्द्रिय सङ्घातान् सृजति । तत्र जीवो देहेन्द्रियादीन्यात्मन्यध्यस्यात्मानञ्च देहेन्द्रियादिष्वध्यस्याह ब्राह्मण. क्षत्रिय. स्थूलो गौर इत्यादिदेहधर्मानह मूक काणोऽन्धो बधिर पङ्गुवक्ता श्रोतेत्यादीन्द्रियधर्मान् संकल्पविकल्पाध्यवसायादीनन्त करणधर्मांश्चाऽऽत्मन्यध्यस्याऽनात्मनि देहादावात्मबुद्ध्या ब्राह्मणादिजात्युचितानि तदनुचितानि च कर्माणि कुर्वंस्तैः कर्मभिः सुदृढ बन्धमाप्नोतीत्येतादृशोऽध्यास उपपद्यत इति वैदिक पन्थाः । एवञ्चायमध्यासो जीवकर्तृक एव तथाहि—जीवशब्दवाच्य. प्रत्यगात्माऽनादितोऽविद्यातिरोहितस्वस्वरूपप्राकृतशरीरेन्द्रियादिकमनादित स्वात्मन्यध्यस्य तत्कृतानि कर्माणि स्वात्मकृतान्येवेति मन्वानस्तैर्निबद्धो ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽह ममैते स्त्रीपुत्रादय इत्येव व्यवहरति । तथा चानात्मवस्तुषु देहादिष्वात्मबुद्धिरूप एवाऽध्यासपदेन लोकशास्त्रयो· प्रसिद्ध । एतादृशाध्यासशालिनामेव जीवाना संसृतिभाक्त्व श्रुतिस्मृत्यादौ मुहुर्निर्दिष्टम् । स्वस्वरूपाज्ञानवतामेव जीवानां विपरीताध्यासेन प्राकृतगुणै क्रियमाणानि शुभाशुभानि कर्माणि स्वानुष्ठितानीतिमन्वानानां तैर्भूयो भूयो बन्धप्राप्ति । यस्त्वात्मनिष्ठो गुणकर्मविभागं विवेकेनावगच्छति स पुनस्तैर्न बध्यत इति स्पष्टीकृतोऽयमर्थो भगवद्गीताया "प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश. । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमितिमन्यते" (गी० ३। २७) ततस्तैरेव कर्मभिर्निबध्यत इति शेष. । "तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयो । गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते"

(गी० २।२८) "यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥" (गी० १८।१७) तेन कर्मणा न निबध्यत इति भाव । अस्य च निरुक्तस्याध्यास मूलकावरूपाज्ञानस्य नाश स्वरूपज्ञानाऽवाप्तिश्च भगवदनन्यभक्ति- हेतुकभगवत्प्रसादेनैव सिध्यतीत्युक्तम् । तत्रैव 'तेषां सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं त येन मामुपयान्ति ते' (गी० १०।१०) "तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानज तम । नाशया म्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" (गी० १०।११) भगवद नन्यभक्त्यैव स गुणातीत सन् ब्रह्मभावाय कल्पत इत्यप्युक्तम्। "माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यै तान् ब्रह्मभूयाय कल्पते" (गी० १४।२६) अत्र ब्रह्मणो भावो ब्रह्म- भूय तस्मा इति भाव । अस्याश्चानन्यभक्ते परमात्मसाक्षात्कार एव फल तदेवाधिगम्य स प्राप्नोति । तथा च "अहङ्कार बल दर्प काम क्रोध परिग्रहम् । विमुच्य निर्मम शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते" (गी० १४।२६) "ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। सम. सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम्" (गी० १८।५४) "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" (गी० १८।५५) इत्यादिभि. प्रति पादितम् । सा चैषाऽनन्यभक्तिर्भगवदेकचिन्तनतत्सततस्मरण तदेकमनस्त्वतदेकनिदिध्यासनादिशब्दवाच्येति च तदीयैरेव वचो भिरवगम्यते ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना· पर्युपासते ।
तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ गी० ९।२२॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय ॥ गी० १२।८॥
अत ऊर्ध्वं प्रारब्धकर्मभोगानन्तरमित्यर्थ. ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यन्ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥ गी० १८।६५॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ गी० ८।१४॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ गी० १२।६॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ गी० १२।७॥

न चिरादिति—अस्यैव प्रारब्धदेहस्यान्त इत्यर्थः । अन्त्याभ्यां "अत ऊर्ध्वं निवसिष्यसि मय्येवे" ति "तेषामहं समुद्धर्त्ता न चिराद्भवामी" त्याभ्यां भगवदनन्यभक्तस्य वर्तमानदेहस्यैवान्ते भगवत्प्राप्तिर्भवतीत्यवसीयते ।

भक्तिश्चेह निदिध्यासनापरपर्य्याया ध्रुवाऽनुस्मृतिरूपैवेति निर्णयः । तथा च श्रुतयः "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" (छा० ७।२६।२) "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः (श्वे० ६।२३) अत्र ध्रुवास्मृतिपराभक्तिपदाभ्यां सैवानन्यभक्तिरभिधीयते । "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मु० १।१।५) इत्यादावपि परा विद्ययाऽक्षरप्राप्तिरिति दर्शितम् । अखिलोपनिषत्सारभूतश्रीगीताशास्त्रे वेदवेद्यो भगवान् परमपुरुषोऽपि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥ गी० ११।५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ गी० १८।५५॥
इत्यादिभिर्भगवदनन्यभक्तेरेव मोक्षोपायत्वं द्रढयति । एवञ्चा-

त्रेदं ग्रन्थहृदयम् । ध्रुवास्मृतिपदाभिलप्यापरभक्तिरेवाऽनन्येत्यादि विशेषणेन विशेष्यते । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन विभिन्नशब्दैर्भगवत्प्राप्तिरूपपरमपुरुषार्थोपायतया सैव सर्वत्राभिधीयते । मुमुक्षुभिरुपायान्तराणि दूरतः सन्त्यज्य केवलमनन्यभक्तिरेव ग्राह्येति सिद्धम् । तथैव च श्रीगीताचार्याणां सिद्धान्तः ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहन्त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ गी० १८।६६॥

इत्यादौ स्वोदीरितवाक्यान्तेऽष्टादशाध्याये तैरेव प्रकटीकृतः । ज्ञानस्यैव परा काष्ठा भक्तिरिति तु प्रागेवाभिहितं जिज्ञासाधिकरणे इति सर्वं निरवद्यम् । न च वाच्यं "निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वे० ६।१९) इत्यादिभिर्वेदवचनैर्ब्रह्मणो निर्गुणत्वे तस्य मानसव्यापाररूपज्ञानसाध्यत्वादन्यविधाया भक्तेरुपायत्वासम्भव इति । निर्गता निकृष्टाः सत्त्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमिति व्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम् । तथैव च ।

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः ।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥ वि० पु० ॥
योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः ।
प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते ॥ प० पु० ॥

इत्यादौ प्रतिपादितत्वात्प्राकृतसत्त्वादिगुणनिषिद्धे सति ब्रह्मणो दिव्यगुणाश्रयत्वसिद्धेः । तादृशदिव्यगुणानाञ्च 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६।८) इत्यादौ स्वाभाविकत्वाभिधानात्प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वं, दिव्यगुणवत्त्वेन च सगुणत्वमित्युभयथैकस्यैव ब्रह्मणो निर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । किञ्च श्रीरामस्य जगत्कारणत्ववादिन्यः काश्चन श्रुतयः स्फुटं कारणस्वरूपस्य तस्य साकारत्वं सगुणत्वमक्षरब्रह्मणो जगत्कारणवादिन्यश्च काश्चन श्रुतयस्तस्याक्षरस्य निराकारत्वं निर्गुणत्वञ्चा

हुरित्युभयत्राऽविरोधार्थं स एवार्थस्तान्त्रिकैरङ्गीकर्तव्य । अन्यथा परस्परविरोधे व्याहतत्वादप्रामाण्यमेव निष्पद्येत । न च विनिगमनाविरहान्निराकारनिर्गुणवादिन्य एव श्रुतय सगुणब्रह्मरचितानि सृष्ट्यादीन्यनूद्य तेषाञ्च निर्गुणे निराकारे ब्रह्मणि रज्जौ कल्पिता हिरिव कल्पितत्वेन मिथ्यात्वमवगमयन्तीति वाच्यम् । आरोपवादस्य च प्रागेव श्रुतिस्मृतियुक्त्यादिभिनिराकृतत्वात् । पूर्वोद्दीरितार्थ एव सामञ्जस्ये कल्पितत्वकल्पनाया अनुपपत्तेश्च । तस्मात् प्राकृतगुणाकारयोरसत्त्वेन निर्गुणत्वं निराकारत्वं दिव्यस्वासाधारणगुणाकारवत्त्वेन च सगुणत्वं साकारत्वं चैकस्यैव ब्रह्मण उपपन्नतरमिति न कश्चिद्विरोधः । एवञ्च सर्वज्ञसर्वशक्तिमज्जगत्कारणनिर्गुणसगुणादिपदवाच्यं श्रीरामतत्त्वं तदेव जगत्कारणं ब्रह्मेत्युच्यतेऽनेन सूत्रेण । बाह्यकरणानपेक्षामलशाश्वतिकापरोक्षानुभवविषयाखिलपदार्थत्वमेव चात्र सर्वज्ञत्वम् । एतस्यैव सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।३) इत्यधिकरणेनापि निरस्त समस्तदोषकलङ्कवेदकारणत्वेन तस्य जगत्कारणस्य सर्वज्ञत्वप्रतिपादनेन सगुणत्वज्ञापनात् । "तत्तु समन्वयात्" (ब्र० सू० १।१।४) इति सूत्रेणाऽपि तस्मिन्नेव जगत्कारणे सर्वासा सगुणनिर्गुणार्थकेन प्रतीयमानाना श्रुतीना समन्वयत्वप्रदर्शनेन तस्यैकस्यैवाक्षरब्रह्मात्मसदादिसामान्यपदबोध्यस्य श्रीरामादिविशेषपदवाच्यस्य दिव्यगुण वत्त्वेन प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन च सगुणत्वनिर्गुणत्वज्ञापनादिति न क्वापि ब्रह्मणो गुणशून्यत्व निर्विशेषत्वञ्चेति मन्तव्यम् । उत्तरत्राऽपि "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" (ब्र० सू० २।१।१५) इति सूत्रेण स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य कार्यावस्थस्य ब्रह्मण. सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टकारणावस्थब्रह्मानन्यत्वबोधनात् । तस्यैव चतुर्थाध्याये "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्र० सू० ४।१।१) इतिसूत्रेण निदिध्यासनपदवाच्याया ब्रह्मणः सततचिन्तनलक्षणायास्तद्भक्तेरेव

मोक्षसाधनत्वज्ञापनात् । "ध्यानाच्च" (ब्र० सू० ४।१।८) इति सूत्रेण च तस्या एव दृढीकरणात् । अनुपदं सगुणब्रह्मण एव शास्त्रे प्रतिपादनम् । एतादृशानन्यभक्तेरेव चोपरिष्टान्मुक्तिरूपं फलं दर्शितं तत्कर्तुरिति "तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया" (ब्र० सू० ४।२।१६) इत्यधिकरणे स्पष्टम् । तत्र हि सगुणब्रह्मणः श्रीरामस्यानवच्छिन्नध्यानाभ्यासवतोऽनन्यभक्तस्य शताधिकया सुषुम्नया नाड्या शरीराद्बहिर्निःसृत्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगतस्य मुक्तिः प्रतिपादिता । विद्यासामर्थ्यादित्यत्र विद्यापदेन यस्य पूर्वमाश्रुतिर्विहिता तस्यैव ब्रह्मनिदिध्यासनरूपस्य तच्चिन्तनापरपर्यायस्य ग्रहणमितिसूत्रकारीयः पन्थाः । एतेन ज्ञानिनः सद्योमुक्तेरभावोऽपि व्यक्तो भवति । अत एवास्मिन्प्रकरणे "प्रतिषेधादितिचेन्न शारीरात् स्पष्टो ह्येकेषाम्" (ब्र० सू० ४।२।१२) इत्यत्राऽयं विचारः प्रसृतः । तथाहि—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥" क० २।६।१४॥

इतिनिर्दिष्टस्य सर्वकामविमुक्तस्य "अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सद् ब्रह्माप्येति" (बृ० ४।४।६) इतिकाण्वशाखीयवचनैकार्थरूपस्य "योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ती" तिमाध्यन्दिनशाखास्थवाक्यस्यानुसारेणात्मकामाच्छारीराज्जीवात्प्राणोत्क्रान्तेः प्रतिषेध एवाऽनेन सूत्रेण क्रियते । सर्वकामविमुक्तस्यात्मकामस्य शताधिकया सुषुम्नया नाड्या शरीरान्निःसृत्याऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनत्वज्ञापनात्सद्यो न मुक्तिर्ब्रह्मविदामपि तु देवयानादिक्रमेणैवेतिसिद्धान्तः । ननु "अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते (बृ० ४।४।७) इतिश्रौतवचनाद् घटे भिन्ने

यथा तदवच्छिन्नाकाशो महाकाशेन सममेकतामुपयाति तथाऽज्ञाने तत्प्रयुक्तकर्मबन्धे चोच्छिन्ने विमुक्तः सर्वकामोऽत्रैव यद्देशे भोगः समासितद्देश एव ब्रह्मैक्यं प्राप्नोति नत्वर्चिरादिना तस्य गतिर्भवतीति सद्योमुक्तिरुपपद्यत एवेति चेन्न। 'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति" (बृ० ४।४।६) 'श्लोको भवति" (बृ० ४।४।७) एतद्वाक्यार्थप्रकाशकः श्लोकोऽपि मन्त्रोऽपि विद्यत इत्यर्थः। स चायम्।

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ बृ० ४।४।७॥

इति समानार्थकश्रुतिश्लोकयोश्च न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति माध्यन्दिनीयवचनबलात्प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थकतयैवोपपत्तावनेकश्रुतिस्मृतिविरोधेन तत्रैव ल्यपत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। प्राणादिविशिष्टात्मकस्य जीवस्य तु द्वयायनेनैव गतिरितिसिद्धम्।

'ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येती' त्यस्य तात्पर्यसौकर्याय ब्रह्मसदृशः सन्नित्यर्थोऽवश्यमास्थेयः। अन्यथा ब्रह्म सन्निति सम्पन्ने ब्रह्मणि भूयो ब्रह्मण्यप्ययवचनस्य वैयर्थ्यात्। नहि स्वस्मिन् स्वस्यैवाप्ययः इति युक्तम्। तथा सति" न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति किन्तु सार्वत्रिकं यद्ब्रह्म तद्रूपतामासादयन्तीत्येव ब्रूयात्। यथा "देवो भूत्वा देवं यजेत" 'राजा भूत्वा राजानं मिले" दित्यादौ देवसदृशः सन् राजसदृशः सन्नित्यर्थस्तथैव प्रकृतेऽपीति ज्ञेयम्। सादृश्यञ्च भेदघटितमेवेत्यन्यत्र विस्तरः। काठके तु यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत" (क० २।६।१४) "यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्नुशासनम्" (क० २।६।१५) "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥" (क० २।६।१६) इत्येव

क्रमस्तत्राऽपि 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते', इत्यस्यानन्तरं "शतश्चैके" तिवाक्यमुक्तम्। तदयमभिप्रायः। सर्वकामविमुक्तस्य पुंसः शताधिकया सुषुम्नया शरीरान्निर्गत्यार्चिरादिमार्गेणैव ब्रह्मलोकावाप्तिः। "अत्र ब्रह्म समश्नुते" (क० २।६।१४) इत्यस्मिन् भागे विद्यमानस्यात्रपदस्यैतस्यां सर्वकामविमुक्तदशायां ब्रह्म समश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थस्यैव सम्यक्त्वादिति न केनापि प्रमाणेन सद्योमुक्तिः सिद्ध्यतीति मनोषिभिर्विभावनीयमिति दिक्।

स्यादेवं, जीवब्रह्मणोर्भेदस्यौपाधिकत्वादभेदस्यैव च पारमार्थिकत्वान्मुक्त्यवस्थायां तयोः पार्थक्येनावस्थानमयुक्तम्। विगलितबन्धस्य जीवस्य ब्रह्मरूपापत्तिरेव हि मुक्तिस्तथा चार्चिरादिना तस्य देशान्तरे गमनासम्भवात्। नैतदेव, सशरीरनिःशरीरभेदेन मुक्तात्मनां द्वैविद्ध्यमुदीरितं भगवता बादरायणेन फलाध्याये। तत्र सशरीराणां भोगस्य जाग्रद्भोगसमानत्वाच्चिन्मात्रस्वरूपेणावस्थितानां निश्शरीराणां तु स्वाप्निकभोगवद्भोगार्जकत्वान्मुक्त्यवस्थायामपि जीवब्रह्मणोर्भेदस्यैव पारमार्थिकत्वम्। शरीररहितस्य मुक्तात्मनोब्रह्मैक्ये पार्थक्येन स्थित्यभावात्। तमुद्दिश्य स्वप्नभोगवद्भोगवचनस्य वैयर्थ्यमेव स्यात्। मुक्तिदशायामत्यन्तविलक्षणत्व एव तत्सार्थक्यं सम्भवति नवरामन्यथा। अत एव "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" (ब्र० सू० ४।४।१७) इत्यधिकरणेऽशरीराणां जगद्व्यापारकर्तृत्वप्रतिषेधेन ब्रह्मणो न्यूनत्वबोधनाद्वैलक्षण्यं स्पष्टमेव। मुक्तब्रह्मणोरुभयोः सत्यसंकल्पत्वेऽपि जगद्व्यापारे मुक्तस्य सत्यसंकल्पताया अकार्यकारित्वेन चिन्मात्रस्वरूपेण स्थितानामपि निश्शरीराणा मुक्तानां स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां तत्सत्यसंकल्पत्वस्य च परमात्माधीनत्वसिद्धया तेषां परमात्मशेषत्व स्पष्टमेव। तस्माच्छाश्वतिकं सार्वत्रिकञ्च परमात्मनः सकाशाज्जीवस्य भिन्नत्वमेवेति वेदवित्समयः।

एवञ्चास्याः शारीरकब्रह्ममीमांसाया उपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मणः शेषित्वसगुणत्वादिप्रतिपादकतया तन्मध्यभूतानामपि सूत्राणां संदंशपतितन्यायेन तत्प्रतिपादकत्वमेवेति मन्तव्यम्। यथा चाखिलश्रुतिस्मृतिसूत्राणां सगुणब्रह्मण्येव तात्पर्यन्तथा स्फुटीकरिष्यामस्तत्तत्सूत्रव्याख्यायामित्यत्र सङ्क्षेपः। अथाऽखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणविशिष्टस्यैव परमात्मनो वेदान्ततात्पर्य्यावसितत्वात्क्वचिदापाततो निर्गुणे तात्पर्यमर्पयन्तीनां वस्तुतो भावतो दिव्यकल्याणगुणानमितायिनीनां श्रुतीनां तादृशपदानामेवार्थोऽवसरतो विविच्यते। तत्रादौ यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमित्यादिपूर्वोदाहृतश्रुतेरयमर्थः। अद्रेश्यम्—अदृश्यमितियावत्। तच्च न तावद्दर्शनविषयतां निषेधति। "आत्मा वारे द्रष्टव्यः" (वृ० ६।५) "क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २।८) "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (क० १।३।१२) इत्यादौ स्वकण्ठरवेणैव तस्य दर्शनीयत्वप्रतिपादनात्। अतोऽद्रेश्यमित्यस्य स्थूलबुद्ध्या द्रष्टुमशक्यं लौकिकप्रत्यक्षाविषयमितियावत्। सूक्ष्मबुद्धिविषयत्वन्तूदाहृतश्रुत्यनुरोधेन वर्तत एवेति भावः। अग्राह्यम्—अपरिच्छिन्नत्वेनातिसूक्ष्मतया चाकाशादिवदग्राह्यमित्यर्थः। अगोत्रमिति—स्वसमानद्वितीयब्रह्माजनकत्वात्पुत्रपौत्रादिरूपलौकिकपरम्पराया अप्रवर्तकत्वाद्वा गोत्रमवंशमित्यर्थः। अवर्णमिति—ब्राह्मणादिवर्णरहितं प्राकृतनीलपीतादिवर्णरूपरहितं वेत्यर्थः। न तु रूपात्यन्ताभाववत्त्वं सूक्ष्मबुद्धिदृश्यत्वानुपपत्तेर्दिव्यरूपवत्त्वमिति भावः। अचक्षुःश्रोत्रम्—चक्षुःश्रोत्रानधीनदर्शनश्रवणमित्यर्थः। तदपाणिपादम्—पाणिपादापरतन्त्रग्रहणगमनमित्यर्थः। अव्ययमिति—विविधविकाररहितम्। भूतयोनिमिति—आकाशादिभूतकारणम्। धीराः परिपश्यन्तीति श्रुतेरर्थः। "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्", "यस्य ज्ञानमयं तपः" "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्र-

मसौ विधृतौ तिष्ठत ” (बृ० ३।८।९) इत्याद्यनेकश्रुतिभि: पर
मात्मन: सर्वोत्कृष्टदिव्यज्ञानादिमत्त्वेन न क्वापि निर्विशेषप्रतिपाद
कत्वम् । एतच्च तत्तदुपनिषद्विवेचनायां स्पष्टीकृतमस्माभिरिति तत
एवाऽवगन्तव्यं विशेषार्थिभिरतोऽत्र विरम्यते ॥

एतदुक्तम्भवति–“यतो वा इमानि” (तै० ३।१) इति श्रुतिरपि
सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मण एव लक्षणं दर्शयति । तदेव हि
जगत्कारणम् । “सदेव सोम्येदमग्र आसीदि”त्यादौ यथा यत्सत्पद
वाच्यं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्माग्रे आसीत्तदेव च स्थूलचिदचिद्वि
शिष्टस्य कारणं तथात्रापि ज्ञेयम् । परं, पराभिमतस्य केवलस्य निर्वि
शेषस्य ब्रह्मणस्तु न जगत: कारणत्वं केनापि प्रमाणेन शक्यमवगन्तु
नतरामारोपितस्य तस्य । तत्र सुखादिभोक्तृत्वविकारित्ववैषम्य
नैर्घृण्याज्ञत्वाद्यनेकदोषापत्ते: । किञ्च विवर्तादिवादानां मायिमत
प्रवर्तकानां विपरीतार्थोपस्थापकत्वमपीत्यपरं दूषणम् । एतत्सर्वं प्रागे-
वास्मिन्नधिकरणे सप्रमाणमभिहितम् । इदानीं प्रसङ्गात्तेषामसाङ्गत्य
युक्त्यपेशलत्वञ्च परेषां युक्तिवादानेवाश्रित्य पुन: प्रदर्श्यते ।
तथाहि—यथा दृष्टान्ते रज्जुरधिष्ठानं तत्रारोपित: सर्पस्तस्य चारोप
विषयीभूतस्य सर्पस्य रज्जौ नहि भवति न वा भ्रान्तिकृतं तस्य दु:ख
मपि, किन्तु रज्जुसर्पभिन्नानां तद्द्रष्टृणां मनुष्याणामेव तत्र भ्रान्ति
स्तद्धेतुकञ्च दु:खम्भवति । दार्ष्टान्ते त्वधिष्ठानं ब्रह्म तस्मिन्नेव चरा
चरात्मकं जगत्कल्पितम् । न हि तस्य कल्पितस्य जगतो ब्रह्मणि
जगद्भ्रान्तिस्तद्धेतुकं संसरणञ्चोपपद्यते, किन्तु तद्भिन्नानामेव तद्द्र
ष्टृणां स्यात् । न चैतादृशा ब्रह्मचराचरात्मकजगद्भिन्ना: केचिदन्य
उपलभ्यन्ते येषामेव भ्रान्तिस्तत्कृतञ्च दु:खं स्यात् । ब्रह्मजगद्भिन्नस्य
कस्यचिदनुपलम्भाद्दृष्टान्तासङ्गति: स्पष्टैव । तस्माच्छ्रुतिस्मृति
प्रमाणसमधिगतस्य सुखदु:खादिभोक्तुश्चराचरात्मकस्य जगत:
कल्पितत्वानुपपत्त्या केवलस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वानिष्पत्तेरद्वैता

सिद्धिः । एवं बिम्बात्मकाधिष्ठाने कल्पितस्य प्रतिबिम्बस्य न बिम्बे प्रतिबिम्बभ्रान्तिरपि तु तदुभयभिन्नानां तद्द्रष्टृणामेव तथा दार्ष्टान्तेऽपि ब्रह्मतदाभासभूतानां जीवानां न तदाभासभ्रान्तिरुपपद्यते किन्तु तदन्येषाम् । तादृशाश्च ब्रह्मतत्प्रतिबिम्बरूपजीवभिन्ना. सत्प्रत्ययवन्तो न केऽप्युपलभ्यन्ते यत्र दृष्टान्तसमर्थनं स्यात् । किञ्च तदीयसिद्धान्ते निरवयवस्य विभुनो ब्रह्मणः प्रतिबिम्बोऽप्यसम्भवी । सावयवस्य परिच्छिन्नस्यैव च लोके प्रतिबिम्बदर्शनात् । न च दृष्टमेव लोके निर्मलाम्भसि निरवयवस्यापि नभसः प्रतिबिम्ब इति वाच्यम् । तत्र वियति विद्यमानस्य मेघस्य समीरणसमीरितरजःकणधूमादीनामेव च दृश्यमानत्वात् । वस्तुतो न नभसो निरवयवत्वं नीरूपत्वञ्चेत्यन्यत्र निरूपितम् । अतोऽस्यापि दृष्टान्तस्यासामञ्जस्यम् । द्विचन्द्रभ्रान्तिरप्यधिष्ठानरूपैकस्मिश्चन्द्रमसि नारोपितद्विचन्द्रस्य न बाधिष्ठानभूतस्यैकस्य तस्य किन्तु अङ्गुल्याद्यवष्टम्भेन दोषवशात्तमोऽपहतचक्षुष्कस्य कस्यचित्तैमिरिकस्यैवेति नानेनापि दृष्टान्तेन भवदभिमतसिद्धिर्दृष्टान्तवैपरीत्यञ्च । नन्ववच्छेदवादमाश्रित्यैवैतत्सर्वं सङ्गतम् । तथा हि—यथा घटावच्छिन्नाकाशो भिन्ने च घटे महाकाशेनैक्यमुपगच्छति तथाविद्यावच्छिन्नो जीवशब्दाभिधेयश्चेतनो ज्ञानेनोच्छिन्नायामविद्यायां ब्रह्मैक्यमापद्यत इति चेत्तदपि न युक्तिसहम् । यथा घटावच्छिन्नाकाशप्रदेशात्तदवच्छेदके घटे प्रदेशान्तरं गते सति तेनावच्छिन्नप्रदेशान्तराकाशः पूर्वावच्छिन्नाकाशादन्य एव पूर्वप्रदेशाकाशस्य तदवच्छेदकघटादिगमनवत्प्रदेशान्तरे घटादिना सह गमनानुपपत्तेः । तथैवाविद्यावच्छिन्नात्प्रदेशान्तरस्थब्रह्मैकाशाज्जीवादविद्यात्मकजीवोपाधिरूपशरीरे प्रदेशान्तरं गते सति तदवच्छिन्नस्याचलस्य ब्रह्मैकांशस्य पूर्वांशादंशान्तरत्वोपपत्तेः । ततश्चाविद्यावच्छिन्नपूर्वावस्थावच्छिन्नब्रह्मांशानुष्ठितपुण्यपापयोरुत्तरावच्छिन्नब्रह्मां-

शस्य भोग्यत्वापत्त्याकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ स्यातामिति महद्दूषणम्। अपि च देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितस्य भवदभिमतस्य ब्रह्मणोऽविद्यावच्छिन्नत्वस्वीकारे तत्र वस्तुपरिच्छेदत्वापत्त्या देशकालवस्त्वपरिछिन्नत्वरूपतल्लक्षणस्य बाधादित्ययमवच्छेदवादोऽपि दुर्वार एवेति सिद्धम्।

एवमन्येषामप्यापातरमणीयानां पराभ्युपगतनिर्विशेषब्रह्माद्वैतसाधकानां युक्तिदृष्टान्तानां तत्त्वधिया विमृश्यमाने वालुकालयमिव सर्वथा शिथिलमूलत्वमिति नाविदित सत्पक्षपातशेमुषाकाणामतो विरम्यते। तथा च यदा ब्रह्मणि धर्मिभेदो न प्रसज्ज्यते तदा निरससाम्यधिकाद्वितीयवस्तुसम्भवेन लक्षणत प्रतिपत्तुं शक्यत्वात्तत्र वेदान्तानां प्रामाण्यसम्भवात् समारम्भणीया ब्रह्मजिज्ञासा सम्भवत्येवेति निश्चय।

अत्रायमधिकरणार्थसङ्ग्रहः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" (तै० ३। १) "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (श्वे० ३।९) "रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परम्ब्रह्माभिधीयते" (रा० पू० ता० १।६) एवमादयोऽस्य विषय। अत्र जगज्जन्मादिकं ब्रह्मणो लक्षणं सम्भवति न वेति संशय। न सम्भवतीत्येव युक्तमनियतत्वात्। तथाहि—समानधर्मिकव्यावर्तकधर्माणां स्वाश्रयभेदकत्वानियमाज्जन्मादिकारणत्वरूपधर्मैर्धर्मिभेद प्राप्नोत्येव।

यत्र तु मानान्तरेणैकस्यावगमश्छत्री वासस्वी कुण्डली देवदत्त इत्यादौ तत्र न भेद। प्रकृते ब्रह्मणो मानान्तरागोचरतया धर्मिभेद स्यादेव। तस्मान्नेदं कारणत्वादिकं तस्य लक्षणम्, अपि तु जगन्निष्ठजन्मादिकमेवोपलक्षणविधया लक्षणं वक्तव्यम्। तदपि न

क्षोदक्षमम् । ब्रह्मणि ज्ञाताकारज्ञाप्याकारयोरभावात् । यथा पूर्वं गगने ज्योतिर्मण्डलमालोकयतः पुंसोऽस्ति कश्चिच्चन्द्रप्रातिपदिकस्यार्थः योऽसावस्मिञ्ज्योतिर्मण्डले वर्तत इति जिज्ञासोरत्र ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्र इति प्रष्टारम्प्रत्युपदेशस्तद्विद शाखाग्रे चन्द्र इति । तत्र ज्योतिर्मण्डलसम्बन्धितेज पिण्डत्वन्त्ववगतत्वाज्ज्ञाताकारश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वमेव ज्ञाप्यमिति तस्य ज्ञाप्याकारत्वम् । तदुभयमपि ब्रह्मणि न सम्भवति मानान्तराविषयत्वात्तस्य । न च "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।२) इतिस्वरूपलक्षणप्रतिपन्नस्य सत्यत्वादेर्ज्ञाताकारत्वमस्त्येवेति वाच्यम् । तथा सत्युक्तस्वरूपपरिचायकवाक्येऽनेकधर्माणां कीर्तनाद्धर्मिभेदस्तद्वस्थ एव । तत्राप्युपलक्षणत्वस्वीकारे तु प्राक्स्वरूपसिद्ध्यर्थं किञ्चिल्लक्षणान्तरमपेक्षणीय तत्सिद्धये पुनर्लक्षणान्तरमित्यनवस्था । एतत्परिजिहीर्षया "यतोवे" त्यादिवाक्यापेक्षायां पुनरन्योन्याश्रयः । ज्ञाप्याकारस्तु तथाप्यनुपपन्नो यतो वेदान्तानामद्वैते निर्विशेषे तात्पर्यग्राहकत्वात् । तस्माद्ब्रह्मणो लक्षणस्यासम्भवान्न ब्रह्मविचार आरम्भणीय इति पूर्वपक्षिते ब्रूमो जन्मादेः प्रपञ्चगतत्वेन यद्यपि ब्रह्मण्यसम्बन्ध एव तथापि तटस्थतया लक्षणं सम्भवत्येव । यत्तूदीरितमुभयाकारासम्भवादिति । तन्न । लक्षणजिज्ञासाप्रयोजकज्ञानविषयाकार एव ज्ञाताकारस्तज्ज्ञानमादायैवात्र ज्योतिश्चक्रे कश्चन्द्र इति प्रश्न. सङ्गच्छते । तस्य च "शाखाग्रे चन्द्र" इति युक्तमेवोत्तरम् । प्रकृतेऽपि मुमुक्षुजनैरुपासनीयताज्ञाननिमित्तकत्वाद्भार्गवप्रश्नस्येति ज्ञाताकारः सम्भवत्येव । एवं ज्ञानविषयरूपवस्तुनि निरतिशयतत्त्वं ज्ञाप्याकारोऽपि युक्त एव । किञ्च चन्द्रपदाभिधेयं किमस्तीत्यापाततः प्रतिपत्तिमत प्रश्नस्य "शाखाग्रे चन्द्र" इति ताटस्थ्येन लक्षणमभिधायोत्तरदर्शनादुपलक्ष्योपलक्षणभावस्य सर्वथासामञ्जस्यादिमावेवाकारौ कथमत्र न ग्राह्यौ ? तौ च प्रकृते स्त एवेति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

सविशेषस्यैव च ब्रह्मण प्रतिपाद्यत्वात्तदेवात्राभिहितम् । एतेन "परिज्ञाते लक्ष्ये तत्परिच्छेदकलक्षणानर्थक्यमज्ञाते तु तस्मिंल्लक्षण जिज्ञासानुदयात्कथमिह ब्रह्मणो लक्षणनिर्वचनमि" त्यपि परास्तम्। एतत्पूर्ववृत्तवेदाध्ययनादिनाऽऽपाततोऽवगते ब्रह्मण्येव तत्प्रसर इति शक्यमेव लक्षणत प्रतिपत्तु ब्रह्म तस्मिश्च वेदान्तानाम्प्रामाण्य सम्भवादारम्भणीयैव ब्रह्ममीमांसेति सिद्धान्त ॥ १।१।२ ॥

इति जन्माद्यधिकरणम्

(अथ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्)

पूर्वाधिकरणसिद्ध जगत्कारण ब्रह्म किम्प्रमाणकमित्यत आह–

शास्त्रयोनित्वात् । १। १। ३।

शास्त्र योनि प्रमाण यस्य तच्छास्त्रयोनि, तस्यभावस्तत्त्व तस्माद्ब्रह्मणि शास्त्रमेव प्रमाणमिति यावत्। एवञ्च पूर्वोत्तरसूत्रयो साध्य हेतुपरतयैकार्थ्येऽपि निराकरणीयसंशयपूर्वपक्षादिभेदादधिकरण भेद । तथा हि अत्र 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" (तै० ३।१) इत्यादिवाक्यद्वारा शास्त्र विषय । 'अत्र जगत्कारण तया सिद्ध ब्रह्म शास्त्रमात्रगम्यमाहोस्वित् प्रमाणान्तरेणापि गम्य मिति सशय । तत्राप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति सिद्धान्ताच्छास्त्रस्य प्रमा णान्तराप्राप्तविषयत्वान्न परमात्मनि शास्त्र प्रमाण किन्त्वनुमानमेव। तथा हि इदम्परिदृश्यमान नानासस्थानविशिष्ट जगत्सावयवत्वाज्ज न्यमेव । न चैतदस्मदादिपरिमितशक्तिसाध्यमिति तज्जनकतया कश्चिदखिलभुवननिर्माणनिपुणोऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् सार्व ज्ञ्यविशिष्टो लाघवादेक कर्ता सिद्धयति । स एव परमपुरुषपदवेद

नीयम्ब्रह्मेत्यनुमानगम्यत्वान्न शास्त्रमात्रगम्यमिति प्राप्ते ब्रूम । पूर्वाधिकरणे जगत्कारणतयावगतम्ब्रह्म शास्त्रैकगम्यम्। तथा हि "त त्वौपनिषद पुरुष पृच्छामि" (बृ० ३।९।२६) इत्यत्रौपनिषद इति शैषिकोऽण् तथा चोपनिषदा वेदान्तशास्त्रेण दृष्टत्वोक्त्या तन्मात्रप्रमाणकत्वम्। "नावेदविन्मनुते तम्बृहन्तम्" 'नैषा तर्केण मतिरापनेया" (क० १।२।९) इत्यादिवचनैरुपनिषदेकवेद्यत्वस्य ब्रह्मणोऽन्तरेण वेदान्त शास्त्र बोधासम्भवात्। यच्च कार्यलिङ्गकानुमानेन तत्सिद्धिरित्युक्तम्। तत्तुच्छम्। अनुमानस्य प्रत्यक्षसापेक्षत्वात्। यथा प्रत्यक्षेण महानसादौ धूमधूमध्वजयोर्व्याप्तिमाकलय्य पर्वते धूमेन हेतुना वह्निमनुमातुमानुमानिक कश्चित्प्रवर्तते। तथा ब्रह्म न क्वापि सपक्षेऽध्यक्षयत केनापि सम्बन्धग्रहणमुपपद्यत। अतो नानुमानगम्यम्। ननु यथा नगरसेतुप्रासादादीना विलक्षणानामपि पुरुषकर्तृकत्वमध्यक्षवथेद महीमहीधरादिक परमेश्वरो निर्मिमीतेत्यत्त्येव सम्बन्धग्रह इति चेन्न। तथा सत्यनेककर्तृकत्वसिद्धावप्येककर्तृकत्वासिद्ध। व्याप्तिबलेनैव साध्यमानस्यत परमात्मन कर्मपारतन्त्र्यप्रसङ्गापातश्च। तस्मान्नानुमानात्सर्वशक्तिसमन्वितस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानभूतस्य परमात्मन सिद्धिरिति युक्तमेव शास्त्रैक वेद्यत्वम्ब्रह्मण।

अल्पाक्षरैरपि बह्वर्थस्य कक्षीकरणादेव सूत्राणा सूत्रत्वमित्यर्थान्तराभिधानेऽपि वाक्यभेदादिदोषाभावाद्वर्णकान्तरमस्य सूत्रस्य प्रदर्श्यते। ब्रह्मणो जगत्कारणत्वसमर्थनेन तस्य सर्वज्ञत्व सर्वशक्त्यादिमत्त्वमर्थात्सूचितम्। तदिदानीमनेन द्रढयति। शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रस्य वेदस्य योनि कर्तृत्वेन कारण तत्त्वात् परस्य ब्रह्मण सर्वज्ञत्व भवतीति सूत्रार्थ। सर्वज्ञकल्पस्य वेदस्योत्पादकत्वाद्ब्रह्मण सर्वज्ञत्वमेव सिद्ध्यतीति भाव। अत्र "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास

पुराणम् (बृ० ४।५।११) इत्यादिवाक्यमस्य सूत्रस्य विषयः । अत्रेदं वाक्यं वेदकारणत्वेन ब्रह्मणः किं सर्वज्ञत्वं साधयत्याहोस्विन्नेति संशयः । तत्र वेदकर्तृतया नेश्वरस्य सार्वज्ञ्यं साधयितुमिष्यते— "वाचा विरूपनित्यया" इत्यादिश्रुतयो वेदवचसामनादित्वं नित्यत्वं चाहुः । स्मृतयोऽपि—"अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवे" इत्यादिनाऽऽम्नायस्य नित्यत्वमेवाभिदधते। तस्मान्नित्यनिर्दोषवेदस्याऽपौरुषेयतया तत्कर्तृकत्वेन सार्वज्ञ्यं ब्रह्मणो दुर्घटम् । न च वेदोपादानतयापि तत्सिद्धिः उपादानोपादेययोरेकशक्तिमत्त्वस्य तन्तुपटादिषु जगदुपादानब्रह्मतत्कार्यजगत्सु च प्रायेण व्यभिचारितयाऽप्रयोजकत्वेनाऽऽगमस्य व्यवहितविप्रकृष्टाद्यखिलार्थप्रकाशनशक्तिशालित्वेऽपि ब्रह्मणि तदसम्भवात् । कथञ्चित्तत्सम्भवेऽपि श्रुत्यविषयीभूतानां प्रावृट्पयोधरपतन्तीनां वर्षधाराणां धरणितलजुषां रजःकणानाञ्च सङ्ख्यादीनान्तथाप्यनधिगतत्वाच्च न ब्रह्मणो वेदकर्तृतया सार्वज्ञ्यसिद्धिरिति प्राप्ते, ब्रूमः ।

ब्रह्मणोऽखिलवेदकर्तृतया युक्तमेव सार्वज्ञ्यम् । तथा च श्रुतयः "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि" (बृ० ४।५।११) 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' (यजु०मा०सा०) अत्र निःश्वसितवदन्तरेण प्रयत्नं वेदानां तत एव प्रादुर्भावनिश्चयात्तद्रचितत्वमेव । न ह्यत्र वेदकर्तृत्वमर्थमासाद्य तदनुगुणप्रणयनकर्तृत्वम् । यत्र विषयसापेक्षत्वेन पौरुषेयत्वं स्यात् । न वा केवलमुच्चारयितृत्वरूपम्, आधुनिकाध्यापकसादृश्याद्वेदस्य विशिष्टब्रह्मकर्तृकत्वासिद्धेः । तदा ह्यखिलवेदोच्चारयितृतया ब्रह्मणो विशिष्टाध्यापकत्वस्य लाभेऽपि तावन्मात्रस्यापुरुषार्थतया वैलक्षण्यं न स्यात् । तस्मात्सृष्टेः प्राग्यादृशक्रमस्वरवर्णानुपूर्वीमानासीत्तथैवास्मिन्कल्पे विरच्य प्रवर्तयति कारुणिकः परेशः ।

तथा च "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इतिवेदोदितदिशा प्राचीनानुपूर्व्यनुरूपरचनया सार्वज्ञ्यं वेदकर्तृत्वञ्च स्वत सिद्ध्यति। इदमेव च परमात्मनोऽन्यविलक्षण वेदकर्तृत्व यत् परसङ्कलितक्रमवर्णाद्यनधीनतया स्वातन्त्र्येण पूर्वकल्पीयस्वकृतक्रमादिवद्विदानीमपि तत्कर्तृत्वम्। एवञ्च वेदानाम्परमात्मकर्तृकत्वेऽपि क्रमवर्णपदवाक्यतदर्थानामनादिसिद्धानामेव तादवस्थ्यात्तेषा स्वत प्रामाण्यम पौरुषेयत्वञ्च सुतरां सम्पन्नम्। न चात्राऽप्रामाण्यशङ्कासम्भव'। अखिलहेयप्रत्यनीकस्यावाप्तसमस्तकामस्य नित्यनिरतिशयज्ञानानुभूयमानपरावरवस्तुतत्त्वस्य निरवधिकमहिम्नो वीतरागस्य श्रीरामस्य ब्रह्मणो वचनत्वात्। रागद्वेषदोषदूषितान्त करणाना विप्रलिप्सूना वचनेष्वेव तत्सम्भव.। न चैव शब्दराशिरूपस्य वेदस्योत्पत्तिमत्त्वेन त्रिक्षणावस्थायित्वमेव स्यादितिवाच्यम्। 'योऽय वेदो विष्णुशर्मणाधीत. स एव रामशर्म्मणाऽप्यधीयत' इतिप्रत्यभिज्ञाबाधात्। अत एव न वर्णानामपि त्रिक्षणावस्थायित्वम्। य. ककारश्चैत्रेणोक्त स एव मैत्रेणापीतिप्रत्ययात्। नापि वर्णानामाकाशगुणत्वमणुत्व वा। मानाभावात्। 'यष्टकारोऽयोध्यायां श्रुत स एवानेन काश्यां श्रूयत' इत्यादिव्यापकत्वप्रतीत्यनुरोधाच्च।

एतेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोभागस्यैव श्रोत्रत्वात्तदसाधारण गुणस्तत्समवेत एव वर्णात्मा शब्द इत्यपि कणभुङ्मतमपास्तम्॥ श्रोत्रादीन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वेन न केवल गुण एव शब्द.। गुणगुणिनो. समवाय इतिनियमस्य चाग्रे समवायनिराकरणावसरे निरसिष्यमाणत्वात्। श्रोत्रेण च शब्दव्यञ्जकध्वनेरेव ग्रहणम्।

एवञ्चाम्नायस्य वर्णपदवाक्यव्यूहरूपस्य परमात्मन एव सृष्टयादावुत्पादकत्वम् स्थूलव्योमादिवत्। एव प्रलयकालिकध्वसप्रतियोगित्वेनैव वर्णाना सामञ्जस्ये नान्तराल उदयापायौ श्रुतियुक्तिसम्मतौ। ककारादिवर्णानामनन्तप्रागभावप्रध्वंसादिकल्पनाया गौर-

त्वात्। तथा च, नवकृत्वो गोशब्द उच्चरित स एवायं ककार इति प्रामाणिकप्रतीतिप्रत्यभिज्ञाभ्यामुत्पन्न. को विनष्ट क इत्यादिप्रत्ययस्याप्रामाण्यमेवास्थेयम्। वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिगतोत्पत्तिनिरूपितसम्बन्धविषयत्वेन वा प्रामाण्यम्।

तस्मान्नित्यत्वाद्वर्णानां तत्समुदायस्यार्थप्रत्यायकत्वेनैव सर्वेष्टसिद्धौ नातिरिक्त स्फोटात्मा कश्चिद्धर्मी युक्तिसह: शक्योऽङ्गीकर्त्तुम्। विकल्पासहत्वात्। स च यत्किञ्चिद्वर्णव्यङ्ग्यो यावद्वर्णव्यङ्ग्यो वा ? न तावदाद्यः। घशब्देनैव व्यञ्जिते स्फोटे सम्पन्नायां घटपदार्थावगतौ टवर्णवैयर्थ्यम्। न द्वितीयः तेषाम्मते वर्णानामाशुविनाशितया सम्मेलनाऽसम्भवात्। नित्यत्वे तु वर्णानामस्मन्मत पातात्तत्समुदायेनैवार्थप्रतीतौ किमन्तर्गडुना स्फोटेनेति राद्धान्त। अतो न वेदानाम्पौरुषेयत्व त्रिक्षणावस्थायित्वमित्यलमनेनाप्रस्तुत कथालापेनेति।

एवञ्च ब्रह्मकर्तृकवेदस्य सर्वस्वावभासकत्व ब्रह्मण सार्वज्ञ्य मन्तरेणानुपपन्न सत्तस्य तद्द्रढयति। एतच्च परमात्मन सर्वज्ञत्व माज्ञानसिद्धमहर्षिभ्यो योगिजनेभ्य सर्वार्थावभासकवेदेभ्यश्च विशिष्टम्। विशिष्टज्ञानबलक्रियादिशक्तिशालित्वादनवरताखिलार्थसमर्थप्रत्यक्षकारित्वाच्चेति।

न च "हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्" (य० २५।१०) "प्रजापतिस्तपोऽतप्यत्" इत्यारभ्य "तेभ्यस्तपस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त" इत्यादिप्रमाणबलेन न परमात्मनो वेदकर्तृत्व किन्तु हिरण्यगर्भादेरेवेति वाच्यम्। "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्धया शुभया सयुनक्तु" (श्वे० ३।४) "यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे० ६।१८) इत्याद्यनेकश्रुतिभिर्हिरण्यगर्भादीनामपि कार्यभूतानामपि ब्रह्मैव कारणम्। "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा" इतिवेदप्रदानकर्तृतया

श्रुतत्वात्परमात्मन एवादौ वेदोत्पादकत्वम् । देवान्तरेभ्यो या वेदोत्पत्ति श्रुता सा तु परम्परया वेदप्रवर्तकतयैवेति योजनीयम् । एवञ्च सर्वज्ञवेदकर्तृतया परमात्मन सर्वज्ञत्व सिद्धम् ।

अत्र तृतीयवर्णकमपि—यथा ' जन्माद्यस्य यत "(ब्र०सू० १।१।२) इत्यनेन ब्रह्मण सर्वशक्तिमत्वञ्चार्थान्निष्पन्न भवति तथात्रापि ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वज्ञकल्पस्य वेदस्य कारणत्वादिति सर्वज्ञत्वमानुमानिकमेव न श्रौतम् । इतीम पक्षमपाकरोति । ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमच्च । कुत ? शास्त्रयोनित्वात् । वेदप्रमाणत्वात् । "य सर्वज्ञ स सर्ववित्" (मु० १।१।९) "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च" (श्वे० ६।८) इत्येवमादिश्रुतिप्रमाणत्वादित्याहुस्तदिद द्वितीयेनैव वर्णकेन गतार्थप्रायम् ॥ १।१।३ ॥

इति शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥

अथ समन्वयाधिकरणम्

एव शास्त्राऽनारम्भ्यत्वप्रयोजकीभूतामाशङ्का प्रथमाधिकरणेनापाकृत्य ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वञ्च प्रतिपाद्य किंलक्षणक किम्प्रमाणकञ्च तदिति शङ्काया परिजिहीर्षया लक्षणप्रमाणाभ्या वस्तुसिद्ध सर्व तन्त्राभ्युपगततया द्वितीयाद्यधिकरणद्वयेन ब्रह्मणो लक्षण प्रमाणञ्च यथाविध्युपदर्शितम् । अथापि वेदान्तादिशास्त्रप्रमाणकत्व परिनिष्पन्नस्य ब्रह्मणो न सम्भवति तत्र तेषा समन्वयासम्भवादितीमा शङ्का निराचिकीर्षुश्चतुर्थाधिकरणमारचयाञ्चकार ।

तत्तु समन्वयात् ॥ १। १। ४॥

समन्वयपद व्यतिरेकस्याप्युपलक्षणम् । तत् जगत्कारणत्व ब्रह्मण सर्वेषु कार्येषु पदार्थेषु व्यापकत्वेन समन्वयात् । 'पादोऽस्य

विश्वा भूतानि' (शु० य० ३१।३) इति सर्वत्र ब्रह्मसमन्वयश्रवणात्। 'त्रिपादस्यामृतं दिवि"(शु० य० ३१।३) इति तस्य जगद्व्यतिरेकश्रवणाच्च। 'स भूमिं सर्वत स्पृत्वा" (शु० य० ३१।१) इति ब्रह्मण सर्वत्र जगति समन्वयश्रुते । 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" इति तस्य जगद्व्यतिरेकश्रवणाच्च जगदन्वयव्यतिरेकाभ्या तस्य जगत्कारणत्व मुपपद्यते। त्रिवृत्कृताना मृदादीना तत्कार्येषु घटादिषु व्यापकत्वेन समुच्चयस्य तद्व्यतिरेकस्य च दर्शनेन तेषा तत्कारणत्वनिश्चयात्। तद्दृष्टान्तेन ब्रह्मणोऽपि व्यापकतया सर्वजगत्समन्वयेन तद्व्यतिरेकेण च सर्वजगत्कारणत्वमुपपद्यत इत्यर्थ ।

अस्य सूत्रस्य द्वितीय वर्णकम्। पूर्वसूत्रे ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० ३।१।१) इत्यादि शास्त्र प्रमाणमित्युक्तम्। तर्कि तस्य जगत्कारणत्वमात्रे वेद प्रमाणमुत तत्प्राप्यत्वेपीति सशये "जन्माद्यस्य यत " इत्युक्त जगत्कारणत्व मात्रे इति प्राप्त आह—"तत्तु समन्वयात्" इति। तत् पूर्वोक्त जिज्ञास्य जगत्कारण ब्रह्म प्राप्यत्वेन वेदान्तप्रतिपाद्य भवति। कुत ? तस्य तत्प्राप्त्युपायस्य ज्ञानध्यानादेस्तत्प्राप्तेश्च पुरुषार्थत्वेन प्रतिपाद्यतया सर्वेषु वेदान्तवाक्येषु समन्वयात्। सर्वे वेदा ब्रह्म ज्ञानध्यानद्वारा तत्प्राप्तौ पर्यवस्य तत्प्राप्तिमेव परमपुरुषार्थं बोधयति।

अथवा ब्रह्मण सर्ववेदवेदान्तवेद्यत्व सभवति नवति सशये न सभवति। कुत ? वेदानामनेकवस्तुप्रतिपादकत्वेन ब्रह्मैकपर त्वानुपपत्ते, इति प्राप्त आह—"तत्तु समन्वयात्' इति। तुशब्द पूर्वपक्षव्यावृत्यर्थं । तज्जगत्कारण ब्रह्म सर्ववदवेदान्तप्रतिपाद्यत्वेन वेद्यम्। कुत ?

> प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूप प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मन ।
> प्राप्त्युपाय फल प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधिन ॥

वदन्ति सकला वेदा ।

इत्यभियुक्तवचनात्सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मस्वरूप-तत्प्राप्तृजीवस्वरूप ब्रह्मप्राप्त्युपायस्वरूप-तत्प्राप्तिस्वरूप तत्प्राप्तिफलस्वरूप तत्तद्विरोधिस्वरूपबोधनद्वारा तात्पर्यतो ब्रह्मण्येव समन्वयात्। सर्वेषां वेद वेदान्तानां ब्रह्मप्राप्तावेव तात्पर्यावगमात् सर्ववेदवेदान्तप्रतिपाद्य तद्वेद्य च ब्रह्मैव। तथा हि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१ १) 'चिन्मयस्याद्वितीयस्य ब्रह्मण." इत्येवमाद्या श्रुतयो ब्रह्मस्वरूप बोधयन्ति। "जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः स्वप्नस्थानोन्त प्रज्ञ सुषुप्तस्थान एकीभूत." इत्याद्याः श्रुतय प्रकृतिसंश्लिष्ट प्रत्यगात्मस्वरूपं बोधयन्ति। "स आत्मा विज्ञेय सदोज्ज्वलोऽविद्यातत्कार्यहीन स्वात्मबन्धहर सर्वदाद्वैतरहित आनन्दस्वरूप. सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोह" इतीमाः प्रकृतिविविक्त प्रत्यगात्मस्वरूप बोधयन्ति। "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादिना प्रकृतिसंश्लिष्टमवस्थात्रयविशिष्ट प्रत्यगात्मानमुपदिश्य "न ह वै सशरीरस्य सत प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" (छा० ८।१२।१) इति प्रकृतिविविक्तमवस्थात्रयरहितं प्रत्यगात्मस्वरूप चोपदिश्य, "एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय" इति कर्मबन्धविमुक्त प्रत्यगात्मस्वरूपमुपदिश्य "स उत्तमः पुरुष स तत्र पर्येति०" इत्यादिना मुक्तस्य व्यवहारानुपदिष्टवानिन्द्र प्रति प्रजापति.। एवमनेका श्रुतयो ब्रह्मैकसततस्मरणचिन्तनलक्षणायास्तद्भक्तेस्तत्प्राप्त्युपायत्व बोधयन्ति।

अत्राथातो ब्रह्मजिज्ञासेतिसूत्रेण यद्ब्रह्म जिज्ञास्यत्वेनोक्त तदेव जन्माद्यस्येत्यनेन जगज्जन्मादिकारणमस्तीत्युक्तम्। तस्यैव शास्त्रयोनित्वादित्यनेन सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वसमर्थाच्छ्रुतिप्रमाणाचोक्तम्। तस्यैव तत्तु समन्वयादित्यनेन सर्ववेदवाक्यप्रतिपाद्यत्वं वेदान्तैकवेद्यत्व चोक्तम्। तदेव "सदेव सोम्य" (छा० ६।२।२) "तदैक्षत बहु स्याम्" "आत्मा वा इदमेक" "स एक्षत लोकान्नुसृजत"

"स इमाँल्लोकानसृजत" इत्येवमादिश्रुतिप्रतिपाद्यं भवति सर्वासां सृष्ट्यादि श्रुतीनामेकवाक्यत्वात्। तस्यैव ध्यानेन सततचिन्तनेन प्रत्यक्षत्वम् "आत्मा वारे द्रष्टव्य" "ततस्तु तं निष्कलं ध्यायमान." इत्यादिश्रुतिभि॰ प्रतिपादितम्। निदिध्यासनपदमत्र निरन्तरध्यानार्थकम्। अनया श्रुत्यात्मनिदिध्यासनस्य तद्दर्शनतत्साक्षात्कार-साधनत्व ज्ञाप्यते इति संक्षेप ॥१।१।४॥

इति समन्वयाधिकरणम्।

(ईक्षत्यधिकरणम्)

एवमत्र मुमुक्षुभिश्चिन्तनीयशास्त्रे वेदविहितकर्मोपासनानुष्ठानेन प्रक्षीणाशेषकल्मषस्य परतत्त्वबुभुत्सोरादौ ब्रह्मजिज्ञासामभिधाय द्वितीयतृतीयसूत्राभ्यां ब्रह्मणि लक्षणं प्रमाणं चोपवर्ण्य तुरीयेण सर्वेषां वेदान्तानां समन्वयस्तत्रैवेतिप्रतिपादनादनया चतुस्सूत्र्या संक्षेपेण सर्वोऽपि शास्त्रार्थः प्रदर्शित॰। स चायमेवार्थोऽग्रे प्रमाणसद्युक्तीरवलम्ब्य विस्तरेण चतुर्लक्षण्याऽभिधास्यते। अथ कस्यचिदप्यभिमतवस्तुनो विवेचनीयत्वे कथमत्र निरशङ्कप्रमाणाना कार्त्स्न्येन समन्वय ? कथमन्यैरुद्भाविताना विरोधानाम्परीहारः ? कथ वा तत्साधनम् ? किञ्च तत्फलम् ? इत्येवं शङ्कासन्निपात॰ समुत्पतति द्रागेव तद्विवेचनारम्भ इति तन्निराकरणमत्र समन्वयविरोधपरिहारसाधनफलाख्यैरध्यायै स्पष्टमुदटङ्कि। तत्रास्मिन् समन्वयाध्याये चतुर्भि पादैर्वेदान्ताना चिदचिच्छरीरकब्रह्मस्वरूप-प्रतिपादन एव तात्पर्यम्। तत्राप्यनेन प्रथमचरणेनेत आरभ्य केषाञ्चित् स्पष्टब्रह्मलिङ्गकानां वाक्याना विचारः प्रस्तूयते।

पूर्वं जगत्कारणं सर्वज्ञं सर्वशक्तिमत् सर्वज्ञत्वेन सर्वशक्तिमत्त्वेन च सगुणमेव ब्रह्म वेदान्तवेद्यं प्रतिपादितम्। तस्यैव

लक्षणादिविवेचनेन तत्र वेदान्तसमन्वयेन च वेदान्ततात्पर्यविषयत्वमिति निश्चितम्। इदानीं जगत्कारणत्वरूपं यद्ब्रह्मणो लक्षणमुक्तं तन्न सम्भवति जगत्कारणतया प्रधानादीनामेव नियतत्वादितीमां शङ्कां निराकर्तुकामो निरुक्तस्य ब्रह्मलक्षणस्यान्यपरत्वं न सम्भवतीत्यावेदयितुमाह—

32890

ईक्षतेर्नाशब्दम् १। १। ५।

छान्दोग्ये सद्विद्यायां समाम्नायते—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छा० ६।२।३) इत्यादिसद्विद्याप्रकरणमेवास्याधिकरणस्य विषयः। तत्राखिलजगत्कारणतया प्रकृतवाक्ये श्रूयमाणं यत्सत्पदवाच्यं तत्साङ्ख्यतन्त्राभिमतं स्वतन्त्रमानुमानिकं प्रधानमाहोस्विद्चित्पदवाच्यप्रधानशरीरकम्ब्रह्मेति संशयः।

तत्रायम्पूर्वः पक्षः। स्वातन्त्र्येण साङ्ख्योक्तस्य त्रिगुणस्य प्रधानस्यैव जगत्कारणत्वं युक्तम्। न ब्रह्मणः। तस्य जन्यधर्मानाश्रयत्वेनापरिणामित्वात्। प्रधानन्त्वचेतनं परिणामि नित्यमेकञ्च। तथा च प्रकृतश्रौतवाक्यं इदमितिप्रसिद्धमचेतनं त्रिगुणात्मकं कार्यं निर्दिश्य तस्य स्थूलावस्थाराहित्यं सद्रूपत्वमेवोच्यते सदासीदिति। तस्यैकस्य विज्ञानेन तत्कार्यरूपस्याखिलप्रपञ्चस्य विज्ञानमप्युत्तरत्रोदीर्यमाणं सामञ्जस्यमुपैति। अत एवान्यत्र "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् (श्वे० ४।५) इति स्पष्टमेवाभिहितम्। प्रधानस्यैव जगदुत्पादकत्वम्। सत्त्वगुणांशेन शुक्लां रजोंऽशेन लोहितां तमोगुणांशेन च कृष्णां प्रजां जनयन्तीमित्यर्थात्। तच्च प्रधानं प्रकृतिशब्दवाच्यं सदादौ महदादिक्रमेण परिणमते। एवं चतुर्विंशतितत्त्वात्मकं व्यपदिश्यते। तदुक्तम्। 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न

प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" (सा० का० ३)। प्रधानस्य जगत्कारणत्वे रजःसत्त्वयोगादस्य क्रिया ज्ञानशक्तिरपि सम्भवत्येव । ज्ञानस्य सत्त्वधर्मत्वात् । "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च" (गी० १४।१७) इतिवाक्यात् । एतस्य सत्त्वस्य च प्रधानावस्थायामपि वर्तमानत्वादचेतनस्यापि प्रधानस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वञ्चोपपद्यते । सत्त्वस्य स्वयमक्रियत्वेन प्रकाशाख्यज्ञानवृत्तेरनुत्पादकत्वेऽपि चलेन रजसा तदुपष्टम्भात्तज्जनने प्रवृत्तिः । तमस्त्वावरकत्वेन गुरुत्वेन चोभयो सत्त्वरजसो क्वचित्प्रवर्तयत्क्वचिन्निवर्तयन्नियमयति । एते च प्रवृत्तिनिवृत्ती तदुत्तरकार्यानुमेये । गुणानामथ स्वभावोऽभिहितः साङ्ख्यकारिकायाम्—

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

एवञ्च ब्रह्मणः सत्त्वरजस्तमोगुणसत्त्वाभावेन न ज्ञानादिशक्तिमत्त्वं, न वा जगत्सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वमुपपद्यते । प्रधानस्य तु त्रिगुणत्वादुक्तक्रमेण ज्ञानशक्त्यादिमत्त्वं, जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वं न विरुध्यते। अत एव "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः" (गी० ३।२७) इति स्पष्टमुक्तम् । तस्मादत्र सर्वज्ञं सर्वशक्तिमत्प्रधानमेव जगत्कारणम् । तदेव च सदेवेत्याद्यखिलकारणवाक्यानि प्रतिपादयन्तीतिप्राप्ते ब्रूमः । ईक्षतेर्नाशब्दमिति । अशब्दमानुमानिकं साङ्ख्याभिमतं प्रधानं न सदेव, न सत्पदवाच्यं जगत्कारणम् । "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इतीक्षतिधातोः श्रवणात् । अपि तु ब्रह्मैव जगत्कारणम् । तस्य चेतनत्वेनेक्षणसम्भवात् । प्रधानस्य त्वचेतनत्वेन तदसम्भवात् ।

एवमाम्नायते—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत" (छा० ६।२।३) इतिसृष्टिवाक्ये जगत्कर्तृ

कृतस्येक्षणस्य श्रवणाच्चेतनात्मककर्तृकत्वमेवेक्षणस्यानुभविकत्वात्। चेतनरूपस्य ब्रह्मण एव जगत कारणत्व न त्वचेतनस्य प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण। प्रधानस्य तु ब्रह्मशरीरत्वात् तत्पारतन्त्र्येण जगत्कारणत्वम्। अत एव "तदधीनत्वादर्थवत्" (ब्र० सू० १।४।३) इतिसूत्रेण "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) इतिश्रुत्या च प्रधानस्य ब्रह्माधीनत्वेन चेतनव्यतिरिक्तस्य जगत कारणत्वमभिहितम्। एवञ्चाचेतनस्य प्रधानस्याचेतनांशस्य जगत कारणत्वोपपत्तावपि न सर्वस्य कारणत्वम्। ब्रह्मणस्तुस्वरूपेणैव तेजोबन्नादिसर्वलोकस्य कारणत्वम्। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वात्। तथा च "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) इति श्रुत्यनुरोधेन सद्ब्रह्मात्मादिशब्दवाच्य ब्रह्म प्रधानद्वारैव तेजोबन्नादिरूपसर्वलोकमुत्पादयति। तत्राप्यादिसृष्टावान्तरसृष्टौ च स्वस्मिन् सूक्ष्मरूपेणाऽव्याकृतनामरूपाभ्या स्थिताना सर्वेषा व्याकृतनामरूपात्मिका सृष्टिं करोति। "तद्धेद तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" (बृ० १। ४। ७) इति श्रुते। तदेवमचेतनमात्रस्य प्रधानांशत्वेन विकारित्वादिदोषाणा प्रधान एव पर्यवसानाद् ब्रह्मणो निर्विकारित्वमेव स्वत सिद्धम्। एवञ्च निर्विकारिणस्तस्य मृदादिस्वरूपस्य घटादिरूपत्वप्राप्तिवत् स्वरूपेणाऽचेतनविकारिजगद्रूपता न सम्भवतीति स्वरूपतो जगदुपादानत्वासिद्धया प्रधानजीवद्वारैव तस्य जगदुपादानत्वम्। तथा च जगतो ब्रह्मोपादानकारणकत्वस्वीकारेऽपि नाद्वैतवाद सिध्यति। तथा सति ब्रह्मकारणवादिमायाकारणवादिवाक्यानामेकवाक्यतासम्पादनेऽपि न कश्चिद्विरोध।

एवमग्रेऽपि प्रधानकारणत्वनिषेधपराणा सूत्राणा प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्व न सम्भवतीत्यर्थ एव तात्पर्यम्। एतच्च "तदधीनत्वादर्थव" (ब्र० सू० १।४।३) दिति वैयासिकवाक्यान्निश्चीयते।

यदुक्तम्, ब्रह्मण सार्वज्ञ्य सर्वशक्तिमत्त्वञ्च न सम्भवतीति, तदपि न। ब्रह्मणो नित्यनिर्दोषज्ञानाश्रयत्वात्सर्वसम्भव। तथैव प्रतिपादितत्वात्।

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वे० ६।८) इति तस्य ज्ञानबलक्रियाशक्तीना नैसर्गिकत्वश्रुत सार्वज्ञ्यादिक सर्वमुपपद्यते। किञ्च यदनुग्रहादिदानी तनसिद्धयोगिनामप्यतीतानागतव्यवहितविप्रकृष्टादिविषयक ज्ञान प्रत्यक्षमेव युगपदुत्पद्यते। किन्तर्हि तस्यानाद्यनन्तस्य महाश्चर्यराशे महायोगेश्वरस्य परमपुरुषस्य भगवतो वक्तव्यम्। तथाच—अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण। स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्तिवेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुष पुराणम्। (श्वे० ३।१६) इत्यादयो मन्त्रवर्णास्तस्यानन्तमहिमानमामनन्ति। तस्मात्परमात्मन सर्वज्ञत्वादिक सुतरामुपपन्नम्। प्रत्युत त्वदीयमतसिद्धस्य प्रधानस्यैव तन्नोपपद्यते।

तथाहि—सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्थाया एव प्रधानपदवाच्यत्वात्तत्समये गुणैस्तारतम्यमपहाय वर्तमानतया फलोन्मुखप्रवृत्त्यभाव। तदभावे सत्त्वधर्मेण सार्वज्ञ्यादरनुदयश्च। तत्क्षणेऽपि प्रवृत्तिरङ्गीक्रियत एवेति चेन्न। तदा गुणाधिकारस्य न्यूनाधिकभावेन सत्त्वेन प्रधानमेव प्राधान्याद्धीयेत। अत कथमपि सत्वादिभि सार्वज्ञ्य प्रधानस्य न सिद्धयतीत्यादीनि परशतानि दूषणानि विशेषतो रचनानुपपत्त्यधिकरणे दर्शयिष्याम इति न प्रधानस्य जगत्कारणत्व युक्तमितिदिक्।

एवञ्च अशब्दमित्यस्य शब्दशब्दान्मत्वर्थीयाचप्रत्ययेन सर्वं वाक्य सावधारणमितिनियमादब्भक्षो वायुभक्ष इतिवच्छब्द एव यत्र न प्रमाणमिति विग्रहलभ्योऽर्थ। शब्देतरानुमानप्रमाणवत्त्वमिति

वार्थे। पर्युदासार्थकनञा समासेऽशब्दशब्दान्मत्वर्थीयाच्प्रत्ययेन तस्य निष्पन्नत्वाङ्गीकारात्। तादृशञ्चानुमानिकं स्वतन्त्रमचेतनं प्रधानमेवेति तस्य जगत्कारणत्वं निषिध्यते ईक्षतेरितिहेतुघटित पारमर्षेण सूत्रेण। तथा च–प्रधानं न जगत्कारणत्वेन वेदान्तप्रतिपाद्यम्, वेदान्ततात्पर्याविषयत्वात्। वेदान्तघटकसद्विद्याप्रकरणं न प्रधानतात्पर्यविषयकं तस्य चेतनधर्मबोधकेक्षतिपदघटितत्वात्, "देवदत्त ऐक्षत" इतिवाक्यवदित्यादिदिशानुमानस्वरूपमवसेयम्।

अशब्दमित्यस्य वेदशब्दाऽप्रतिपादितं प्रधानं न जगत्कारणमिति तु नार्थः। "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" (श्वे० ४।१०) "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (श्वे० ६।१६) इति मायाप्रकृतिप्रधानशब्दवाच्यस्य वेदशब्दप्रतिपाद्यत्वदर्शनात्। "तदधीनत्वादर्थवद्" (ब्र० सू० १।४।३) तिसूत्रेण ब्रह्मणः स्वाधीनाव्यक्तपदवाच्यप्रकृतिसकाशा जगत्सृष्टिकर्तृत्वस्य ज्ञापनाच्च।

एवं नाशब्दं शब्दाप्रतिपाद्यं शब्दाऽगम्यं न ब्रह्म किन्तु शाब्दमेव शब्दगम्यमेव। कुतः? ईक्षतेः। "परात्परमीक्षते" (प्र० ५।५) इति परात्परपुरुषस्य ब्रह्मण ईक्षणविषयत्वश्रवणादित्यपि नार्थः। तदाहृतश्रुतावीक्षत इत्यस्य ब्रह्मणो दृश्यत्वसाधकस्य शाब्दत्वसाधकत्वानुपपत्तेः। दृश्यत्वेन ब्रह्मणः शाब्दत्वमप्युपपद्यत इति चेन्न, वाक्यभेदापत्तेः। किञ्चास्यास्त्वदीयकल्पनाया एव सामञ्जस्ये 'औपनिषदत्वान्नाशब्द'मिति साक्षाद्ब्रह्मशाब्दत्वसाधकस्यैव हेतोरुपादानं कुर्यात्। तादृशसूत्राऽप्रणयनमेवाभिव्यनक्ति त्वदायार्थस्य निस्सारताम्। तस्मात्प्रागुदीरित एव राद्धान्तितोऽर्थ इति सर्वं समञ्जसम्। ।१।१।५।।

नन्वीक्षणमात्रेण न चेतनस्य जगत्कारणत्वं सिद्ध्यति। तत्तेज ऐक्षत" (छा० ६।२।३) "ता आप ऐक्षन्त" (छा० ६।२।४)

इत्यप्तेजसोरचेतनयोरपीक्षणत्वश्रवणात् । तत्समानप्रकरणपाठात्सा हचर्याच्च सदीक्षणस्याप्यौपचारिकत्वेन सत्पदवाच्याचेतनप्रधान परत्वेनापीक्षितृत्वोपपत्त्या प्रधानस्यैव जगत्कारणत्व युक्तमित्याशङ्क्य समाधत्ते—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् १।१।६।

अप्तेजसोरचेतनयोरपि "तत्तेज ऐक्षत" "ता आप ऐक्षन्त" इत्यादिष्वीक्षतिर्यथा गौण श्रूयते तथा सत्पदवाच्ये प्रधानेऽपीक्षतिर्गौण स्यात्तेन च प्रधानमेव स्वतन्त्र कारण स्यादिति चेन्न। कुत ? आत्मशब्दात्। उत्तरवाक्येष्वात्मशब्दस्य श्रूयमाणत्वात्। तथा हि—"तदेव सोम्येदमग्र आसीदि"त्युपक्रम्य "ऐक्षत" "तत्तेजोऽसृजत" (छा० २।२।३) इत्येव तेजोबन्नानां सृष्टिमभिधाय तानि चोत्तरत्र तदेव सत्पदवाच्यमीक्षितृदेवतापदेन परामृश्याह "सेय देवतैक्षत" "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति" (छा० ६।३।२) अत्र श्रुतौ जीवेनात्मनेत्यादेर्जीव शरीरेण मयाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीत्ययमर्थ । तथा च तस्यैव तेज आदिषु प्रवेशनतन्नामरूपव्याकरणादिविचारस्य तत्कथनस्य च चेतनधर्मत्वेन सत्पदवाच्यब्रह्मधर्मत्वोपपत्तेर्मुख्यत्वमेवेक्षणस्य। "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।९।४) इत्यात्म शब्देन स्पष्टमभिधानात्। नह्यात्मनो जडत्व येन गौणत्वमीक्षणस्य स्यात्। एवञ्च 'तत्तेज ऐक्षत" "ता आप ऐक्षन्त" इति श्रूयमाणमीक्षण तच्छरीरान्तर्यामिपरमात्मन एवेतिसिद्धम्।

तेजस्यन्तर्यामितया परमात्मनो नियमनकर्तृत्वमन्तर्यामिब्राह्मणात्सिद्धम्। तथा हि—"यस्तेजसि तिष्ठन् तेजसोऽन्तरो य तेजो न वेद यस्य तेज शरीरम् यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ४।७।१४) "योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न

विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृ० ४।७।४) "यः सर्वेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो य सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्" (बृ० ४।७।१५) इत्यत्र तेजोऽबादिपरवाक्येष्वात्मशब्दश्रवणादात्मनस्तेजोबाद्यन्तर्यामित्वेन तच्छरीरितया तेजोबादीनाञ्च शरीरतया श्रवणादीक्षणस्य शरीरधर्मत्वानुपपत्त्या तदन्तर्यामितया सम्बन्धितपरमात्मधर्मत्वेन मुख्यत्वम् । तत्साहचर्य्यात्सदीक्षणस्यापि स-पदवाच्यब्रह्मेक्षणत्वोपपत्त्या मुख्यत्वमेव ।

किञ्च "आत्मा वा इदमग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमॉल्लोकानसृजत" (ऐ० १।१) सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युभयोर्वाक्ययोस्समानार्थकत्वेनैकवाक्यत्वसिद्धौ सच्छब्दस्यात्मवाचकत्वेन तदीक्षणस्य प्राधान्यमेव । एवं "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।२) इत्यस्य सदेवेत्यादिवाक्यस्य च समानार्थकत्वेन सत्पदाभिधेयस्यात्मपदवाच्येन सहाभेदात्तदीक्षणस्य मुख्यत्वान्न सत्पदवाच्यमचेतनं केवलं प्रधानं जगतः कारणमिति ॥ १। १। ६॥

इतश्च न प्रधानं सत्पदवाच्यम् ।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । १। १। ७।

अत्र प्रकृतसत्पदाभिधेयतत्त्वनिष्ठस्योपासकस्य मोक्षोपदेशान्न प्रधानं सत्पदग्राह्यमिति । तथा हि—सदेवेत्यारभ्य "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ । सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" (छा० ६।८।४) इति सत्पदवाच्यस्यैव सर्वप्रजाया मूलत्वेन तत्प्रसूत्वं तदायतनत्वेन तत्स्थितिहेतुत्वं तत्प्रतिष्ठत्वेन तत्प्रलयहेतुत्वञ्चाभिधायानन्तरम् "अस्य सोम्य

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" (छा० ६।८।६) "स य एषोणिमा" (छा० ६।८।७) इतिप्रकृतमेव सत्पदवाच्यं परदेवतापदेनाणिमशब्देन च परामृश्य "एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।८।७) इत्यत्र स आत्मेति तस्यैव प्रकृतस्य सत्पदवाच्यस्य परामर्शः। एतदात्मकमिदं सर्वमिति सदात्मकत्वं सर्वस्य जगतो ज्ञापयित्वा "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" रिति चेतनस्यापि सदात्मकत्वोपदेशेन तन्निष्ठोपदिष्टा। ततश्च सद्ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्मव्याप्यत्वेन प्रत्यगात्मानुसंधाननिष्ठस्य तस्य "आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छा० ६।१४।२) इतिरीत्या "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति" (छा० ६।१४।२) इति मोक्षोपदेशश्रवणात्। एवञ्च पूर्वोदितसद्विषयकज्ञानवतस्तत्त्वमसीत्युपदेशेन स्वस्य सत्तादात्म्यज्ञानं मोक्षहेतुर्न हि स्वस्याचिदभेदज्ञानम्। तस्मात्सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणमात्मैव न प्रधानम्। अत्र श्रुतौ "विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्य" इत्युभयत्रोत्तमपुरुषः छान्दसत्वात्प्रथमपुरुषे ज्ञेयः ॥ १। १। ७॥

हेयत्वावचनाच्च ।१।१।८।

"एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।९।४) इत्यत्र हेयत्ववचनाभावान्न सच्छब्दवाच्यं प्रधानम्। यदि तदेव स्यात्तदा तदनात्मतत्त्वं स्यात् तन्नास्ति, अतस्तदात्मकत्वेनात्मानं नानुसंधत्स्व। तदनुसंधानस्य मोक्षविरोधित्वादित्येवं मातापितृसहस्रवत्सलतरेण परमहितानुशासनपरेण वेदेनोपदिष्टं स्यात्। यथाऽरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थताराणां हेयत्वं स्पष्टं निर्दिशति तद्वदिहापि स्यान्न च तथा दृश्यते ॥ १। १। ८॥

इतोऽपि न प्रधानं सच्छब्दवाच्यमित्याह—

प्रतिज्ञाविरोधात् ।१।१।९

"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं स्यात्" (छा० ६।१।३) इत्यत्र कारणविज्ञानेन तत्कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञानमितीयं सर्वविज्ञानविषया प्रतिज्ञा विरुद्ध्यते प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वे। कुतः? प्रधानस्याचेतनत्वेन तद्विज्ञानेन चेतनाचेतनसम्भिन्नस्य सर्वस्य प्रपञ्चजातस्य विज्ञानं न स्यात्। चेतनवर्गस्य तत्कार्यत्वाभावेन सर्ववस्तुविषयिण्याः प्रतिज्ञाया विरोधः स्पष्ट एव ॥१।१।९॥

इतश्च न प्रधानं सत्पदवाच्यम्—

स्वाप्ययात् १।१।१०।

अत्रापि तदेव सत्पदवाच्यं कारणं प्रकृत्याह—"स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति" "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति" (छा० ६।८।१) इति सुषुप्तस्य जीवात्मनः सता सम्पत्तिर्भवतीति श्रुतिर्दर्शयति। स्वमपीतो भवतीत्यनेन प्रलयो बोध्यते। स च सर्वेषां स्वकारण एव भवतीति सकलतान्त्रिकसमयः। एवञ्चात्र सत्पदेन प्रधानाख्ये केवलेऽचेतने गृहीते तत्रैव लयो वक्तव्यः। स चायुक्त एव। नहि चेतनस्य जीवस्याचेतने लयः सम्भवदुक्तिकः। तस्मात्सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे ब्रह्मणि सत्पदवाच्य एव स्वाप्ययो युक्त इति ॥१।१।१०॥

प्रधानं न जगतः कारणमित्यर्थेऽन्येषां वेदान्तवाक्यानां सम्मतिमाह—

गतिसामान्यात् ।१।१।११।

सर्वेष्वपि वेदान्तेषु चेतनस्य ब्रह्मण एव कारणत्वमुच्यते न प्रधानादीनाम्। यद्यत्र सद्विद्यायां सत्पदवाच्यं प्रधानमेव जगत्कारणं

तयोच्येत तर्हि तद्भिन्नानामात्मपदबोध्यब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्याभिधायिनीनामनेकश्रुतीनां वैमत्य प्रसज्येत। एकार्थप्रतिपादकत्वरूपमेकवाक्यत्वञ्च भज्येत। ताश्च श्रुतय.। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत" (ऐ० १।१) "आत्मन एवेदं सर्वम्" (छा० ७।२६।१) तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः" (तै० २।१) "आत्मन एष प्राणो जायते" (प्रश्न० ३।३।) "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" (तै० ३।१) इत्याद्या.। एतेषा वाक्यानां या गति यत्रार्थेऽध्यवसिता प्रवृत्तिस्तत्समानार्थकत्वादस्यापि वाक्यस्य। प्रदर्शितवाक्येष्वात्मादिपदोपादानाच्चेतन एव जगत्कारणत्वसमर्थनम्। नह्यात्मशब्दोऽत्र समुपस्थापयति स्ववाच्यतयाऽचेतनम् ॥१।१।११॥

इतश्च न सत्पदवाच्य प्रधानम्।

श्रुतत्वाच्च १।१।१२।

श्रुतमेवास्मिन्सद्विद्याप्रकरणे सच्छब्दवाच्यस्योत्तरत्र वाक्येष्वात्मत्वेनानुस्मृति। तथा हि—सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युपक्रम्य "तत्तेजोऽसृजत" "सन्मूला सोम्येमा प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा" इति मध्ये प्रदर्श्य "स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।९।३) इत्येवमादिभिस्तस्य सच्छब्दवाच्यस्यात्मतयोपदर्श्य सत आत्मन एव जगत्स्रष्टृत्वनामरूपव्याकर्तृत्व–सर्वज्ञत्व–सर्वशक्तित्व–सर्वाधारत्वादयो गुणा स्पष्टम्प्रतिपादिता। एव तस्यामेवोपनिषदि सप्तमाष्टमयो प्रपाठकयो "आत्मैवेद सर्वम्" (छा० ७।२५।२) "आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप" इत्यारभ्य "आत्मत एवेदं सर्वम्" (छा० ७।२६।१) "य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यारभ्य सत्यकाम सत्यसंकल्प. सोऽन्वेष्टव्य. स विजिज्ञासितव्य." (छा० ८।७।१) इति श्रुतम्।

दभिवचनै स्पष्टमेव सत्पदवाच्यात्मन एवापहतपाप्मत्व सत्यकामत्व सत्यसकल्पत्वाद्योऽसाधारणधर्मा प्रतिपादिता । तस्मादत्र सत्पद वाच्यस्य परमात्मन एव जगत्कारणत्वमितिसिद्धम् ।

तदेवमथात इत्यारभ्य श्रुतत्वाच्चेत्येतदन्तै सूत्रै सर्वज्ञसर्व शक्तिमत् सर्वकारण सर्वात्मक चित्स्वरूप ब्रह्म सर्ववेदान्तप्रतिपाद्य मित्युपपाद्याचेतनप्रधानस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कारणत्वनिरासेन न ब्रह्म लक्षणस्य तत्रातिव्याप्तिरितिस्पष्टमुपपादितम् ॥१।१।१२॥

अथापि चेतनसामान्यात्प्रकृतिसयोगहेतुकविविधवृजिनसन्तप्त स्य प्रत्यगात्मनोऽपि कैश्चिच्छास्त्रोपदर्शितोपायैस्तदशविशुद्धताया सम्पादितायां तत्र तल्लक्षणस्योपसङ्क्रम स्यादिति तामिमा शङ्काम पाचिकीर्षन्नुत्तराधिकरणमारचयति—

इति ईक्षत्यधिकरणम्

अथ आनन्दमयाधिकरणम्

आनन्दमयोऽभ्यासात् १।१।१३।

तैत्तिरीयकेऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयादिप्रतिपादनाद नन्तर "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयस्तेनैष पूर्ण स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वय पुरुष विध । तस्य प्रियमेव शिर । मोदो दक्षिण पक्ष । प्रमोद उत्तर पक्ष । आनन्द आत्मा । ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा" । (तै० २।५) इति श्रूयते । तत्र सशय । किमत्रानन्दमयपदेन" सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्मेति प्रकृत परब्रह्मैवाभिधीयत आहोस्वित् प्रत्यगात्मपदवेदनीयो जीव इति । कि युक्तम् ? जीव एवात्राभिहित ॥ कुत ? अन्नमयादि विकारसाहचर्यात् । "तस्यैष शारीर आत्मेति तस्य पूर्वस्य शारीरत्व श्रवणात् 'ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठे ति ब्रह्मण आनन्दमयपुच्छत्वेन पुच्छव दाधारत्वनिर्देशेन तत पृथक्त्वज्ञापनात् । तस्य च चेतनत्वेनेक्षण

पूर्वकसृष्ट्यादिकर्तृत्वोपपत्ते । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यारभ्या "नन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तै० ३।६) इत्यन्तेयं श्रुतिर्जीवस्यैव ब्रह्मत्वमात्मत्वमानन्दत्वं जगत्कर्तृत्वं च ज्ञापयतीतिप्राप्त उच्यते। आनन्दमयोऽभ्यासादिति आनन्दमयः परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः? अभ्यासात् आनन्दमयपदस्य ब्रह्मण्येवाभ्यासदर्शनात्। तथाहि—अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयस्तम्प्रस्तुत्य, "रसो वै सः" (तै० २।२७।) इति तस्यैव रसत्वं सारत्वमानन्दत्वमुक्त्वोच्यते 'रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष एवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयप्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति युवा स्यात्साधुयुवाध्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मानुषगन्धर्वाणामानन्दः" (तै० २।७।८।) एवं पूर्वेषां पूर्वेषां शतेन शतेन चानन्देनतुल्यं उत्तरेषामुत्तरेषाञ्चैक आनन्दः। एवं गन्धर्वदेवगान्धर्वपित्राजानजदेवकर्मदेवदेवेन्द्र बृहस्पतिप्रजापतीनामानन्दानुक्त्वाह "ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न बिभेति कुतश्चन" (तै० २।८।९।) इत्यानन्दवल्ल्यामसकृदभ्यस्यमानमानन्दपदं स्वकर्मोपार्जितानन्त क्लेशाश्रयप्रत्यगात्मनि प्रसरतामलभमानं निखिलकल्याणगुणभाजनं निस्समाभ्यधिकं परमपुरुषं पुरुषोत्तमश्रीरामपदवाच्यं भगवन्तमेव स्ववाच्यतयोपस्थापयतीति निरवद्यम्।

अग्रेप्यस्य प्रकरणस्योक्तेऽर्थे एवपर्यवसानात् स एवार्थोऽवसेयः तथाच "भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधि हि भगवो।

ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनोवाचमिति तँ होवाच यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वाऽन्नम्ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तै० ३।२।) इत्यारभ्यानन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति सैषा भार्गवी वारुणीविद्या । परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता" (तै० ३।६।) इत्यन्तया वल्ल्या स्पष्टमेवानन्दस्य ब्रह्मत्वाभिधानात् ।

अत्र हि सृष्टिस्थितिप्रलयकारणस्य बुबोधयिषया वरुणेन क्रमशोऽन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दाना भृगुम्प्रत्युपदिष्टत्वात् पर्यवसाने चानन्दाद्ध्येव खल्विमानीति श्रुत्याऽनन्दस्यैव ब्रह्मस्वरूपावगम कृत । तदनन्तरं प्रश्नप्रतिवचनयोरश्रवणात् भृगोर्जगत्कारणविषयिण्या जिज्ञासाया आनन्दपदार्थ एव परिसमाप्तत्वाद्वारुणिविद्ययानन्दस्यैव ब्रह्मत्व जगत्कारणत्वमिति निश्चयादानन्दमयपदव्यपदेश्य परमात्मैव न जीव इति ।

किञ्च "स एको मानुष आनन्द" इत्यारभ्य 'स एको ब्रह्मण आनन्द, इत्यन्तेन मनुष्यादिप्रजापत्यन्ताना जीवानामानन्देभ्यो ब्रह्मण आनन्दस्य बहुप्रचुरत्वश्रवणादानन्दप्रचुर आनन्दमय परमात्मैव भवितुमर्हति नजीवस्तदल्पतरानन्द । एव जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रकारेणैव जीवस्य जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वप्रतिषेधात् प्रकृते चानन्दस्य जगत्कर्तृत्वश्रवणात् आनन्दमयस्य परमात्मपरत्न एव तेत्सामञ्जस्यादानन्दमय परमात्मैवेति सिद्धम् ।

यदुक्त 'ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा" इति ब्रह्मण आनन्दमयपुच्छत्वोक्त्या पुच्छवत्तदाधारत्वेन ततोभिन्नत्वज्ञापनादानन्दमयो जीव इति। तन्न । कुत उक्तेनाभ्यासेन जगत्कारणत्वेन चानन्दमयस्य परमात्म

त्वनिष्पत्तेः । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यस्य चानन्दमय आत्मा स एव ब्रह्मपुच्छवदन्नमयाद्याधारः प्रतिष्ठेत्यर्थकत्वात् तदुपपत्तेः ।

किञ्च यथाऽन्नमयो देहः स्वस्मादभिन्नैः स्वावयवैरेव शिरश्चक्षुः श्रोत्रहस्तपादादिभिर्व्यपदिश्यते तथानन्दमयब्रह्मापि "स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः" इत्युक्तस्य पुरुषविधत्वस्योपपादकैः स्वस्मादभिन्नैः प्रियमोदप्रमोदपुच्छैः 'तस्य प्रियमेव शिरः" इत्याद्युक्तैर्व्यपदिष्टं भवति । तत्रावयवत्वेन निरूपितानां प्रियमोदप्रमोदानां पुच्छत्वेन प्रतिष्ठत्वेनाश्रयत्वेनानन्दमयब्रह्माखण्डानन्दं भवतीति ज्ञापनाय 'पुच्छम्प्रतिष्ठे' त्युक्तम् । यदि त्वानन्दमयादन्यद्ब्रह्म स्यात्तदा "तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मा ब्रह्मेत्यादिकमप्युक्तं स्यान्नत्वेवं वचनान्तरं श्रूयते । तस्मादानन्दमयम् एव ब्रह्म न ततोऽन्यदिति ।" यत्तूक्तं "तस्यैष एव शारीर आत्मा" तस्य पूर्वोदितस्य विज्ञानमयस्य एष आनन्दमयः शारीर आत्मेत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणात् शरीरसम्बन्धिनः शारीरत्वोपपत्तेः शारीरो जीव एवानन्दमयो भवितुमर्हतीति तन्न । "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (बृ० ३।७।३) इत्युपक्रम्य, "योऽप्सु तिष्ठन् योऽग्नौ तिष्ठन्, योऽन्तरिक्षे तिष्ठन् यो वायौ तिष्ठन्, यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद" (बृ० ३।७।२२) इत्यादिकं बृहदारण्यके पठितम् । माध्यन्दिनीयास्तु विज्ञानस्थाने 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽन्यदार्त्तम्" । (बृ० ३।७।२२) इत्यादौ सर्वेषां पृथिव्यादीनां तथा मनसः प्राणस्य, विज्ञानात्मनश्च परमात्मशरीरत्वश्रवणात् परमात्मनश्च तदन्तर्याम्यात्मत्वश्रवणाच्च तस्यैव सर्वं शारीरत्वनिष्पत्तेरत परमात्मैवानन्दमयो सेद्धुमर्हति न ततोन्यो जीव इति "अतोऽन्य

दार्त्तमिति परमात्मव्यतिरिक्तस्यार्तत्वश्रवणात् जीवस्यानन्दमयत्वाऽसम्भवात् ॥ १।१।१३ ॥

नन्वस्तु ब्रह्मण आनन्दपदवाच्यत्वम् परमानन्दमयपदबोध्यत्वन्तु न सम्भवति मयटोविकारार्थकत्वात्। यथा दारुमयी हस्ती, मृण्मयानि पात्राणि, पर्णमयी जुहू, दर्भमयी वेदी, इत्यादौ विकारार्थकस्य दृष्टत्वात् विचार्यमाणप्रकरणेऽपि अन्नमय प्राणमयो मनोमय इत्यादिषु च यथा विकारार्थकस्य मयटो दृष्टत्वात्तथा प्रकृत आनन्दमयपदेऽपि प्रायपाठसामर्थ्याद्विकारार्थकस्यैव मयटो ग्राह्यत्वात्तादृश आनन्दविकारत्व प्रत्यगात्मनि जीवे सम्भवत्येव ससारित्वदशायामिति जीवस्यैवात्रानन्दमयपदभाक्त्व नतु परमात्मनस्तस्याविकृतत्वादित्याशङ्क्य समाधत्ते—

विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात्। १। १। १४।

अन्नमय इति विकारार्थकमयट्साहचर्यादानन्दमय इत्ययमपि मयड्विकारार्थक एवातो नानन्दमयपदवाच्य ब्रह्म भवितु महतीति चेन्न। प्राचुर्यात् आनन्दमय इत्यत्र मयट्प्रत्ययस्य प्राचुर्याभिधायित्वात्। "स एको मानुष आनन्द" इत्यारभ्य "स एको ब्रह्मण आनन्द" इत्यन्तेन मानुषाद्यानन्देभ्य प्रजापतिपर्यन्तानन्दाना शतगुणाधिक्यश्रवणात्। ततोऽपि ब्रह्मण आनन्दस्य शतगुणाधिक्यस्य श्रवणात् तदानन्दस्य प्रचुरत्वोपपत्तेरयमानन्दप्रचुर परमात्मैव नत्वल्पतरानन्दो जीव इति। यतो ब्रह्मण आनन्दस्य ज्ञानाज्जीवोऽभय गच्छतीत्युक्तन्तत्रैव। "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै० २।९) इति। यस्य ब्रह्मण प्रचुरानन्दज्ञानाज्जीवोऽभयतामुपयाति कुतस्तर्हि तदानन्दप्राचुर्य प्रत्यगात्मनीति ब्रह्मैवानन्दमयपदवाच्यम्।

यदुक्त अन्नमयेत्यादौ प्राय पाठबलात्समानार्थकत्वस्य न्याय्य

त्वेन विकारार्थकत्वमेवानन्दमयपदेऽपि मयट् इति। तदयुक्तम्। प्राणमय एव तावत्तस्य विकारार्थकस्य मयटोसम्भवात्—तत्रैवान्यार्थस्य स्वीकर्तव्यत्वात्।

अत्रेदं विचारणीयम्। विज्ञानमयानन्दमयपदयोर्मयट् विकारार्थे कथं निष्पद्यते? मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोरिति पाणिनीयन्तु भाषायामेव प्रवर्तते नच्छन्दसि? प्रकृतपदयोश्च च्छान्दसत्वात्। न च नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (४।३।१४४) इति वृद्धत्वादेव मयडितिवाच्यम्, तत्रापि पूर्वसूत्रेण मयडादीनामिव भाषायामित्यस्याप्यनुवृत्तेरानुभविकत्वात्। शरमय बर्हिर्भवति" 'दर्भमयं वासो भवति' यस्य पर्णमयी जुहूरित्यादि वैदिकेषु प्रयोगेषु "द्व्यचश्छन्दसि" (पा० सू० ४।३।१५०) इत्यनेनैव सिद्धि। विज्ञानानन्दयोर्द्व्यच्कत्वाभावान्न तेन निर्वाह.। मृण्मय गृहमिति वैदिकोऽपि चेत्प्रयोगस्तर्हि तत्र प्राचुर्य एव मयट्। एवं तत आगताद्यर्थेष्वपि मयटोऽसामञ्जस्यं स्पष्टमेव। तस्मादत्रानन्दप्रकृतिको मयट् प्राचुर्ये एव "तत्प्रकृतवचने मयट्" (पा० सू० ५।४।२१) इति सूत्रेण विहितोऽपूपमयं पर्व इतिवत्। तथाच—विज्ञानमयो विज्ञानप्रचुरो यथा जीवस्तथाऽनन्दप्रचुरः परमात्मेति सिद्धम्।

अत्र "यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्" "एष एवानन्दयति" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म व्यजनात्" आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त" इत्येवमादिकमानन्दस्यैवाभ्यासं दृष्ट्वाऽनन्दमयपदाभ्यासमदृष्ट्वाऽपि सूत्रकार आनन्दोऽभ्यासादित्येवं न सूत्रयामास किन्त्वानन्दमयोऽभ्यासादित्येवम्। पुनः विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यादित्यत्र मयट स्वार्थिकत्वं विहाय प्राचुर्यार्थकत्व यदुक्त तत् गौणश्चेन्नात्मशब्दादित्यत्रस्तेनात्मशब्देन क्षणकलृकत्वाचेतनवाचकेन ब्रह्मस्वरूपस्य चित्प्रकाशज्योतिरात्मकत्वं यज्ज्ञापितं तच्चिज्ज्योति स्वरूप ब्रह्म, आनन्दप्रचुरं प्रभूतानन्द-

गुणकमस्तीति ज्ञापनायैव। यद्यानन्दस्य ब्रह्मस्वरूपत्वज्ञापनपरः सूत्रकारो भवेत्तदाऽऽनन्दोऽभ्यासादित्येवं सूत्रयेत्। द्वितीयसूत्रेऽपि स्वार्थिकत्वादित्येव लिखेन्नतु प्राचुर्यादिति। प्रचुरप्रभूतानन्दगुणकं चिज्ज्योतिःस्वरूपं ब्रह्म जगत्कारणं जिज्ञास्यमिति ज्ञापनायैव तथोक्तम्। अत एव "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्र० सू० ३।३।११) इति सूत्रेणाप्यानन्दादीनां ब्रह्मगुणतया स्फुटीकरिष्यमाणत्वात्। तदेतच्छ्रुतिसिद्धमेव ज्ञापितं सूत्रकारेणेति। तथाच श्रुतिः—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।) इत्यनेन वाक्येन ब्रह्मण स्वेतरव्यावृत्तं स्वरूपमभिधीयते। तत्र चत्वारि पदानि सन्ति। एकस्मिन् वाक्ये एकस्यैव पदस्य विशेष्यताप्रयोजकत्वम् सत्यज्ञानानन्तपदानि तु स्ववाच्यवृत्तिविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकानीति मन्तव्यम्। तत्र विनिवृत्तोपाधिकसत्त्वाश्रयत्वम्प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तदाश्रयीभूतं ब्रह्माभिधत्ते सत्यपदम्। तेन च चिदचितोर्व्यावृत्ति. फलिता। तत्राचिद्द्रव्यस्य स्वरूपतः परिणामित्वेनावस्थान्तराश्रयणाद्विकारितया सोपाधिकसत्ताश्रयत्वम्। तदन्वयानुविधायित्वेन तत्संसृष्टचेतनस्यापि नामान्तरादिधारकतयौपाधिकसत्त्वकत्वम्। अतस्तद्व्यावृत्तिरत्र सत्यपदेन सम्पद्यत एव। नित्यत्वविशिष्टसंकोचविकासपरिहीणसमानाकारकज्ञानाश्रयीभूतं ब्रह्माचष्टे ज्ञानपदम्। अत. संसारदशायां संकुचितज्ञानवता मुक्तात्मनां व्यावृत्ति। देशादिपरिच्छिन्नताराहित्याश्रयीभूतं ब्रह्मापस्थापयत्यनन्तपदम्। ततश्च ब्रह्मणः सगुणत्वात्तत्स्वरूपस्य तद्गुणानाञ्चानन्त्यात्सातिशयस्वरूपगुणवतां नित्यानाञ्च व्यावृत्तिः फलति। त्रिभिर्विशेषणैरेतत्त्रयं व्यावृत्यते। एतेन जीवानां बद्धमुक्तनित्यभेदेन त्रैविध्यमपि दर्शितम्भवतीत्यन्यत्रविस्तरः। प्रकृतलक्षणे ज्ञानमिति पदस्यार्शआद्यजन्तत्वेन ज्ञानगुणाश्रयत्वमेवार्थः। एवं ज्ञानस्वरूपत्वमप्यर्थः स तु "प्रज्ञानघन एवानन्दमयः" इत्यादिश्रुतिभिरवगन्तव्य इति।

५

एवञ्चात्र वाक्ये सत्यमनौपाधिकमबाधित ज्ञान स्वप्रकाशकम् अनन्तमपरिच्छिन्न ब्रह्मेत्यर्थे पर्यवसन्नो भवति । तथैव "विज्ञान मानन्द ब्रह्म" (बृ० ३।९।२८) इति विज्ञानपदेन स्वप्रकाश चिज्ज्योतीरूपमुक्तम्भवति तस्य तेजोभूतत्वाद्द्रव्यत्वम्, आनन्दस्य सुखपर्यायत्वेन गुणत्वे गुणस्य द्रव्याश्रितत्वेन चिज्ज्योतिषो गुण एवानन्द । तत्राप्यानन्दस्य क्लीबत्वनिर्देशात् ब्रह्मपदसामानाधि करण्यनिर्देशाच्च ब्रह्मस्वरूपसमानाकारत्वमवगम्यते । अन्यथाऽनन्द पदस्य घञन्तत्वेन घञजप पुसीतिलिङ्गानुशासनबलात् पुस्त्व स्यात् । तथा चायमर्थ सम्पन्नो भवति, स्वरूपसमानाकारानन्दगुणक स्वप्रकाश ज्योति स्वरूप ब्रह्मेति । एवमेव "आनन्दो ब्रह्म" (तै० ३।६) इत्येवमाद्या श्रुतय ब्रह्मपदसामानाधिकरण्यात्तमेवार्थमुपस्था-पयन्ति । तस्मात्स्वरूपसमानाकारानन्दगुणक स्वप्रकाशचिज्ज्योति स्वरूप ब्रह्मैव सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यमखिलजगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकारण यत्तदेवात्राभिहितम् । तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेश प्राज्ञवदिति 'सूत्र कारेणात्मनो विज्ञानगुणसारत्वादानन्दगुणसारत्वाच्च विज्ञानानन्द पदाभ्या व्यपदेश इति स्पष्टमुक्तम् । प्राज्ञवदिति दृष्टान्त । यथा य सर्वज्ञ सर्वविदिति सर्वज्ञात्वेन श्रुत प्राज्ञो ज्ञानगुणसारत्वात् सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्मेति ज्ञानशब्देन व्यपदिश्यते । यथा च आनन्द ब्रह्मणो विद्वानिति । स एको ब्रह्मण आनन्द इत्यानन्दगुणकत्वेन श्रुतस्य प्राज्ञस्यानन्द गुणसारत्वात् "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" "आनन्दो ब्रह्म व्यजानात्" (तै० ३।६।) इत्यादावानन्द शब्देन व्यपदेश इति ज्ञानानन्दयोर्ब्रह्मगुणसारत्वेन तत्सामानाधि करण्यनिर्देशेन ब्रह्म स्वरूपसमानाकारत्वस्य स्फुटीकरिष्यमाण त्वात् ॥१।१।१४॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च १।१।१५ ।

आनन्दप्रचुर परमात्मेत्यत्र हेतुमाह तद्धेतुव्यपदेशाच्चेति ।

"एष एवानन्दयाति" (तै० २।७।) एष परमात्मा जीवमानन्दयतीति जीवानन्ददाने परमात्मनोऽत्र हेतुव्यपदेशात्। योऽन्यानानन्दयति स स्वयमानन्दप्रचुरो भवति यथालोके स्वयं धनी सन्नेव परान्धनिनः करोति तथाऽनन्दयातीतिनिर्देशः। दीर्घश्छान्दस। अथवा इतश्चानन्दमय. परमात्मेत्याह तद्धेतुव्यपदेशाच्च। तस्यानन्दमयस्य परमात्मत्वे यो जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वरूपोऽव्यभिचारी हेतुस्तस्य "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तै० ३।६।) इत्यादिना व्यपदेशादानन्दमय. परमात्मा। तथा हि "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म"त्यनया श्रुत्या जगज्जन्मादिकर्तृत्वस्य ब्रह्मैकनिष्ठत्वबोधनेन तस्य ब्रह्मत्वसाधकहेतुत्वात्। एव जगद्व्यापारवर्जमितिसूत्रेण मुक्तजीवपर्यन्तानां जीवाना सृष्ट्यादिकर्तृत्वप्रतिषेधेन तादृशसृष्ट्यादिकर्तृत्वहेतोर्ब्रह्मत्वसाध्याव्यभिचारित्वेन दृढीकृतस्य "आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयन्त्यभि संविशन्ति" (तै० ३।६) इत्यत्रानन्दमयस्य ब्रह्मत्वज्ञापकतया व्यपदेशादानन्दमय' परमात्मा भवितुमर्हति। प्रयोगस्त्वीदृश. "आनन्दमय परमात्मा भवितुमर्हति जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वात्" यज्जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वाभाववान् न स परमात्मा यथा घट। एवमप्यानन्दमयपदवाच्य ब्रह्मेति सिद्धम्॥ १।१।१५॥

इतश्च न जीव आनन्दमय —

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ।१।१।१६।

"सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" इति मन्त्रवर्णोदित ब्रह्मैवानन्दमयो गीयते। तज्जीवप्राप्यत्वेन श्रुतं जीवात्परं ततोऽन्यद्भवितुमर्हति। तथा हि "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" इत्युपक्रम्य "सत्य ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म,

यो वेद निहितं गुहायाम्" सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै० २।१।) इत्यस्मिन्मन्त्रे यद्गीयते तन्मान्त्रवर्णिकम्। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।१।) इत्यादि-श्रुतिभिरात्मत्वेनाकाशादिकर्तृत्वेनानन्दमयत्वेन "स एको ब्रह्मण आनन्दः" इत्यानन्दप्रचुरत्वेन च गीयत इत्यर्थः।

अयम्भावः। ब्रह्मविज्जीवप्राप्यतया जगत्कर्तृतयानन्दप्रचुरतया श्रूयते यद्ब्रह्म मान्त्रवर्णिकं तदेवानन्दमयपदवाच्यं भवति न जीवः। प्राप्तुरुपासकस्य जीवस्य स्वप्राप्यब्रह्मत्वानुपपत्तेः। जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रेण मुक्तस्यापि जीवस्य जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च न जगत्कर्त्तानन्दमयपदवाच्यो जीवः किन्तु ब्रह्मैव।

अत्रेदं तत्त्वम्—"जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १। १। २।) इत्यारभ्य "मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते" (ब्र० सू० १। १। १६।) इत्यन्ते सूत्रे सूत्रकृद्भिर्निश्चितम् तद्धि जगत्कारणं ब्रह्म द्विभुजाद्यवयवविग्रहवदस्तीति "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत" (पु० सू० ११) इत्यनया श्रुत्यावगम्यते सोऽस्य विग्रहो ब्रह्मानन्दमयोऽस्तीति "अर्द्धमात्रात्मकोरामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः" (श्रु० ता०) इत्यनयावगम्यते। तदविरोधेन ब्रह्मप्रतिपादकनिराकारपदस्य प्राकृतहेयाकारनिषेधपरत्वमुपपद्यते। प्राकृताकाररहितत्वं निराकारत्वमिति तन्निर्वचनम्। तस्य जगत्कर्तुर्ब्रह्मणो ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्याद्यो बहवः स्वाभाविका दिव्या गुणाः सन्ति। एतच्च, "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वे० ६।९।) "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वे० ६।८।) इत्यादिभिः श्रुतिभिरवगम्यते। एवञ्च "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्" (क० १।३।१५।) इत्यादि श्रुतौना "सर्वगन्ध

सर्वरस" इत्यादिश्रुतिभि सहैकवाक्यतया प्राकृतहेयगन्धादि-निषेधकत्वमुपपद्यते। एवं "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपास सत्यकाम सत्यसकल्प." (छा० ८।७।१।) इत्यनया श्रुत्या तस्य हेयान् पाप्मत्वादीन् गुणान् प्रतिषिध्य दिव्या-नामेव सत्यकामत्वादिगुणाना प्रकाशनात्। नचागन्धमस्पर्श-मित्यादिश्रुतिविरोधेन ज्ञानशक्त्यादिगुणानामेवौपाधिकत्व कुतो न स्यादिति वाच्यम्। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेत्यत्र श्रुतौ स्वाभाविकत्वेनैव स्वकण्ठरवेणोक्ताना ज्ञानादीनामौपाधिकत्वानुप-पत्ते। तस्मादगन्धमित्यादिवाक्याना हेयगुणनिषेधपरत्वेनाचक्षुर-श्रोत्रमित्यादिवाक्यानाञ्च हेयप्राकृतशरीरनिषेधपरत्वेन चापपत्ति। तथा च कर्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिमित्यादिवचनै साकारजगत्कर्त्र न्तर्यामिब्रह्मदर्शनेन तत्साम्यप्राप्तिरुक्ता भवति। "यन्नाभिपद्मा ज्जातोऽब्जयोनि" रिति ब्रह्मणो नाभिपद्मजत्वश्रुत्या नाभिवत साकारत्वोपपत्ते। तस्मात्सगुणनिर्गुणसाकारनिराकारादिशब्दा भिहितनिरवधिकनिरतिशयज्ञानानन्दबलैश्वर्यतेजोवीर्याद्यनन्तगुणै-कतान दिव्यमङ्गलविग्रह स्वप्रकाशचिज्ज्योति स्वरूप सर्ववेदान्तप्रति-पाद्य स्वचिन्तकैकप्राप्य यज्जगज्जन्मादिहेतुभूत ब्रह्म तदेव जिज्ञास्य ज्ञेय ध्येयम्प्राप्यञ्चेति। तत्प्राप्तौ साधन विजातीयप्रत्ययानन्तरित-सजातीयप्रत्ययप्रवाहलक्षण तदेकध्यान तदेकचिन्तनमिति। 'ततस्तु तम्पश्यते निष्कल ध्यायमान' इत्यादिश्रुतिभि स्पष्टम्प्रतिपादितमिति सर्वमनवद्यम् ॥१।१।१६॥

यद्यपि बद्धजीवस्य न मान्त्रवर्णिकत्वमुपपद्यते तथापि विलीना-खिलप्रपञ्चसम्बन्धस्य निर्विशेषचिन्मात्रैकरसस्य शुद्धस्वरूपस्य मुक्तावस्थस्यैव जीवस्य तथा सम्पद्यतामित्याशङ्कयाह—

नेतरोऽनुपपत्तेः। १।१।१७॥

ब्रह्मण इतरो भिन्नो जीवो मुक्तिदशामापन्नोऽपि मान्त्रवर्णिको

नार्हति भवितुम्। अनुपपत्तेः। मुक्तस्यापि जीवस्य "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति श्रुत्युक्तनिरुपाधिकविपश्चित्त्वानुपपत्तेः "सोऽकामयत प्रजायेय" "सत्यकामः सत्यसंकल्प." (छा० ८।७।१) इत्यादिश्रुतिभिः परमात्मन एव सत्यसंकल्पत्वनिर्णयात्। विविध पश्यचित्त्वं विपश्चित्त्वम्। पश्यच्छब्दावयवभूतस्य यच्छब्दस्य पृषोदरादित्वाल्लोपेन व्युत्पन्नोय विपश्चिच्छब्दः। तत्त्वञ्च नित्यानुपहितेतरानपेक्षासङ्कुचितसर्वविषयकज्ञानवत्त्वम्। एतादृश निरुपाधिकं विपश्चित्त्वं मुक्तात्मनोऽपि न सम्भवति। मुक्तेः प्राक्संसारावस्थाया सोपाधिकविपश्चित्त्वेन निरुपाधिकतत्त्वासम्भवात्।

अथवा विगतं पश् बन्धनं यस्मात्तद्विपश् ज्ञानम्। विपश्चतच्चिनेति विपश्चित्। इदमपि विपश्चित्त्व मुक्तजीवस्य संसारित्वदशाया व्यभिचरति। तद्दशायां तस्यैवात्मनो बद्धत्वान्निरुपाधिकस्य तस्याभावात्। "न जायते म्रियते वा विपश्चित्", इत्यत्र तु विपश्चिच्छब्दो ज्ञानवज्जीवपरो विगतं पश् बन्धन यस्मात्तद् विपश् ज्ञानं तच्चिनोतीति विपश्चिदिति निरुक्तेरिति तत्रैव स्पष्टम्।

एवञ्चात्र "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि वाक्य न ब्रह्मणो वाङ्मनसयोरगोचरतामभिधत्ते। प्रकरणान्त.पातिनामनन्तानां विपश्चित्त्वजगत्कारणत्वादीनां गुणाना वैयर्थ्यापाताच्छतगुणितोत्तरक्रमेण महताऽडम्बरेण प्रतिपादितस्य सर्वोत्कृष्टानन्दस्य चाकाण्डताण्डवायितत्वात्। किन्तु स्वकर्मोपार्जितपुण्यपापरूपादृष्टवशादधिगतमलिनवासनस्य पुंसो मनसोऽविषयत्वमेव। "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (का० १।३।१२) "मनसा तु विशुद्धेन" इत्याद्यनेकै प्रमाणैर्निदिध्यासनादिसाधननिर्मलीकृतान्त.करणानां मनसो ग्राह्यत्वमेवेति संक्षेप.। १।१।१७ ॥

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः—

भेदव्यपदेशाच्च । १।१।१८।

"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" (श्वे० १।९) "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान । जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक" (मु० ३।१।२) इत्यादिषु जीवपरमात्मनोभेदव्यपदेशाच्चापि मान्त्रवर्णिक आनन्दमय परमात्मैव न जीव । किञ्च "अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८।१२।३) इत्याविर्भूतस्वरूपस्य मुक्तजीवस्य परमात्मनश्च "जगद्व्यापारवर्जमि"तिसूत्रेण जगत्कर्तृत्वनदकर्तृत्वरूपस्य व्यपदेशान्न मुक्तावस्थो जीव आनन्दमय परमात्मा भवितुमर्हति। जगद्व्यापारवर्ज्जमिति सूत्र परमात्ममुक्तजीवयोर्भेदमन्तरेणानुपपद्यमानं सत्तयोर्भेदमुपपादयति । अन्यथा मुक्तानां परमात्मस्वरूपत्वेन जगत्कर्तृत्वोपपत्त्या तद्विभाजकस्य जगद्व्यापारवर्ज्जमिति सूत्रस्य प्रणयनप्रयासमेव न कुर्यात्सूत्रकार । कृते त्वेवमुभयोर्भेद स्पष्ट एव दर्शित इति ।। १।१।१८ ।।

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः।

कामाच्च नानुमानापेक्षा १। १। १९।

ननु यद्यानन्दमयपदवाच्य परमात्मैव स्यात्तर्हि तस्यैवोत्तरत्र जगत्कर्तृत्वमपि श्रुत तन्नोपपद्यते । परमात्मसृष्टौ च प्रबल वैदिक प्रमाणमपि नोपलभ्यते। किञ्च हस्तादीन्द्रियाभावात्तद्व्यापारसाध्या सृष्टिमीश्वरो नैव कर्तुं शक्नुयात् । अनुमानेनैव जगत्कर्तृत्वे तु परमात्मनोऽपेक्षया हिरण्यगर्भादिजीवस्य श्रूयमाण जगत्कर्तृत्वमेव प्रत्यक्ष समाश्रित कृतं कुतो न ग्राह्यम् । एवञ्च हिरण्यगर्भादेरिन्द्रियसम्बन्धसत्वात् "प्रजापतिरकामयत" इत्यादिप्रमाणसद्भावाच्च सृष्टिरप्युपपद्यते । तस्मादानन्दमयपदवाच्यो जीव एवेत्याशङ्कायामाह कामाच्च

नानुमानापेक्षेति । "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" (तै० २।६) इत्यादिवैदिकान्येव परशतानि प्रमाणानीश्वरस्य स्वकामनयैव सृष्ट्यभिधायकान्युपलभ्यन्त इति नानुमानेन तत्कल्पनम् । प्रत्यक्षादेस्तु कचिदागमापेक्षया दौर्बल्यमेवेति हृदयम् ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भव सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ गी० १४।३।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय· सम्भवन्ति या ।
तासा ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रद पिता ॥ गी० १४।४।

इत्याद्या. स्मृतय परमात्मा मायामाश्रित्य तत्सकाशादेव विश्व सृष्टि करोतीति स्पष्टम्प्रतिपादयन्ति । नच, काञ्चित्सृष्टिं कामनामात्रेण करोति काञ्चिच्च मायासकाशादिति वाच्यम् , सृष्टेर्द्वैविध्याश्रवणात् । समेषां सृष्टिवाक्यानामेकवाक्यतामन्तरेण परस्परविरुद्धार्थकत्वेन तेष्वप्रामाण्यापत्तेश्च । नच मायामनाश्रित्य चिदेकरसात्मकस्वरूपादेव स जगत्सृजतीतिसाम्प्रतम् । परमात्मनि विकारित्वसुखदु खभोक्तृत्ववैषम्यनैर्घृण्यादिदोषापत्ते । न च तर्हि विवर्तवादस्याश्रयणात्सर्वं समञ्जसमितिवाच्यम् । तस्य कुदृष्टिकपोलकल्पनाकल्पितत्वेनाप्रामाणिकत्वात् । अत एव प्राङ्निरस्तत्वाच्च ॥१।१।१९॥

इतश्चानन्दमयाज्जीवोऽन्य इत्याह—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति । १। १। २०।

"रसो वै स रसं ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति" (तै० २।७।) श्रुतिरियमस्मिन्नानन्दमये समाम्नायते । तत्र रसशब्दनिर्दिष्ट आनन्दमयेऽयंशब्दवाच्यस्य जीवस्यानन्दीभवतीतिवचनादानन्दमयप्राप्त्यनन्तरमानन्दयोग शास्ति । यस्य प्राप्तेरनन्तरमानन्दयोग· प्रत्यगात्मन स आनन्दमयस्तस्मादन्य एव मान्त्रवर्णिक । रसपदाभिधेयपरमात्मन. सम्बन्धात्प्रत्यगात्मन आनन्दीभाव इत्युभयोर्वैधर्म्य-

स्पष्टत एव शक्यमवगन्तुम् । अयमभिप्राय । "निरञ्जन परम साम्यमुपैति" (मु० ३।१।३) इति श्रुते· "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्र० सू० ४।४) इति सूत्राच्च मुक्तजीवस्य भोगमात्रे परमात्म-साम्यं भवति नतु जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वे जगद्व्यापारवर्ज्जमिति मुक्तस्य जगद्व्यापारत्त्वप्रतिषेधात्। तस्मादानन्दमयस्य ब्रह्मणश्चेतनाद्ब-द्धमुक्ताद्यवस्थावतो जीवशब्दवाच्याद्वस्तुतोऽर्थान्तरत्वसिद्धे । एवञ्चा-नन्दमयो जीव इति मत मिथ्यात्वमुपगच्छदानन्दमय परमात्मा-त्मेवेति सिद्धम् ॥१।१।२०॥

इत्यानन्दमयाधिकरणम् ।

अथान्तराधिकरणम् ।

एव षडभिरधिकरणैरखिलकल्याणगुणाकर सर्वज्ञ सकलजग दुभयकारणभूत चिदचिद्विशिष्ट· परमपुरुष परमात्मा साधित । अथोपासकाना मनोरथपूर्त्यै तस्यैव स्वरूप विविच्यते । तत्राल्प-पुण्याना जीवाना स्वेच्छया यद्यपि जगत्सृष्टिरानन्दयोगश्च न सम्भ-वति । तथापि विलक्षणपुण्यानामादित्येन्द्रप्रजापत्यादीना सम्भवत्ये-वेत्याशंकायामाह ।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।१।१।२१।

छान्दोग्ये-"य एषोन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषो दृश्यते हिरण्य श्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्ण (छा० १।१।६) तस्य यथा कप्यास पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्य पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्य पाप्मभ्यो य एव वेद" (छा० १।६।७।) तस्यर्क्च साम च गेष्णौ इत्यधिदैवतम् "अथाध्यात्मम्" य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते" (छा० १।७।५।) इत्यादिक

साम्नायते। अत्र हिरण्मयो ज्योतिर्मय। अत्रत्य हिरण्यपद सुवर्ण पदञ्च विलक्षणज्योति परम्। दृश्यते—अवहितमनस्कैरुपासकै रितिशेष। प्रणखो नखाग्र तेन सहेत्यभिविधावाङ्। चक्षुषोर्विशेष माह तस्येति–क जल पिवतीति कपि सूर्यस्तेनास्यते विकास्यत इति कप्यास पुण्डरीक रक्ताम्भोजम्। केश्चिदस्य वाक्यस्य मर्कटपश्चा द्भागवत् यल्लोहित पुण्डरीकमिति विवरण कृत तदर्थान्तरत्वाश्लील त्वादिदोषदुष्टतयाऽनादरणीयम्। तादृशपुण्डरीकवदस्य देवस्या क्षिणी नेत्रे। तस्य नामाह उदितिनाम। निर्वक्ति स इति—उदित उद्गत सर्वेभ्य सर्वपापास्पृष्ट इत्यर्थ। अधिदैवतम्—देवतामधि कृत्योपास्तिवाक्यमित्यर्थ।

अत्रादित्यान्त स्थमक्ष्यन्तस्थञ्च पुरुषमधिकृत्य शरीरवत्त्वश्रुत्या सर्वपापास्पर्शवत्त्वश्रुत्या च सशय। किमयं पुरुष पूर्वकृततपआदि प्रभावादीदृशमौत्कृष्ट्य प्राप्त कश्चिज्जीव उत परमात्मा सर्वान्तर्गत इति। किं युक्तम्? जीव। कुत? शरीरवत्त्वाद्रूपवत्त्वाच्च। अक्षि- पुरुषस्यापि तस्य तदेव रूप यदमुष्यरूपमिति यन्नाम तन्नामेति तादृशरूपवत्त्वतादृशनामवत्त्वश्रवणाच्च शरीरसयोगो रूपसम्बन्ध श्चादृष्टवशाज्जीवस्यैव तादृशादृष्टजन्यपुण्यपापरूपफलभोगाय, नतु परमेश्वरस्य, तस्य चाशरीरत्वारूपवत्त्वश्रवणादित्येव प्राप्त आह— अन्तस्तद्धर्मोपदेशादिति।

आदित्यान्तर्गतोऽक्ष्यन्तर्गतश्च श्रूयमाण पुरुष परमात्मैव कुत? स एष सर्वेभ्य पाप्मभ्य उदित उद्गतो निर्गत इत्यादिना तदसा धारणधर्माणामपहतपाप्मत्वादीनामुपदेशात्। अपहतपाप्मत्व हि अपहतकर्मतया सम्पद्यत। कर्मवश्यतारहित्येनेतिस्पष्टार्थ। कर्मा धीनसुखदु खभागिन कर्मवश्या हि जीवा एव सन्ति। अतोऽपहत पाप्मत्वस्य बद्धजीवधर्मत्वानुपपत्तेर्मुक्तानामपि ससारदशायां कर्म वश्यत्वेन निरुपाधिकापहतपाप्मत्वाद्यनुपपत्ते। तस्मात्परमात्मन

एव तादृशधर्मवत्त्वादादित्याक्ष्यन्तःस्थः पुरुषः परमात्मैव न जीवः।

यत्तूक्तं रूपवत्त्वशरीरवत्त्वश्रवणादयं जीव एवेति। नैष दोषः। न हि शरीरवत्त्वं जीवत्वं कर्मवश्यताञ्च साधयितुमीष्टे। तस्य जीवत्वाभाववति कर्मवश्यत्वाभाववति च विपक्षेऽपि सत्त्वात्। सत्यसङ्कल्पस्य परमात्मनः स्वेच्छयैव शरीरसम्बन्धसम्भवात्। इयांस्तु भेदः। जीवानाङ्कर्मपारवश्यात्तदनुगुणप्राकृतदिव्यशरीरस्य सम्बन्धः। परमेश्वरस्य तु कर्मानधीनत्वेन स्वाभिमताप्राकृतदिव्य-शरीरग्रहणमिति। अत एव नेश्वरस्य शरीरकृतदुःखाद्यनुभवः। स च कर्माधीनप्राकृतशरीरग्रहीतुर्जीवस्यैवेति दर्शनविन्मतम्। तथा च श्रुतयः "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" (मु० ३।१।३।) "रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम्" "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः" (यजु० रु० ११) इत्याद्याः। यदा पश्येति श्रुत्या जीवस्य तद्दर्शनानन्तरं पुण्यपापविनाशपूर्वकब्रह्म-प्राप्तिर्बोधिता। तत्र ब्रह्मयोनिरुक्मवर्णपदाभ्यां स्वनाभिजपद्मद्वारा कार्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य कारणत्वेन मुक्तप्राप्यस्य ब्रह्मणः शरीरवत्त्वं रूपवत्त्वञ्च बोध्यते। एवं "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" (श्वे० ६।८।) इति श्रुत्या स्वाभाविकज्ञानबलक्रियाशालिनस्तच्छरीरस्य तच्छरीरनिष्ठरूपस्य च स्वाभाविकत्वोपपत्त्या नित्यत्वसिद्धेः। अत एव श्रुत्युपबृंहणीभूतेतिहासपुराणादिषु बहुशस्तत्र तत्र भगवतो दिव्यमङ्गलविग्रहस्योपवर्णनं सङ्गच्छते। तथा चादित्याद्यन्तर्गतः पुरुषः परमात्मैवेति।

इतश्च न जीवः—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।१।१।२२।

जीवविशेषादादित्यादेर्भेदोऽत्र व्यपदिश्यते परमेश्वरस्य "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं

य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मा" (बृ० ३।७।९।) "यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुश्शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।१८) "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" (बृ० मा० ३।७।२२) इत्याद्याः श्रुतयः परमात्मनो भिन्नाँश्चिदचिदात्मकान्सर्वान् पदार्थानीश्वरस्य शरीरत्वेन तन्नियम्यत्वेन तस्य च शरीरित्वेन तत्तज्जीवान्तरात्मत्वेन नियमनकर्तृत्वेन च व्यपदिश्य चिदचितोर्नियामकतया भेदं साधयन्ति। तस्मादादित्यादिजीवविलक्षणः परमात्मादित्याद्यन्तवर्ती पुरुषोऽन्य एवेति सिद्धम्॥ १।१।२२॥

इत्यन्तरधिकरणम्।

आकाशाधिकरणम्।

अथ सर्वेषां कारणवाक्यगतानां कारणवस्तुपराणां शब्दानां सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन सर्वकारणे पर्यवसानत्वेन ब्रह्मवाचकत्वमिति स्पष्टयितुमाह।

आकाशस्तल्लिङ्गात् १।१।२३।

छान्दोग्ये श्रूयते—"अस्य लोकस्य कागतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्" (छा० १।९।१।) इति। तत्र संशयः। किमत्राकाशशब्देन पूर्वोदितलक्षणं ब्रह्माभिधीयत आहो स्विद्भूताकाशमिति। कुतः संशय.? संशयप्रयोजकस्याकाशशब्दस्योभयत्रप्रयुक्तत्वात्। तत्र भूताकाश आकाशशब्दस्य रूढत्वात्' लोकेप्रसिद्धत्वाच्च "कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात

यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्” (तै० २।७।) इत्यादावाकाशस्या-नन्दमयब्रह्मपरत्वावगमात् । तथाचात्राकाशपदेन भूताकाशस्यैव ग्रहणं युक्तम् । कुत ? तत्र रूढत्वात् । श्रुत्यपेक्षया लिङ्गस्य दुर्बल-त्वाच्च । वाक्यशेषेऽपि “आकाशाद्वायुरिति वाय्वादिक्रमेणाकाशस्य कारणत्वं स्पष्टमेव । एवञ्चैतदानुगुण्येन “आत्मन आकाश सम्भूत” इत्यादावप्यात्मपदस्याकाशवाचकत्वम् । आप्नोतीत्यात्मा सूक्ष्माकाशस्ततश्च स्थूलाकाशस्य सम्भूतिस्सम्भवत्येव । सदेव सौम्येत्यादावपि सदादिपदबोध्यत्व सूक्ष्माकाशस्यैवेति प्राप्त उच्यते। आकाशस्तल्लिङ्गात् । प्रकृतकारणवाक्य आकाशपदवाच्य सर्वजग-त्कारणं परं ब्रह्मैव । कुत: ? तल्लिङ्गात् । तस्य ब्रह्मणो महाभूत सृष्ट्यादिकं सकलजगदेककारणत्व सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं परायणत्व मित्यादीनि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते । जगत्सृष्ट्यादिक यद्ब्रह्मणोऽव्यभि चारि लिङ्गं तस्य तदन्यल्लिङ्गत्वानुपपत्त्याऽनन्यथासिद्धेन लिङ्गेन भूताकाशश्रुतेर्बाधात् । एवञ्च प्रकृतवाक्ये भूताकाशपरत्वमाकाश-पदस्येत्यर्थस्यायुक्तत्वादानन्दमयाकाशस्य ब्रह्मण एव सर्वजग-दुत्पत्तिरित्यर्थस्यैव युक्तत्वादाकाशशब्दवाच्य परमात्मैव । तथा सत्येव सर्वस्माज्ज्यायस्त्वपरायणत्वादिगुणानामपि सामञ्जस्यम् । परमपुरुषे ब्रह्मण्येव तादृग्गुणाना सम्भवो नान्यत्रभूताकाशादि-चिद्वस्तुनीति । न चाकाश इति प्रसिद्धवन्निर्देशाद्भूताकाश एव ग्राह्य इति वाच्यम् । प्रसिद्धवन्निर्देशस्यापि प्रमाणान्तरसापेक्ष-कत्वात् । बहुप्रमाणविरोधासम्भवाच्च । परमात्मन: कारणत्वन्तु बह्वीभिश्श्रुतिभिरसकृदाघोषितम् तथा हि—“सदेव सोम्यदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” (छा० ६।२।१) “तदैक्षत बहु स्या प्रजा-येय” (छा० ६।२।३) “आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्” “स इमॉल्लोकानसृजत” (ऐ० १.१) ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत.” (तै० २।१) इत्येवमाद्योऽनन्ता. श्रुतय. परमात्मन एव

सर्वजगत्कारणत्वम्प्रतिपादयन्ति। आकाशस्य तु "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छा० १।९।१) इत्येकस्मिन्नेव वाक्ये तथात्वम्। ततश्चादिकारणत्वस्य द्विष्ठत्वासम्भवाद्बहुश्रुतितदनुगुणतर्कानुरोधेन चेतनस्य ब्रह्मण एव जगत्कारणत्वमास्थेयम्। तथा चासमन्तात्प्रकाशत इति व्युत्पत्त्याकाशः परमात्मेति सिद्धम्। किञ्च "यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति" ति श्रुतादानन्दाकाशादात्मनः "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" (तै० २।१) इति भूताकाशस्योत्पत्तिश्रवणात् सृष्ट्यन्तर्गतस्य भूताकाशस्य जगत्सृष्टृत्वानुपपत्तेः कार्याकाशकारणाकाशयोर्मध्ये कारणाकाशस्यैव जगत्कारणत्वोपपत्तेश्चास्य जगत्कारणत्वेन श्रुतस्याकाशस्य परमात्मपरत्वमेव युक्तम्॥ १।१।२३॥

इत्याकाशाधिकरणम्॥

(*अथप्राणाधिकरणम्*)

अत एव प्राणः। १।१।२४।

तत्रैवोद्गीथविद्यायां श्रूयते—"प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" इत्युपक्रम्य कतमा सा देवतेति। प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति" (छा० १।११।४-५) तत्र प्राणवायुरितिलौकिकप्रसिद्धेः "प्राणस्य प्राणम्" (बृ० ४।४।१८) "प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः" (छा० ६।८।२) इत्यादिषु च प्राणस्य ब्रह्मपरत्वावगमात्संशयः। किमत्र प्राणशब्देन वायुविकार उच्यत उत परमात्मेति। तत्र वायुविकारस्य प्राणस्य लोकप्रसिद्धित एव

शीघ्रोपस्थितिकत्वाद्वायुविकार इति प्राप्ते—आकाशन्यायातिदेशेन प्राणशब्दस्य परमात्मपरत्वं ज्ञापयति सूत्रकारः। अत एव प्राण इति। अत एवाकाशवाक्य इव प्राणवाक्येऽपि सर्वभूतस्रष्टृत्वादिब्रह्मलिङ्गदर्शनादेव प्राणशब्दाभिहितः परमात्मेत्यर्थः। "यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते" (श० ब्रा० १०।३।३।६) इति श्रुतावपि वायुविकारे प्राणाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां वागादीन्द्रियाणामेव प्राणे संवेशनादिकमुक्तं, नतु महाभूतसंवेशनादिकम्। अत्र वाक्पदमनुक्तकर्मेन्द्रियोपलक्षकं चक्षुःश्रोत्रं ज्ञानेन्द्रियोपलक्षकम्। तस्मादत्रत्यप्राणशब्दवाच्यः परमात्मैवोपास्यप्रस्तावे देवतेति सिद्धम्॥ १।१।२४॥

इति प्राणाधिकरणम्

अथज्योतिरधिकरणम्।

ज्योतिश्चरणाभिधानात्। १। १। २५।

छान्दोग्ये समाम्नायते—"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योति" रिति (छा० ३। १३। ७।) अस्यार्थः। गायत्रीपदबोध्यब्रह्मोपास्त्यनन्तरमुपास्त्यन्तरार्थोऽथशब्दः। अतो दिवो द्युलोकात्परः परस्तात् यज्ज्योतिर्दीप्यते-विश्वतः पृष्ठेषु विश्वस्मात्प्राणिवर्गादुपरीत्यर्थः। न केवलं विश्वतः पृष्ठेषु किन्तु सर्वतः पृष्ठेषु – सर्वस्माद्भूरादिप्रजापतिलोकपर्यन्तात्सर्वसंसारमण्डलादुपरीत्यर्थः। अनुत्तमेषूत्तमेषु–उत्तमा न विद्यन्ते येभ्यस्तेषु स्वाधिकोत्तमरहितेषु उत्तमस्थानविशेषेषु परब्रह्मधामस्वित्यर्थः। इदं वाव

तद्यदिदमस्मिन्नन्त पुरुषे ज्योतिरिति परज्योतिष कौक्षेयज्योति पैक्योपदेशस्तु तदात्मकत्वानुसन्धानेन फलाधिक्यज्ञापनायेति न दोष । उक्त हि भगवता पुरुषान्त स्थस्य ज्योतिष स्वात्मकत्वम् ।

"अह वैश्वानरोभूत्वा प्राणिना देहमाश्रित" (गी० अ० १५) इति । तत्र लोकेऽग्निसूर्यादौ वेदे ब्रह्मणि च ज्योति शब्दप्रयोगात्स शय । किमत्र ज्योति शब्देन प्रसिद्धमादित्यादिज्योतिरभिधीयते । उत तस्यापि प्रकाशकममितत्तेज पर ब्रह्म । किं युक्तम् ? प्रसिद्ध मादित्यादिज्योतिरिति । कुत ? प्रसिद्धवन्निर्देशात् दिव इति द्युसम्ब न्धित्वनिर्देशात्परमात्मलिङ्गविशेषाश्रवणाच्चेति प्राप्तेऽभिधीयते– ज्योतिश्चरणाभिधानादिति । "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेद पूर्णं सर्वमि"त्युक्त द्युसम्बन्धत्वेन निर्दिष्टमनुत्तमलोकेषु दीप्यमा नत्वेनोक्त निरतिशयज्योति शब्दवाच्यमादित्यादिप्रकाशकपरम्ब्रह्मैव । कुत ? चरणाभिधानात् पादाभिधानात् । ज्योतिर्वाक्यात्पूर्ववाक्ये ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वाभिधानात् । "एतावानस्य महिमा तत' ज्यायाश्च पूरुष । पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि" (छा० ३।१२।६) इत्यत्र सर्वभूताना मृत्युग्रस्तानामेकपादत्वोक्त्या ससारमण्डलस्य न्यूनत्व निदिश्य त्रिपादस्येतिद्युशब्दनिर्दिष्टस्य परमपदस्य त्रिपाद्- विभूतिपदाभिधेयस्य त्रिपादिति बहुपादत्वकथनेन ब्रह्माण्डाच्चिगु णाधिक्यनिर्देशेनाप्रमेयत्वमुक्तम् । तन्निवासिनाममृतपदेन मृत्युराहि त्यमुपवर्ण्य नित्यमुक्ताना स्थितिस्तत्र सूचिता । एवञ्च "ततो ज्या- याश्च पूरुष" इति तत्स्वामित्वबोधनाद्ब्रह्मण एव ज्योतिश्शब्दाभि- धेयत्वमिति ॥ १।१।२५ ॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथाहि- दर्शनम् । १। १। २६।

पूर्ववाक्ये "गायत्री वा इद सर्वं भूत यदिद किञ्च" (छा०

३। १२। १) इति गायत्र्याख्यच्छन्दस प्रकृतत्वात्तस्यैव "पादोऽस्य सर्वा भूतानि" इति सर्वभूतव्यपदेशस्योपपत्तेर्न ब्रह्मण इतिचेन्न। तथा छन्दोद्वारेण तद्गते तत्प्रतिपाद्येऽक्षरसमुदायात्मकगायत्री वाच्ये ब्रह्मणि चेतोऽर्पणस्य चित्तप्रवेशनस्य निगदादभिधानात्। तत्र दृष्टान्तमाह तथाहि दर्शनम्। अन्यत्रापि तत्तद्वारा तदन्तर्गतस्य ब्रह्मण उपासन दृश्यते। "एत ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमासन्त एतमग्नावध्वर्यव एत महाव्रते छन्दोगा" (ऐ० आ० ३।२।३।१२) इति। एवञ्च "गायत्री वा इद सर्व भूत यदिद किञ्च" इत्युक्तस्य सर्वात्मकत्वस्याक्षरसन्निवेशरूपाया गायत्र्या अनुपपत्ते। सर्वा न्तर्गतस्य ब्रह्मण सर्वशरीरित्वेन सर्वात्मकत्वोपपत्त्या तस्यैव सर्व भूतपादत्वस्य त्रिपादामृतत्वस्य च निष्पत्ते पूर्वसूत्रोक्तज्योति शब्द वाच्यत्व निष्पद्यते न तदन्यस्य॥१।१।२६॥

एतदेव द्रढयति।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्।१।१।२७।

भूतपृथिवीशरीरहृदयानि निर्दिश्य "सैषा चतुष्पदे"ति गायत्र्या श्चतुष्पदत्वव्यपदेशस्य तद्वाच्ये ब्रह्मण्येवोपपत्ते। अक्षरसन्निवेश रूपाया गायत्र्यास्तदनुपपत्ते। एव गायत्रीशब्दनिर्दिष्ट ब्रह्मैव ज्योति शब्दवाच्य भवतीत्यर्थ॥१।१।२७॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्।१।१।२८।

पूर्वस्मिन् वाक्ये "त्रिपादस्यामृत दिवि" इति सप्तम्या दिवस्त्रि पादाधारत्वनिर्देशा "दथ यदत परो दिव" इतिपञ्चम्या ज्योतिषो वधित्वेन दिवो निर्देशादुभयत्र विभक्तिभेदकृतस्योपदेशभेदस्य सत्त्वान्न ज्योतिर्वाक्ये प्रत्यभिज्ञोपपद्यत इतिचेन्न। कुत? प्राति पदिकार्थेन प्रधानेन कारिताया प्रत्यभिज्ञाया गुणभूतेन विभक्त्यर्थेन प्रतिषेध्यत्वानुपपत्तेर्भेदेनोपदेशद्वयेऽपि प्रत्यभिज्ञाया विरोधाभावात्।

६

"तस्मात्परमात्मैव" दिव परो ज्योतिर्दीप्यत इति वाक्यात्प्रतिपाद्यत इति निरवद्यम् ॥२।१।२८॥

इति ज्योतिरधिकरणम् ।

प्राणानुगमाधिकरणम् ।

यद्यप्यनन्यथासिद्धतात्पर्यब्रह्मलिङ्गादाकाशज्योतिरादिपरघटितवाक्यानां ब्रह्मपरत्वे युक्तेऽपि प्रतर्दन प्रकरणे तद्घटकप्राणादि पदार्थानामनेकेषामनेकलिङ्गदर्शनात्कथं तात्पर्यनिर्णय इत्याशङ्कायामाह ।

प्राणस्तथाऽनुगमात् १।१।२९।

कौषितकीब्राह्मणोपनिषदि श्रूयते–"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च" इत्यादि । तत्र त्वमेव मे वृणीष्व यत्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे इति प्रतर्दनेनोक्तम् । "इन्द्र उवाच प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व" इति च । तथाग्रेऽपि "अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" इति । (कौ० ३।१।२।३।) अन्ते च "स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृत " (कौ० ३।८।) इत्यादि । युद्धेन तत्कारणेन पौरुषेण पुरुषकारप्रदर्शनेनेन्द्रस्य प्रियं धाम गृहं जगाम । तं दृष्ट्वा इन्द्र उवाच प्रतर्दन ! वरं ते ददामि सहोवाच प्रतर्दन हे इन्द्र त्वमेव वरं वृणीष्वेत्यादिरस्यार्थस्तत्र संशय । किमिह प्राणशब्देन वाय्वात्मक प्राण उक्त, उत जीवोऽथवा परमात्मेति । किं युक्तम् ? जीव । कुत ? इन्द्रशब्दवाच्यस्य जीवत्वप्रसिद्धे । प्राणशब्दस्य तत्समानाधिकरण्येन तत्रैव पर्यवसानात् तस्यैवोपास्यत्वोक्तेश्चेति प्राप्त आह—प्राण प्राणशब्दाभिहित प्राणस्य प्राण यस्य प्राण

शरीरम् 'यस्यात्मा शरीरम्" "जगत्प्राणायात्मने तस्मै नम स्यादि" त्येवमादिश्रुत्युक्त प्राणशरीर प्राणनियन्तृत्वेन तत्स्थिति प्रवृत्तिहेतुभूत परमात्मा । कुत ? तथाऽनुगमात् । "प्रज्ञात्माऽनन्दो ऽजरोऽमृत" इत्यादिपरमात्माव्यभिचारिलिङ्गै प्राणस्य ब्रह्मपरत्वे नानुगमात् । न हि प्रज्ञात्मत्वमचेतनस्य वायो सम्भवति । तथात्तत्र "एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येवैन साधुकर्म कार यति त यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष एवैनमसाधुकर्म कारयति त यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वर " (कौ० ब्रा० ३।९।) इति श्रुतिप्रतिपादितधर्माधर्मकारयितृत्वलोकाधि पतित्वसर्वेश्वरत्वादीनि लिङ्गानि प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्व एव सग च्छन्त इति प्राणपदबोध्यम्ब्रह्मैव ॥१।१।२९॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् १।१।३०।

यदुक्त प्राणो ब्रह्मेति तन्न । कुत ?

"प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा तम्मामायुरमृतमित्युपास्व" इति वक्तुरि न्द्रस्य स्वात्मन उपास्यत्वेनोपदेशात् । उपक्रमस्येन्द्रपरत्वे निश्चिते सत्युपसहारस्य तदनुरोधेन नेतव्यत्वाच्च । उपसहारादुपक्रमस्य बली यस्त्वात् । उपक्रमे हि देवताविशेष इन्द्रोऽहकारवादेन स्वात्मान ख्यापयामास प्रतर्दनाय "मामेव विजानीहि" 'प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा" इत्यादिभि । तथा "त्रिशीर्षाण त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन्सालावृकेभ्य प्रायच्छम्" इत्यादिभिश्च विग्रहधर्मैरेव स्वात्मान प्रशशस । न चैते धर्मा ब्रह्मणि सम्भवन्ति । तस्मान्न प्राणो ब्रह्मेति चेन्न । अध्या त्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् । हि यस्मादस्मिन्नध्यायेऽध्यात्मसम्बन्ध स्यात्मानमधिकृत्य वर्तमानस्य सम्बन्धस्य परमात्मसम्बन्धस्य भूमा

बाहुल्यमुपलभ्यतेऽस्मिन्प्रकरणे। उपक्रमोपसंहारयोरन्तराले परमात्म धर्मसम्बन्धस्य भूयस्त्वं दृश्यते। उपक्रमे "यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इत्युक्तं तद्धि हिततमत्वं परमात्मोपासनयैव संगच्छते। एतदुक्तं भवति। सर्वेषां प्राणजीवदेवादीनां परब्रह्मन्यूनत्वेन तद् धीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन प्राणादिविषयिण्या उपासनाया हितत्वेऽपि हिततमत्वं नास्ति। तदपेक्षया सर्वदेवादिनियन्तृत्वसर्वफल दातृत्वादिकं परमात्मोपासनाया एव हिततमत्वमिति राद्धान्तः। "तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूत मात्रा प्रज्ञामात्रास्वर्पिता" (कौ० ३।९।) इति सर्वाधारत्वस्य, "एष ह्येव साधुकर्म कारयती"ति साध्वसाधुकर्मकारयितृत्वस्यानन्दादेश्च सर्वलोकाधिपतित्वस्य तत्पालकत्वस्य च परमात्माऽसाधारणधर्मत्वं निष्पत्तेः प्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैवेत्यवधेयम् ॥१।१।३०॥

कथं तर्हि इन्द्रकृतस्य "मामुपास्व" 'मामेव जानीही"त्युपदेश स्योपपत्तिरित्यत आह—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।१।१।३१

"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६।३।२) "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" (यजु० आ०) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० ६।८।७) "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्" (बृ० ५।७।२२) इत्येवमादिशास्त्रेण जीवात्मनः परमात्म-शरीरत्वं परमात्मनश्च जीवशरीरित्वं नियन्तृत्वं जीवस्य तन्नियम्य त्वेन तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तितया तदभिन्नसत्ताकत्वं तेन तद् भिन्नत्वञ्चावगम्य जीववाचिनामहममादिशब्दानां तच्छरीरिणि परमात्मनि पर्यवसानत्वेन परमात्मनोऽहममादिशब्दवाच्यत्वम वगम्य "मामेव विजानीहि" "मामुपास्व" इत्यादिभिः स्वशरीरिणं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिष्टवानिन्द्रः। तत्र दृष्टान्तमाह—वाम

देववदिति—यथाजलसागरे तैलसमूहे च पतितस्य तूलकणस्य स्वेन रूपेण भानं न भवति—अपितु जलादिरूपेणैव, तथैव सर्वव्यापकेन परमात्मनाऽन्तर्बहिर्व्याप्तस्य जीवस्य स्वेन रूपेण भानस्य प्रमोषेण परमात्मरूपेणैव भानम्। ब्रह्मणा बहिरन्तर्व्याप्तस्य जीवस्य तदपृथक्सिद्धया तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन तदभिन्नसत्ताकत्वेन शरीरशरीरिणोरुभयोरप्येकशब्दवाच्यत्वमवगम्याहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मविद्यया प्रतीतिरुपपद्यते। तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमितिन्यायेन मनुसूर्यादिसर्वजगदभिन्नं ब्रह्म तदभिन्नस्य स्वस्य मनुसूर्याद्यभिन्नत्वम्पश्यन् मनुसूर्यादिसर्वरूपो भूत्वाह वामदेवः। "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृ० ३।४।१०) एवञ्च तदात्मकत्वानुसन्धानेनैव "देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्" (बृ० १।४।१०) इत्यादयोऽपि प्रतीतय उपपद्यन्त इति सर्वं स्पष्टम्॥ १।१।३१॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्। १।१।३२

ननु "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" (कौ० ब्रा० ११८) इति जीवलिङ्गात् वागादिकरणैवष्टितस्य जीवस्य वक्तुर्ज्ञेयत्वावगमात्। एवं "प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" (कौ० ब्रा० ३।१) इति प्राणलिङ्गात्। देहधारणस्य प्राणलिङ्गात्—तच्च च्छान्दोग्येऽपि व्यक्तम्" ते ह प्राणाः प्रजापतिपितरमेत्योचुरित्यारभ्य भगवन् त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रामीरित्यादिना प्राणेन्द्रियसंवादेनाप्यवगम्यते। अतो न ब्रह्मपरमिदं वाक्यमितिचेन्न। उपासात्रैविध्यात् परमात्मन एव सर्वकारणभूतस्य स्वाकारेण सच्चिदानन्दस्वरूपेण, प्राणाद्यचेतनवर्गशरीरकत्वेन चेतनजीवब्रह्मेन्द्रादिशरीरकत्वेन चानुसन्धानमित्युपासात्रैविध्याद्धेतोः प्राणेन्द्रादिशब्देन परमात्मनोऽभिधानमवगम्यते।

अन्यत्रापि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्म" (तै०

३।६) इत्यादिना स्वरूपेणानुसन्धानं "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" (तै० २।६) "निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनं च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्" (तै० २।६) इत्यादिना भोक्तृभोग्यभोगोपकरणतयानुसन्धानम् "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथिवी शरीरम्" (बृ० ३।७।३) "योऽप्सु तिष्ठन् यस्यापः शरीरम्" (बृ० ३।७।४) प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादिभिरचेतनवर्गशरीरकत्वेन "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" (बृ० ५। अ० ७। ब्रा० विज्ञानस्थाने माध्यन्दिनपाठः) इत्यादिभिश्चेतनजीवेन्द्रादिशरीरकत्वेन चानुसंधानं बहुशः उपलभ्यते।

आश्रितत्वाच्च "प्राणबन्धनं हि मनः" इत्यादिना ब्रह्मलिङ्गवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वावगमाद्ब्रह्मोपदेशोऽयमित्यवगम्यते। इहापि प्रकरणे 'यत्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इति हिततमोपक्रमादिब्रह्मलिङ्गयोगाच्च ब्रह्मोपदेशोऽयमित्यवधेयम्। यत्तु प्राणः प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" (कौ० ब्रा० ३।३) इति मुख्यप्राणलिङ्गात् तस्यैवायमुपदेशः इत्युक्तं तन्न। "न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ" (काठ० २।५।५) इति श्रुत्या प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात्तस्यापि परमात्मन्येव प्रयुक्तत्वादिति सर्वमवदातम् ॥१।१।३२॥

(*इति प्राणानुगमाधिकरणम्।*)

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजात्तमकुलोत्तमगुणपुरुषतत्त्वामरुविरत्नवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्याकाबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे प्रथमाध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥ १ ॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य

संक्षिप्तसारे

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

(सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ।)

प्रथमपादे श्रद्धोपपत्तिपूर्वकाचार्योपसत्त्यादिभिरधीतसाङ्गसशिरस्कवेदस्य कर्ममीमांसाश्रवणाधिगतकर्मयथार्थविज्ञानस्य केवलकर्मणामल्पास्थिरफलत्वज्ञानतया समुत्पन्नमोक्षाभिलाषस्यानन्तस्थिरफलजिज्ञासाया प्रवृत्तस्य मुमुक्षोरभीप्सितफलसिद्धय शास्त्रैकप्रमाणकेऽनन्तकल्याणगुणगणैकराशौ निखिलजगज्जन्मादिहेतौ परे ब्रह्मणि श्रुतीनां समन्वयो दर्शितः । तत्र केषाञ्चिदर्थान्तरप्रसिद्धानां श्रौतवाक्यानां परमात्मन एवाभिधायकत्वमित्यपि समर्थितम् ।

अथ कानिचिदस्पष्टजीवादिलिङ्गकानि कानिचिच्च स्पष्टजीवलिङ्गकानि वाक्यानि तान्यपि ब्रह्मपराण्येवेति निर्णयाय द्वितीयतृतीयपादावारभ्येते—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । १।२।१।

छान्दोग्ये—सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः (छा० ३।१४।१।२।) इत्यादिकमाम्नायते ।

तत्र संशयः । किमत्र मनोमयत्वादिधर्मकः क्षेत्रज्ञ उपास्यत्वेन परिगृह्यते आहोस्वित्परमात्मेति । किन्तावद्युक्तम् । जीव इति । कुतः ? मनःप्राणयोर्ह्युपकरणत्वश्रवणात्तादृशोपकरणानि क्षेत्रज्ञस्यैव सर्वत्र प्रसिद्धतया ज्ञायन्त इति । परमात्मनस्तु—' अप्राणो

ऽमना शुद्ध" इत्यादिना मन प्राणादिसम्बन्धस्य प्रतिषेधान्मनोमयत्वादेस्तत्सम्बन्धित्वानुपपत्ते । ननु "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"ति पूर्ववाक्ये स्वरवेणैव ब्रह्माभिहितम् । तस्यैवोपासनेयमपि स्यादिति चेन्न, तस्य वाक्यस्योपासनाङ्गभूतशान्तिविधानरूपार्थे विनियुक्तत्वात् । उत्तरवाक्ये मनोमयादिपदार्थेन सम निराकाङ्क्षत्वाच्च । एवञ्च "स क्रतु कुर्वीते"त्यनेन वाक्येन विहितस्योपासनस्य न पूर्वोदितब्रह्मविषयत्वमितिप्राप्ते ब्रूम । मनोमयत्वादिगुणक परमात्मैव । कुत ? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । सर्ववेदान्तवाक्येषु तस्मिन्नेव परे ब्रह्मणि प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरुपदेशात् । "मनोमय प्राणशरीरनेता" (मु० २।२।७) "स एषोन्तर्हृदयाकाश । तस्मिन्नय पुरुषो मनोमय । अमृतो हिरण्मय " (तै० १।६।१) न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा "मनसा तु विशुद्धेन" (मु० ३।१।८) "प्राणस्य प्राण " (के० १।२) "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" (छा० १।११।५) इत्यादिषु हि ब्रह्मणो मनोमयत्वादिगुणे प्रसिद्धस्योपदेशात् । मनोमयत्वमत्र विशुद्धमनोग्राह्यत्वम्, प्राणशरीरत्व प्राणस्याप्याधारत्व नियन्तृत्वञ्च ।

यद्वा ' सर्वं खल्विद ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छा० ३।१४।१) इति पूर्वोदितवाक्येनैवोपासन विधीयते । सर्वशरीरक ब्रह्म शान्तस्सन्नुपासीतेति । तत्र गुणोपादानार्थं स क्रतु कुर्वीतेत्यनुवाद । ते च गुणा मनोमयत्वादय । अर्थान्मनोमयत्वादिगुणविशिष्ट सर्वशरीरक ब्रह्मोपासीतेति समुदितवाक्यार्थ । तत्र ब्रह्मशब्देन किमत्र प्रत्यगात्मोच्यत आहोस्वित् परमात्मेति सशय । प्रत्यगात्मेति पूर्वपक्षस्तस्यैव सर्वपदसामानाधिकरण्यात् । ब्रह्मणस्तु तन्नोपपद्यते । अपहतपाप्मत्ववचनैर्हेयगुणराहित्येन पुण्यपापसमन्वितस्य सर्वपदग्राह्यस्य तस्याऽसम्भवात् । तत्र सिद्धान्त उच्यते । सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादिति । सर्वं खल्विद ब्रह्मेत्यादिवाक्यनिर्दिष्टे

सर्वस्मिन् जगति सर्वशरीरितया विधीयमान ब्रह्मैव न क्षेत्रज्ञ । कुत ? प्रसिद्धोपदेशात् । तज्जलानितिहेतो । यस्मात्सर्वमिद ब्रह्मात्मकमेव तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्चेति प्रसिद्धोपदेश उप लभ्यते । यतो वेत्यादिश्रुतय उपदिशन्ति परस्य ब्रह्मणो जगत्कार णत्वम् । तत्र हि परमात्मन सकाशादेवोत्पत्तिस्तत्रैव पालन तत्रैव च लय इति स्पष्टमुक्तम् । एवञ्च सर्वपदार्थान्तर्गतस्य क्षेत्रज्ञस्यापि स एव परमात्मा कारणम् । "सकारण करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिप" (श्वे० ६।९) इति करणाधिपस्य क्षेत्रज्ञस्या धिप परमात्मैव कारणमभिधीयते । एवञ्च सर्वशरीरकस्य सर्व प्रकारस्य परस्य ब्रह्मण शान्तः सन्नुपासन कुर्यादिति श्रुति पर मात्मन सर्वात्मकत्वमुपपाद्य सार्वदिकमुपासन विदधाति । पर मात्मा च सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टतया स्थूलचिदचिद्विशिष्टस्य कार्या वस्थस्य कारणमित्यसकृदावेदितम् । अत परमात्मैवात्र ब्रह्मशब्दा भिधेयो न क्षेत्रज्ञ इति ॥१।२।१॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥१।२।२।

"मनोमय प्राणशरीरो भारूप सत्यसकल्प आकाशात्मा सर्व काम सर्वगन्ध सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर" (छा० ३।१४।२) इत्यादिना ब्रह्मासाधारणत्वेन वक्तुमिष्टाना सत्यसकल्पत्वा दीना गुणाना ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्चाय मनोमयत्वादिगुणक परमा त्मैव । श्रुत्यर्थस्तु—मनोमय भगवन्निदिध्यासनादिसाधनैर्निर्मली कृतमनसा ग्राह्य । प्राणशरीर—सर्वेषा प्राणाना धारक "यस्य प्राण शरीरम्" इतिश्रुत्या प्राणस्य शरीरत्वनिर्देशादाधेयत्वविधेयत्वा ङ्गत्वादयस्तस्मिन्फलन्ति । लोकेऽपि शरीरपदेनाधेयत्वादय एव गृह्यन्त इति तान्येव शरीरपदबोध्यानीति । भारूप—प्रकाशस्व रूप—अप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रहवत्तया निरतिशयदीप्तियुक्त इति

यावत् । सत्यसङ्कल्प —अप्रतिहतसङ्कल्प । आकाशात्मा—आकाशस्याप्यात्मत्वेन ततोऽपि सूक्ष्मरूप –"अणोरणीयान्महतो महीयानिति श्रुते । सर्वकर्मा—सर्वं जगत्कर्म यस्यासौ सर्वकर्मा सर्वजगत्कर्तेति यावत् । यद्वा—सर्वाणि जगत्प्राणिभि क्रियमाणानि कर्माणि यस्य स सर्वजगत्प्राणिभि सर्वकर्मकारयितेत्यर्थ । सर्वकाम —काम्यन्त इति कामा भोग्यभोगोपकरणादयस्त दिव्या सन्ति यस्य स सर्वकाम सर्वगन्ध । अप्राकृतदिव्यगन्ध । सर्वरस । दिव्य रस । स्वभोगभूतनिरवद्यनिरतिशयकल्याणरूपा सर्वविधा गन्धरसा सन्ति यस्य स इत्यर्थ ।

'अशब्दमस्पर्शमगन्धवच्च" इद प्राकृतशब्दस्पर्शादिनिषेधपरमिति ज्ञेयम् । सर्वमिदमभ्यात्त । उक्तमिद रसपर्य्यन्त कल्याणगुणजात सर्वं स्वीकृतवानित्यर्थ । अभ्यात्त इति कर्तरि क्त । अवाकीवाक् उक्तिरस्य नास्तीत्यवाकी । यत । अनादर —अवाप्तसमस्तकामत्वेनादर्तव्याभावादादररहित । अत एवावाकी । अजल्पाक —परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सर्वं तृणीकृत्य तूष्णीमासीन इत्यर्थ । त एत विवक्षितगुणा पर एव ब्रह्मण्युपपद्यन्त इतिमनोमयत्वादिगुणक परमात्मैव न जीव इति ॥१।२।२॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीर. ।१।२।३।

पूर्वसूत्रेण विवक्षितानां गुणाना परमात्मन्युपपत्तिमभिधायानेन तु जीवेऽनुपपत्तिस्तेषामुच्यते । तुशब्दोऽवधारणार्थक । उक्तन्यायात्परमात्मैव मनोमयत्वादिगुणको न जीव । कुत । मनोमयत्वप्राणशरीरत्वभारूपत्वसत्यसङ्कल्पत्वादीना कल्याणगुणाना शरीरसम्बन्धनिबन्धनापरिमितदु खनिमग्नजीवसम्बन्धित्वानुपपत्ते ॥१।२।३॥

हेत्वन्तरमाह—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।१।२।४।

न शारीर इति पूर्वपदानुषङ्ग । शारीरो मनोमयत्वादिगुणको न भवितुमर्हति । कुत । कर्मकर्तृव्यपदेशात् । "एतमित प्रेत्याभिसम्भवितास्मि" (छा० ३।१४।४) इति प्रकृत मनोमयत्वादिगुणकमुपास्य परमात्मान प्राप्यत्वेन कर्मत्वेन व्यपदिशति । अभिसभवितास्मीति प्राप्तास्मीत्युपासक जीव कर्तृत्वेन व्यपदिशति । अत प्राप्ता जीव उपासक प्राप्य ब्रह्मोपास्य न च मत्या गतावेकस्यैव कर्मकर्तृव्यपदेशो युज्यते । तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एवेति न शारीरो मनोमयत्वादिगुणक । श्रुत्यर्थस्तु—प्रारब्धकर्मावसाने मुमुक्षुरह शरीरपातादूर्ध्वं प्रकृत मनोमयत्वादिगुणकमेत परमात्मानमभिसभवितास्मि प्राप्तास्मीति ॥ १।२।४॥

शब्दविशेषाच्च । १।२।५।

इतोऽपि मनोमयत्वादिगुणक परमात्मा शारीराज्जीवात्मनोऽन्य कस्मात् । शब्दविशेषात् । "एष म आत्मान्तर्हृदये" (छा० ३।१४।३) इत्यत्र म इति षष्ठ्या शारीरो निर्दिष्ट । आत्मेति प्रथमया परमात्मा । भिन्नविभक्तिनिर्देशेन तयोर्भेद स्पष्ट एव । तथा समानप्रकरणे वाजिना श्रुतौ शब्दविशेष श्रूयते जीवपरयो । "व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूमम्" (शतपथब्राह्मण १।६।३) इति । अत्रान्तरात्मन्निति सप्तम्या शारीरो निर्दिष्ट । पुरुषो हिरण्मय इति प्रथमयोपास्य पर । अतस्तयोर्भेदप्रत्यायकशब्दविशेषान्मनोमयत्वादिगुणक पर शारीरादन्य इति ॥ १।२।५॥

इतश्च शारीराद्भिन्न —

स्मृतेश्च । १। २। ६।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ गी० १८। ६१।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
"यो मां पश्यति सर्वत्र" "मयि सर्वमिदं प्रोतम्"

इत्याद्याः स्मृतयउपासकत्वेन जीवमुपास्यतया परमात्मानमुपदिशन्ति । अतो जीवादन्यः परमात्मेति ॥ १। २। ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति । चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च । १। २। ७।

अर्भकमत्यल्पमोको नीडं स्थानं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्। एष म आत्मान्तर्हृदये (छा० ३। १४। ३) इत्यणीयसि हृदयायतने स्थितत्वात्। अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा (छा० ३। १४। ३) इतिस्वरूपेणाणीयस्त्वस्य व्यपदेशात्। शारीरो जीव एवात्रोपास्यतया निश्चीयते। तस्यान्यत्रा "राग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इत्यादावल्पीयस्त्वश्रवणात् न परमात्मा तस्य सर्वगतत्वेनापरिच्छिन्नत्वादिति चेन्न। निचाय्यत्वादेवम्। एवं स्वल्पपरिमाणहृदयस्थत्वेन निचाय्यत्वादुपास्यत्वात्परस्यात्मनस्तथात्वं व्यपदिश्यते। न पुनरणीयस्त्वमेवास्य स्वरूपम्। सर्वगतस्यापि कयाचिदपेक्षया परिच्छिन्नत्वं व्यपदिश्यते। अत्र दृष्टान्तः व्योमवच्चेति। यथा सर्वगतमपि व्योमाल्पपरिमाणकं सूचीपाशापेक्षया व्यपदिश्यते। यथा चाखिलवसुन्धराधिपतेरयोध्याधिपतित्वेन व्यपदेशश्चक्रवर्तिकुलेऽवतीर्णस्य रामस्योपपद्यते। एवमपरिच्छिन्नस्यापि परस्योपासनार्थमल्पत्वव्यपदेशः। न चैतावताल्पप्रमाणापत्तिः। "ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा" दित्यादिना ब्रह्मणो महत्त्वाभिधानात्। एतदुक्त-

म्भवति–सर्वगतोऽपीश्वरो हृदयपुण्डरीके परिच्छिन्नरूपो ध्यानयोगा-दुपास्यमान प्रसीदतीति ॥ १। २। ७ ॥

सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात् । १। २। ८।

हृदयमन प्राणेषु जीवपरमात्मस्थित्यभ्युपगमे जीवस्येव शरीर सम्बन्धप्रयुक्तसुखदु खसंभोगावाप्ति परमात्मनोऽपि प्रसज्येतेति चेन्न, जीवपरयोर्वैशेष्यात् । स्वार्थे ष्यञ् । स्वतन्त्रपरतन्त्रज्ञानाश्रया ज्ञानाश्रयत्वादिरूपेणोभयोविशेषवत्त्वात् । नहि शरीरान्तर्वर्तित्वमेव सुखदु खोपभोगहेतु । शुभाशुभकर्मपारवश्यतायास्तद्धतुत्वेनाभ्यु पगमस्य सर्वसम्मतत्वात् । "तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति–अनश्नन्न न्योऽभिचाकशीति" श्रुतिर्जीवस्य पुण्यपापरूपकर्मपरवशत्वेन सुख दु खोपभोगमपहतपाप्मन परमात्मनस्तन्निवृत्तिञ्चाभिधत्ते॥१।२।८॥

अथात्रधिकरणम् ।

एव पूर्वाधिकरणेषु "सर्वं खल्विद ब्रह्मे"त्यादि श्रुतीना समन्वय ब्रह्मणि प्रदर्श्य तस्य कर्मजन्यसुखदु खोपभोगाभावोऽपि दर्शित । इदानीं "यस्य ब्रह्म च क्षत्र चोभे भवत" इत्यादिश्रुतीना समन्वय तस्मिन्नेव ब्रह्मणि दर्शयस्तस्य पूर्वाधिकरणवच्चराचरात्तृत्वासभवरूपा शङ्का निराकरोति—

अत्ता चराचरग्रहणात् १।२।९।

अथ कठवल्लीष्वेवमाम्नायते । "यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्चोभे भवत ओदन । मृत्युर्यस्योपसेचन क इत्था वेद यत्र स (काठ० १।२। २५) इत्यत्रौदनोपसेचनसूचित कश्चिदत्ता प्रतीयते। स किमग्नि ? किंवा जीव उत परमात्मेति सशय । विशेषानवधारणात् त्रयाणा मपि सशयविषयत्वादिति । किं युक्तम् ? अग्निस्तावदत्ता स्यात् "अग्निरन्नाद" इति श्रुते । ब्रह्मक्षत्रादिदहनसामर्थ्यप्रसिद्धेश्च। जीवो

त्ता स्यात्। तस्य हि कर्मनिमित्तकभोक्तृत्वप्रसिद्धिः। "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" (मु० ३।१।१) इति दर्शनात्। परमात्मनस्तु अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीति तत्रैव निषेधादितिप्राप्ते ब्रूमः।

अत्ता खलु परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः। चराचरग्रहणात्। कृत्स्नस्य चराचरस्यात्तृत्वं तस्यैव सम्भवति। ब्रह्म च क्षत्रं चेति कृत्स्नं जगच्चराचरात्मकमिहादनीयत्वेन गृह्यते। उपसेचनं मृत्युरुपसेचनं स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतुर्भवतीति प्रसिद्धम्। तस्मादुपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्यमानत्वात्तदुपसिच्यमानस्य सर्वस्य चराचरस्य जगत ओदनत्वमत्र विवक्षितम्। तादृशस्याद्यस्यात्ता परमात्मनोऽन्यो न सम्भवति। परमात्मा तु ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितं चराचरात्मकं जगत्संहरन् सर्वमत्तीति तस्यैवात्तृत्वमुपपद्यते। अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मु० ३।१।१) एतद्दर्शनं कर्म्मणां फलभोगस्य प्रतिषेधपरम्। सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। सर्वसंहृतिरूपभोक्तृत्वेनात्ता परमात्मैव न चान्य इति।१।२।९॥

प्रकरणाच्च १।२।१०।

एवमपि परमात्मैवात्रात्ता भवितुमर्हति। यतस्तस्यैवेदं प्रकरणम् "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (काठ० १।२।१८) "महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" (का० १।२।२२) "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया" (का० १।२।२३) इत्यादिषु ब्रह्मैव प्रकृतम्। 'क इत्था वेद यत्र सः" (का० १।२।२५) इति तत्प्रसादाभावे तस्य दुर्विज्ञानत्वरूपलिङ्गादपीहात्तृत्वं परमात्मन एवेति ॥१।२।१०॥

इत्यत्रधिकरणम्।

गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।१।२।११।

कठवल्लीषु "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः" इति वाक्यानन्तरमेवं पठ्यते "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः" (का० १।३।१) इति । तत्र संशय । किमत्र गुहां प्रविष्टौ बुद्धिजीवौ ? आहोस्विज्जीवपरमात्मानौ ? किं युक्तम् ? गुहां प्रविष्टाविति वचनात्सर्वगतस्य परमात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वेन गुहाप्रवेशासम्भवात् । ऋतं पिबन्ताविति तस्यात्मकामस्य कर्मफलभोक्तृत्वानुपपत्तेश्च । लोक्यन्ते भुज्यन्ते कर्मफलानीति लोकस्तस्मिंल्लोके शरीरे सम्बन्धासम्भवाच्च । किञ्च जीवात्मा बुद्धेर्भिन्नस्तज्ज्ञानार्थं "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम्" (का० १।१।२०) इत्येव प्रश्नदर्शनाद्बुद्धिजीवावेवात्र प्रतिपाद्येते । इतिप्राप्त आह । गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनादिति । "गुहां प्रविष्टावृतं पिबन्ताविल्यत्र न बुद्धिजीवौ न वा प्राणजीवावुच्येते । अपितु जीवपरमात्मानावेव ज्ञेयौ हि यतस्तद्दर्शनात् । अस्यामेवोपनिषदि "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य" (का० २।४।१२) इति स्वभक्तजनहृदयगुहायां दर्शनविधानात् । "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" (का० १ ।२।१२) यो वेदनिहितं गुहायामित्यादिभि सर्वगतस्यापि ब्रह्मणो हृदयलक्षणगुहावर्तित्वदर्शनाच्च । "या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत" (का० २ । १ । ७) इत्यादिना जीवस्यापि

गुहांप्रवेशव्यपदेशाच्च । कर्मफलान्यत्तीत्यदितिर्जीव प्राणेन सम्भवति–इन्द्रियाधीनभोगा । गुहा प्रविश्य तिष्ठन्ती–हृदयपुण्डरीकमध्यवर्त्तिनी । भूतेभिर्व्यजायत–पृथिव्यादिभूतैस्सहिता देवादिरूपेण बहुधा जायत इतिश्रुत्यर्थः । एवञ्च" ऋत पिबन्ताविति व्यपदेशच्छत्रिणो यान्तीतिवत्सगच्छते । कर्मफलभोक्तृत्वेनैकस्मिञ्चेतने निश्चिते द्वितीयेनापि समानस्वभावेन चेतनेनैव भाव्यम् । सङ्ख्याश्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते । तद्यथाऽस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेवान्विष्यते, नाश्वो न गर्दभ इति । अथवा—जीव पिबति, परमात्मा पाययति एवमपि पिबतीत्येवमुच्यते । पाचयितर्यपि पक्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात् । यश्चानन्यशरणो भक्तस्तदर्पितकर्मफलस्याग्रभोक्ताय परमात्मेति प्रसिद्धेश्च । तस्मात्स्पष्टजीवपरमात्मलिङ्गाज्जीवपरमात्मानावेव गुहा प्रविष्टाविति ॥ ॥ १ । २ । ११ ॥

विशेषणाच्च । १। २। १२।

इतश्च जीवपरमात्मानावेव गुहा प्रविष्टौ ज्ञेयौ तयोरेवाऽत्र विशेषणात् । तथा हि "आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु" (कठ० १ । ३ । ३ ।) इत्यादिना रथिरथादिरूपककल्पनया समारान्मोक्षगन्ता जीव कल्पित । "सोऽध्वन पारमाप्नोति । तद्विष्णो परम पद" मिति गन्तव्यत्वेन च पर प्रतिपादित । इति जीवपरमात्मानौ गन्तृगन्तव्यभावेनास्मिन्प्रकरणे विशिष्टतया दर्शितौ । तस्माद्गुहाप्रविष्टत्वेनेह जीवपरमात्मानावेवाच्येत न तु बुद्धिजीवाविति सिद्धम् ॥ १। २। १२॥

इति गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ।

अन्तराधिकरणम् ।

अन्तर उपपत्ते । १। २। १३।

छान्दोग्ये—उपकोशलविद्यायां श्रूयते— य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच । एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" (छा० ४।१५।१) इति । तत्र संशय । किमय अक्षिण्यन्तरश्रूयमाणो जीव ? आहोस्वित्परमात्मेति ? अत्राक्ष्याधारतया जीव एव स्यात् । कुत ? दृश्यत इति प्रसिद्धवदपरोक्षतयाभिधानात् । जीवो देरदृश्यत्वप्रसिद्धश्च । सर्वगतस्य परमात्मनोऽक्षिस्थानत्वासम्भवाच्च । अत्रोच्यते । अन्तर उपपत्तेरिति । अन्तर परमात्मा । कुत ? तत्रोपदिष्टगुणाना तस्मिन्नेवोपपत्त । एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति श्रुतिदर्शितामृतत्वाभयत्वादिगुणाना तस्मादन्यत्राऽनुपपत्त । "एत सयद्वाम इत्याचक्षते । एत हि सर्वाणि वामान्यभिसयन्ति एष उ एव वामनि । एष हि सर्वाणि वामानि नयति । एष उ एव भामनि । एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति" (छा० ४। १५। ३) इति वाक्योक्ताना सयद्वामत्वादीना गुणाना परमात्मन्येवोपपत्ते परमात्मैवात्राक्ष्याधारतयाभिधीयते । सयन्ति वामानि कर्मफलानि यस्मादिति सयद्वाम सर्वफलोदयहेतु । एत हि अक्षिगत पुरुषमाश्रित्य सर्वाणि वामान्यभिसयन्ति उत्पद्यन्त इति स एव सर्वकर्मप्रवर्तक स्तत्फलोदयहेतुश्च । एष उ एव वामानि नयतीति । एष वामानि कल्याणानि नयति जन प्रापयति एष एव भामनि सर्वप्रकाशकत्व देवाह एष हि सर्वेषु लोकेषु भातीति श्रुत्यर्थ ॥१।२।१३॥

स्थानादि व्यपदेशाच्च ।१।२।१४।

अक्ष्यन्तर परमात्मैव । कुत ? स्थानादिव्यपदेशात् "यश्च क्षुषि तिष्ठ"न्नित्यादिना सर्वान्तरात्मन सर्वकारणभूतस्य परस्य

७

ब्रह्मणश्चक्षु स्थानत्वचक्षुरन्तरत्वचक्षु शरीरत्वादिचक्षुर्नियन्तृत्वादीना व्यपदेशात् । "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" अत्रापि स एव प्रतीयते । अत एव दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्येति साक्षात्कारनिर्देशोऽपि भावनाप्रकर्षाद्धृत्ते दृश्यमानत्वादुपपद्यते । ॥१।२।१४॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।१।२।१५।

इतश्चाक्ष्याधार परमात्मा "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्मेति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणाऽक्ष्यन्तर्वर्तित्वेन संयद्वामत्वादिगुणवत्तया चोपास्यत्वेनाभिधानात् । हेतुनैरपेक्ष्यद्योतनार्थं एवकार. ।१।२।१५॥

अत एव च तद्ब्रह्म ।१।२।१६।

यतस्तत्र ब्रह्मजिज्ञासार्थं "विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खञ्च न विजानामि" (छा० ४।१०।५) इति पृच्छत उपकोशलाय 'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्" (छा० ४।१०।५।) इत्येव परस्परवैशिष्ट्यप्रतिपादनेन कशब्दोक्तस्य सुखस्य खशब्दोक्ताकाशवदपरिच्छिन्नत्वमग्निभिरभिहितमिति निरतिशयसुखविशिष्ट यदक्ष्याधारतया स्थित तद्ब्रह्मैव न चान्यद्वैषयिकं सुखं तस्य परिच्छिन्नत्वेन खशब्दबोधिते व्यापके वस्तुन्यन्वयासम्भवात् ॥१।२।१६॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।१।२।१७।

इतश्चाक्षिस्थान पुरुष परमात्मैव यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्याधिगतपरमपुरुषविज्ञानस्य या गतिर्देवयानाख्याऽपुनरावृत्तिलक्षणा प्रसिद्धा श्रुतौ–"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण"त्यारभ्य "एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते" [प्र० १।१०] सैवेहाक्षिवर्तिन ज्ञातवतेऽभिधीयमाना दृश्यते । "तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति" इत्यारभ्य "तत्पुरुषोऽमानव । स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथा ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना

इम मानवमावर्तं नावर्तन्ते" [छा० ४।१५।५।६] अत परमात्मैवायमक्षिपुरुष इति ॥१।२।१७॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।१।२।१८।

परमात्मन इतरो जीवात्मादिरक्षिस्थानो न भवितुमर्हति । कुत ? अनवस्थिते । तस्य चक्षुषि नियमेनावस्थित्यनुपपत्ते । तत्रामृतत्वाभयत्वसंयद्वामत्वादिनिरुपाधिकगुणानामसम्भवाच्च । नेतरो जीवादिरक्ष्याधार इतिसिद्धम् ॥१।२।१८॥

[इत्यन्तराधिकरणम्]

(*अथान्तर्याम्यधिकरणम्*)

एवमक्ष्यन्तरपुरुषश्रुतिसमन्वय प्रदर्श्यान्तर्यामिश्रुतेरपि ब्रह्मपरत्व दर्शयति—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।१।२।१९।

"य इम च लोक परञ्च लोक सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति (बृ० ३।७।१) इत्युपक्रम्य "य पृथिव्या तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीर य पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३। ७। ३) इति। 'यो विज्ञाने तिष्ठन्" (बृ० ३ । ७) इत्यस्य पर्यायस्य स्थाने "य आत्मनि तिष्ठन्" इति पर्यायो दृश्यते माध्यन्दिनानाम् । तत्र सशय । किमेभिर्वाक्यै समुपदिश्यमान कश्चिदन्तरवस्थितो नियमनकर्तान्तर्यामी प्राप्ताणिमादिसिद्धि कश्चिज्जीवविशेष उत परमात्मेति ? किं युक्तम् ? जीव इति । कुत ? अन्तर्यामिपद घटितश्रुत्युपसहारे "एष द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता" इत्यन्तर्या

मिणश्चक्षुरादीन्द्रियाधीनरूपादिज्ञानवत्त्वश्रुत्या तस्य जीवत्वावगमा दित्येव प्राप्त आह । अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशादिति । माध्यन्दिनपाठे "य इमं च लोकं परञ्च लोकमन्तरो यमयती" त्युपक्रमे लोकशब्दस्य श्रवणेऽपि "य पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्या द्यधिदैवतानन्तरं 'य सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्नि'त्यधिलोकवाक्यश्र णादधिलोकादिष्वित्यादिपदेनाधिदैवानन्तरपठितानामधिलोकाधिवे दाधियज्ञाधिभूताध्यात्मना ग्रहणस्योपपत्तेरधिदैवादिष्विति सूत्रया मास सूत्रकार । ततो ह्यधिदैवाधिलोकाधिवेदाधियज्ञाधिभूताध्या त्मसु च वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी परमात्मैव भवितुमर्हति । कुत ? तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य परमात्मनो धर्मास्तद्धर्मास्तथा सर्वान्त स्थत्वसर्वाधारत्वसर्वशरीरित्वसर्वनियामकत्वसर्वात्मत्वसर्वान्तर्यामित्वा- मृतत्वादीनां परमात्मासाधारणधर्माणां परमात्मन्येवोपपत्ते ।

यत्तूक्तम् 'द्रष्टा श्रोतेतीन्द्रियाधीनज्ञानस्य परमात्मन्यनुपपत्ते स्तस्य जीवत्वमवगमयतीति तन्न, "चक्षुषश्चक्षुरुत प्राणस्य प्राण" इत्यादिना चक्षुरादिजन्यरूपादिज्ञानस्य परमात्माधीनत्वोपपत्ते । परमात्मनस्तु द्रष्टृत्वश्रोतृत्वादिकं न चक्षुरादीन्द्रियाधीनम् । "पश्यत्य चक्षु स शृणोत्यकर्ण " (श्वे० ३। १९) इत्यादिश्रुतेस्तस्य स्वाभा- विकं द्रष्टृत्वादिकम् । कर्मतिरोहितस्वाभाविकज्ञानस्य जीवस्य रूपादिसाक्षात्कारश्चक्षुरादिकरणजन्मा परस्य तु न तथा किन्तु स्वत एव । "य पृथिवी न वेद" "यमात्मा न वेद" (बृ० ३।७।३।२२) इत्येवमादिभिर्वाक्यै पृथिव्यात्मादिनियाम्यैरनुपलभ्यमान एव तान्नियमयतीति । अदृष्टोद्रष्टाश्रुत श्रोता (बृ० ३ ७। २३) इत्येव निगमय्य' नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता" (बृ० ३।७।२३) इत्यादिना नास्त्यन्यो नियामक इति प्रतिपाद्यते ।

अत्रान्तर्यामिवाक्येषु सर्वेषु परस्य ब्रह्मण सर्वान्त स्थत्वसर्व- शरीरित्वसर्वनियामकत्वसर्वान्तर्यामित्वश्रवणात्सर्वस्य चिदचिदात्म-

कप्रपञ्चस्य परमात्माधेयत्वशरीरत्वनियम्यत्वस्यार्थतः सिद्धे र्जीवाधीनस्वशरीरस्थितिप्रवृत्तिवत् सर्वस्य चराचरस्य जगतस्तथा तमःशब्दवाच्यस्य प्रधानस्य प्रकृतिविविक्तशुद्धजीवस्य च परमात्माधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्त्युपपत्तेः श्रीरामस्य परब्रह्मणः सर्वनियन्तृतया सर्वस्वामित्वेन सर्वशेषित्वं तद्भिन्नस्य सर्वस्य तच्छेषत्वमुपपन्नतरम् ॥१।२।१९॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च ॥ १।२।२० ॥

स्मार्तं सांख्यस्मृतिप्रतिपाद्यं प्रधानं न चान्तर्यामिपदवाच्यम्। कुतः। अतद्धर्माभिलापात्। न तस्य प्रधानस्य जीवस्य च धर्मास्तेऽतद्धर्माः। प्रधानजीवभिन्नस्य परमात्मनो स्तधर्मोद्धर्माइतियावत्। तस्याभिलापात् कथनादित्यर्थः। परमात्मनस्तु स्वाभाविकद्रष्टृत्वादिधर्माणाम् "अदृष्टोऽद्रष्टाश्रुतः श्रोताविज्ञातो विज्ञाता" (बृ० ३।७।२३) इत्यादि वाक्येष्वभिलापात्स एवान्तर्यामिपदवाच्यः। १।२।२०।

शारीरो नान्तर्यामीति समर्थयते—

उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥१।२।२१॥

हि यतः काण्वा माध्यन्दिनाश्चाभयेऽप्येनं शारीरमन्तर्यामिपरमात्मनः नियाम्यत्वेन वागादिभिश्चेतनैः समं भेदेनाधीयते। "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः" (बृ० ३।७।२२) इत्यादि काण्वाः। "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३।७।२३) इति च माध्यन्दिनाः। तस्मादात्मपरमात्मनो नियम्यनियामकभेदेनाध्ययनादधिदैवादिषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी परमात्मैव न शारीर इति। प्रकृतश्रुत्योर्विज्ञानपदवाच्य आत्मपदाभिधेयश्च शारीर एवेति बोद्धव्यम्। तस्यैव विज्ञानमयत्वादिति ॥१।२।२१॥

(इत्यन्तर्याम्यधिकरणम्)

(*अथादृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम्*)

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।१।२।२२।

आथर्वणिकैराम्नायते—अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्र तदपाणिपाद नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म तदव्यय यद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीरा " (मु १।१।५।६) एवमग्रे—"अक्षरात्परत पर " इति। तत्र सशय । किम दृश्यादिगुणको जीव प्रधान वोत परमात्मेति। तत्र पूर्वपक्ष । प्रधाने जीव वादृश्यत्वादीना सम्भवात्। प्रधानस्य भूतयोनित्व निसर्गतोऽचेतनरूपस्य प्रपचस्योत्पादनात्सिद्धम् । एव स्वकृतेन कर्मणा नानाविधदेहधारित्वेन जीवस्यापि भूतयोनित्वात्तावेवात्र प्रतीयेते। प्रधानस्य तादृशभूतयोनित्वन्तु 'यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च" 'यथा पृथिव्यामोषधय सम्भवन्ति' "यथा सत पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' (मु० १।१।७) इत्यादिभिरचेतनानामेव दृष्टान्तत्वेनोपादानमपि द्रढयति। प्रकृतश्रुतावप्यद्रेश्यमिति पर्युदासाश्रयणेन स्थूलदृश्यभिन्न सूक्ष्माख्य तत्प्रधानमेव ज्ञायते । अतोऽस्मिन् प्रकरणे प्रधानपुरुषावेव प्रतिपाद्यते। इत्येव प्राप्त आह। अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते। अदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिरक्षर परमात्मैव। कुत ? धर्मोक्ते। 'य सर्वज्ञ स सर्ववित्" "यस्य ज्ञानमय तप " (मु० १।९) इति परमात्मासाधारणधर्माणा सर्वज्ञत्वादीनामत्र प्रकरणेऽभिहितत्वात्। ननु "यया तदक्षरमधिगम्यत" इत्यक्षरमभिधाय पुनश्चाक्षरात्परत पर इत्यनेनाक्षरमवधित्वेन प्रकल्प्य ततोऽपि परतर कश्चिदभिधीयते। यदि चात्र पूर्वेणाक्षरपदेन परमात्मा गृह्येत तर्हि त्वक्षरात्परत पर इति कथ सगच्छेत स्वस्य स्वस्मात्परत्वासम्भवात् ? तस्मादत्राक्षरपदेन प्रधानमेव ग्रहीतव्य जीवो वेति चेन्न। "अक्षरात्परत पर"

इति द्वितीयाक्षरशब्दस्य परमात्मपरत्वाभावात् । तथाहि । "द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा चेति"। तत्र ऋगादिलक्षणाया विद्याया अपरत्वमुक्त्वा "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मु० १ । १। ५) इति परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरस्योक्तत्वात् । तद्यदि तत्र परमात्मनो भिन्नमन्यत्प्रकल्प्येत न सा परा विद्या स्यात् । अतः परविद्यया वेद्यस्यैव ब्रह्मत्वनिष्पत्तेर्ब्रह्मविद्यावेद्यभूताक्षरभूतयोनिर्ब्रह्मैवेति ॥ १।२।२२ ॥

इतोऽपि न प्रधानजीवौ—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।१।२।२३।

चकारः पूर्वोक्तसर्वज्ञत्वादिहेतुं समुच्चिनोति । इतरौ प्रधानजीवात्मानौ नादृश्यत्वादिगुणकौ किन्तु परमपुरुष एव । कुतः ? विशेषणव्यपदेशात् । दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादिश्रुत्युक्तदिव्यत्वादीनां विशेषणानामव्यक्ते जीवे चासंभवात् । भेदव्यपदेशाच्च । परतः पर इत्यादिना च भूतयोन्यक्षरस्य प्रधानपुरुषाभ्यां भेदो व्यपदिश्यते । तस्माददृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव न जीवो न वा प्रधानम् ॥ १ । २ । २३ ॥

प्रधानपुरुषयोरदृश्यत्वादिगुणराहित्ये हेत्वन्तरं दर्शयति—

रूपोपन्यासाच्च । १। २। २४।

भूतयोनिरक्षरपदाभिहितः परमात्मैव नेतरौ । कुतः ? रूपोपन्यासात् । अक्षरात्परतः पर इत्यस्यानन्तरं 'एतस्माज्जायते प्राण" इत्यादिना प्राणादिपृथिव्यन्ततत्त्वजातस्य सृष्टिमुक्त्वा तस्यैवाक्षरस्य सर्वविकारात्मकरूपोपन्यासो दृश्यते । "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" (मु० २।१।४) इति परमात्मन

एव सर्वचेतनाचेतनात्मक प्रपञ्चो रूपत्वेनोपन्यस्यते। सर्वविकारकारणत्वात्तनुमहिम्न शारीरस्य प्रधानस्य चाय रूपोपन्यासो न घटते। तथा सर्वभूतान्तरात्मत्वस्यासम्भवात्। अत परमात्मैव भूतयोन्यक्षरो नेतराविति सिद्धम् ॥१।२।२४॥

इत्यदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ।

अथवैश्वानराधिकरणम् ।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् १। २। २५।

छान्दोग्ये इदमाम्नायते–'कोनु आत्मा ? किम्ब्रह्मेत्युपक्रम्य "आत्मानमेवेम वैश्वानर सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति" (छा० ५। ११। ६) "यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मान वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" (छा० ५। १८। १) 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप प्राण पृथग्वर्त्मात्मा सदेहो बहुलो बस्तिरेव रयि पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदय गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय " (छा० ५ १८।२) इत्यादि। तत्र सदिह्यते। किमिह वैश्वानरशब्देन जाठराग्निर्वा भूताग्निर्थ तद्देवता किंवा जीव उत परमात्मेति। किम्पुनरत्र सशयकारणम्। यस्माद्वैश्वानरशब्द सर्वपूर्वोक्तेष्वर्थेषु साधारणतया निर्दिश्यमानो दृश्यते जाठराग्नौ ताव 'दयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्त पुरुषे येनेदमन्नम्पच्यते यदिदमद्यते" (बृ० ७।९।६) इत्यादि। भूताग्नावपि "विश्वस्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानर केतुमह्नामकृण्वन्" (ऋ सं १०।८८।१२) अग्निशरीराया देवतायामपि वैश्वानरशब्द। "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि क भुवनानामभिश्री " (ऋ

स १।९८।१) एव को न आत्मेत्यात्मशब्दवशेन जीवात्मन्यपि भोक्तृत्वेन वैश्वानरशब्दो व्याख्येय । परमात्मनि च ' तदात्मन्येव हृदयेऽग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत्" (अष्टक ३ प्रश्न ११ अनु. ८) इति प्रश्ने ' स एष वैश्वानरो विश्वरूप प्राणोग्निरुदयत" (प्रश्नो) १ । ७) इत्येवमादिवाक्योपक्रमादिषु समुपलभ्यमानानि लिङ्गानि सर्वानुगुण्येन व्याख्यातु नेतुञ्च शक्यानीति प्राप्तेऽभिधीयते ।

वैश्वानर साधारणशब्दविशेषादिति । वैश्वानर परमात्मा भवितुमर्हति । कुत ? साधारणशब्दविशेषात् । विशेष्यत इति विशेष । औदर्यभूताग्निदेवताजीवपरमात्मसु साधारणस्यापि वैश्वानरशब्दस्य परमात्मासाधारणैर्धर्मैर्विशेष्यमाणत्वात् । येन विशेषेण पर एव पुरुषो वैश्वानरशब्दस्य मुख्यार्थ स्यात् । स विशेषोऽत्र विद्यत । "एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा " इत्यादिविशेषावगमादित्यर्थ । कोनु आत्मा किम्ब्रह्मेति" सर्वात्मभूतब्रह्म जिज्ञासाया प्रवर्तमानैरौपमन्यवादिमहर्षिभिर्वैश्वानरात्मज्ञमश्वपति केकयम्प्राप्य जिज्ञास्यमानो वैश्वानरात्मा परमात्मैवति निश्चतु शक्यम् । जाठरादेर्द्युप्रभृतिपृथिवीपर्यन्ता अवयवा नोपपद्यन्ते । तस्य सर्वात्मत्वाभावात् । किं ब्रह्मेति प्रक्रान्तस्य ब्रह्मशब्दस्य स्थान उत्तरत्र सर्वत्र वैश्वानरशब्दस्य प्रयोगात्सोऽपि ब्रह्मैवाभिदधाति । ' स सर्वेषु लोकेषु" इत्यारभ्य 'एव हास्य सर्वे पाप्मान प्रदूयन्त" इति वक्ष्यमाण वैश्वानरात्मविज्ञानफलमपि वैश्वानरात्मान परमेव पुरुष विबोधयति ॥ १।२।२५ ॥

इतश्च वैश्वानर पर पुरुष एव—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति । १ । २ । २६ ।

वैश्वानरपदवाच्य परमात्मैव । यत परस्य ब्रह्मण एवा"ग्निरास्य द्यौ मूर्धा" तीदृश त्रैलोक्यशरीरात्मक रूप स्मर्यमाण दृश्यते ।

श्रुतिस्मृतिषु परमात्मन ईदृश रूपमुपवर्ण्यते तत्र तत्र। "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" (मु २।१।४) इति। तथा" यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः "-(भारते शा प रा. ध.) 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशश्श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिश्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता" इत्यादिकासु श्रुतिस्मृतिषु। एवञ्च द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तमवयवविभागेन वैश्वानरस्य रूपं स्मर्यमाणं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं स्यात्। प्रयोगस्तु—वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हति, अभिविमानत्वे सर्वज्ञत्वे सर्वात्मत्वे च सति स्मृत्युक्तत्रैलोक्यशरीरत्वादिति। इति शब्दः प्रकारार्थः। औपमन्यवप्रभृतिभिर्महर्षिभिः 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि" (छा ५।११ ६) इत्येवं पृष्टः केकयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षुर्विशेषप्रश्नानुपपत्त्या वैश्वानरात्मन्येते किञ्चिद्ज्ञातं किञ्चिन्न ज्ञातमिति विदित्वा तेषामज्ञातांशपूर्तिकामनया तानेकैकशः पृष्ट्वोपदिदेश। 'औपमन्यव कन्त्वमात्मानमुपास्से" (छा० ५।१८।१) स चाह 'दिवमेव भगवो राजन्नि" ति। ततस्तस्य दिवि पूर्णवैश्वानरात्मबुद्धिं निवर्तयन् 'दिवं सुतेजा' इति नामधेयमुक्त्वा वैश्वानराशत्वमसूसुचत्। एवं सत्ययज्ञादिभिरुपास्यमानत्वेनोक्तानामादित्यवाय्वाकाशपृथिवीनां 'विश्वरूप, पृथग्वर्त्मा बहुलो रयिः प्रतिष्ठा" इत्येकैकगुणनामधेयानि वैश्वानरात्मनश्चक्षुः प्राणस न्देहबस्तिपादात्वयवञ्चोपदिष्टवान्। तस्मात्परमात्मन एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टस्य रूपस्योपपत्तौ वैश्वानरः स एवेति ॥१।२।२६॥

इत्थं परमात्मन एव वैश्वानरपदाभिधेयत्वम्प्रसाध्यापि स्थूणानिखननन्यायेन पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

शब्दादिभ्योन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।१।२।२७।

न वैश्वानरशब्दः परमात्मपरः । कुतः ? शब्दादिभ्योन्तः प्रतिष्ठानात् । वैश्वानरशब्दस्य जाठराग्नौ रूढत्वात् । आदिशब्दात् "तस्योर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय" (छा० ५।१८।२) इति वैश्वानरहृदयादिस्थानस्याग्नित्रयकल्पनात् प्राणाद्याहुत्याधारत्वादग्निहोत्रं जुहोतीत्यग्निहोत्रवचनाच्च । वाजसनेयिभिरपि "स एषोग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इति पुरुषान्तः प्रतिष्ठितस्याग्नेर्जाठराग्निरेवाय न परमात्मेति चेन्न । कुतः ? तथा दृष्ट्युपदेशात् । न चात्र "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यनेन मनसि ब्रह्मदृष्टिं कृत्वात्मन उपासनविधानवदग्नौ वैश्वानरे परमात्मदृष्टिं कृत्वाग्नेरुपासनमुपदिष्टं भवतीति वाच्यम् । प्रतीकोपासनापत्तेः । न हि वैश्वानरोपासनायाः प्रतीकोपासनत्वमुपपद्यते । "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते । इति वैश्वानरोपासकस्य सर्वपापविनाशश्रवणात् तेन मोक्षापपत्तेश्च । चतुर्थाध्यायीयएतन्मोक्षप्रतिषेधाच्चे "ति सूत्रेण द्वयोरुपासनयोर्भेदावगमात् । तस्मात्तात्पर्यानुपपत्तेरत्र दृष्टिपदेनोपासना लक्ष्यते । तथा दृष्ट्युपदेशादित्यस्य तथोपासनोपदेशादित्यर्थः । यस्याग्निः शरीरम् (बृ० ३।७।५।) इत्यन्तर्यामिश्रुतौ जाठराग्निः शरीरत्वेन परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनोपदिश्यते । ननु "स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरम्" इत्यत्र वैश्वानरपदस्याग्निपदविशेषणत्वदर्शनाज्जाठर एव मुख्यो वैश्वानर इत्याशङ्क्याह—असम्भवादिति । "एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त" इत्युक्तस्य सर्वपापविनाशस्याग्न्युपासकस्यासम्भवात् । यदुक्तं 'मेनमेवाग्निं वैश्वानरम्" इति वैश्वानरपदस्याग्निपदविशेषणत्वदर्शनाज्जाठर एव मुख्यो वैश्वा-

नर इति तन्न। अग्निपदमेव वैश्वानरपदस्य विशेषणत्वं प्राप्य वैश्वानरस्याग्निवत्सर्वपापदाहकत्वं ज्ञापयति। श्रूयते च तथैवाग्निदृष्टान्तेनाग्निवद्वैश्वानरस्य सर्वपापदाहकत्वम् 'यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति। अस्य वैश्वानरोपासकस्येत्यर्थः। किंच पुरुषमपि चैनमधीयते। अपीत्यनेन चेत्यनेन च वैश्वानरस्य परमात्मत्वं पुरुषाध्ययनरूपमव्यभिचारिहेत्वन्तरं ज्ञाप्यते। तथा हि वाजसनेयिनोधीयते "स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैनमेवाग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इति। न हीदं पुरुषविधत्वं जाठराग्ने सम्भवति। 'पुरुष एवेदं सर्वम्"इति पुरुषनिष्ठसर्वात्मकत्वस्य 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इति पुरुषनिष्ठ सर्वपरत्वश्चिक च श्रूयते। तदिदं सर्वात्मकत्वं सर्वपरत्वादिकं च परमात्मन्येव सम्भवति न जाठरे ॥१।२।२७॥

ननु प्रदर्शितमन्त्रोक्तेर्भूताग्नौ तच्छरीराया देवताया वैश्वर्ययोगात् द्युमूर्धत्वादिकं सम्भवतीत्याशङ्क्याह—

अत एव न देवताभूतश्च । १ । २ । २८ ।

अत एवोक्तेरभिविमानत्वात्मत्वत्रैलोक्यशरीरत्वनिरुपाधिकपुरुषशब्दवाच्यत्वादिभिः परमात्माऽसाधारणलिङ्गैरत्रस्य वैश्वानरशब्दस्य जाठरपरत्वबाधेन परमात्मपरत्वनिष्पत्तेरुक्तैरेव हेतुभिस्तस्य देवताभूतपरत्वबाधात्। न देवता न वा भूततृतीयोऽत्र वैश्वानरशब्दबोध्यः। विकारभूतस्याग्नेर्विकारान्तरद्युलोकाद्यात्मकत्वासम्भवादग्न्यभिमानिदेवताया अपीश्वरायत्तेश्वर्यत्वेन तदसम्भवाच्च परमात्मैव वैश्वानर इति ॥ १ । २ । २८ ॥

पूर्वं सामान्यशब्दविशेषादिहेतुतो वैश्वानरशब्दः परे ब्रह्मणि शक्त इति दर्शितम्। इदानीं यौगिकोऽपि वैश्वानरशब्दो ब्रह्मण्येव

वृत्तिमानिति तदर्थमाचार्यान्तरसम्मतिं दर्शयति—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः । १ । २ । २९ ।

पूर्वमग्निशब्दस्य जाठरत्वमाशङ्क्य वैश्वानरशब्दसामानाधिकरण्यनिर्देशेन जाठराग्निशरीरत्वेन तद्विशिष्टस्य परमात्मन एवोपासनमुक्तम् । साम्प्रतमग्निशब्दस्य वैश्वानरशब्दवत्परमात्मपरत्वोपपत्तेः साक्षादव्यवधानेन परमात्मनो वाचकत्वे न कोऽपि विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । अयमत्राशय । यथा विश्वश्चासौ नरश्च वैश्वानरो विश्वात्मको नरः सर्वात्मको नर इत्यर्थ । विश्वेषां नर नेता वा । विश्वे नरा नियम्या यस्येति वा । सर्वनियन्तेत्यर्थ विश्वानर इत्यत्र "नरे संज्ञायाम्" (पा. सू ६ । ३ । १२९) इति दीर्घ । विश्वानर एव वैश्वानरः । स्वार्थिकोऽण् बोध्य । तथाचैव मादिगुणयोगेन साधारणोऽपि वैश्वानरशब्दः परमात्मानमेवाभिदधातीति निश्चीयते । तथैव हृत्पद्मे ध्येयत्वेनाङ्गति गच्छत्याविर्भवतीत्यग्नि. । "अङ्गेनलोपश्च" (उणादिसूत्र ४९९ इति निन्लोपश्च । अथ वाङ्गयति गमयति विश्वस्याग्रं जन्म प्रापयतीत्यग्निरभितोऽङ्गतीति वाग्निरित्यादिगुणयोगेन परमात्मधर्मविशेषितोऽग्निशब्दोऽपि निरूपाधिकगुणयोगेन परे च ब्रह्मणि काष्ठाङ्गत सन् तस्यैव वाचक इत्यग्निशरीरकत्वकल्पनां विनैव परमात्मानमभिधत्ते ॥ १ । २ । २९ ॥

अथ परिच्छेदशून्यस्य ब्रह्मणो द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशसम्बन्धिन्या मात्रया "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" (छा० ५।१८।१) इति परिच्छिन्नत्वं कथ घटत इत्याह—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । १ । २ । ३० ।

द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशे वैश्वनरोपासनया तस्याभिव्यक्ते. परमात्मन उपासकभावनानुरूपेण हृदयाद्युपासनास्थानेषु प्रादेश

प्रमाणेनाभिव्यक्तिर्भवति । अतोनवच्छिन्नस्यापि प्रादेशमात्रत्वमुपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ १ । २ । ३० ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः १ । २ । ३१ ।

प्रादेशमात्रहृत्पुण्डरीकस्थेन मनसा वैश्वानरानुस्मृतेरुपासकध्यानानुसारेण प्रादेशप्रमाणाभिव्यक्त्या तस्य प्रादेशमात्रत्वमुच्यत इति बादरिराचार्यो मन्यते । यथा घटावच्छिन्नस्य व्योम्नो घटाकाशोक्तिस्तथा मूर्धादिपादान्तदेहकल्पनयापरिच्छिन्नस्य बोध्यम् । परमात्मप्राप्तयेऽनुस्मृतेरनुस्मरणार्थं तथोपासनार्थमिति बादरेराचार्यस्य मतम् ॥ १ । २ । ३१ ॥

एवं त्रैलोक्यशरीरस्य ब्रह्मणो वैश्वानरवाच्यत्वं सिद्धम् । पुनः उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिरित्यादि किमर्थमुरःप्रभृतीनां वेदित्वादिपरिकल्पनमित्यर्थं जैमिनिसम्मतं दर्शयति ।

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति १ । २ । ३२ ।

वैश्वानरोपासकैः क्रियमाणाया वैश्वानरविद्याङ्गभूतप्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पादनाय तेषां वेद्यादिपरिकल्पनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथाहि—वैश्वानरोपासको मम मूर्धैव वैश्वानरस्य मूर्धास्ति मम चक्षुर्वैश्वानरस्य चक्षुरित्यादि ममोरो वैश्वानरोरो वेदिर्मम मन एव तदन्वाहार्यपचनो ममास्यमेव वैश्वानराहवनीयमास्यं प्राणाद्याहुतय एवाग्निहोत्रमित्येवं स्वाङ्गेषु वैश्वानराङ्गानां सम्पत्तिं कृत्वा स्वाङ्गानि वैश्वानराङ्गानि मत्वाहरहः प्राणाद्याहुतिभिः स्वहृत्पुण्डरीकस्थं वैश्वानरं परमात्मानमुपासीत । तथा हि दर्शयति । वाजसनेयि ब्राह्मणं वैश्वानरमूर्धाद्यवयवानामुपासकमूर्धाद्यवयवेषु सम्पत्तिं दर्शयतीत्यर्थः । तथा हि प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा तु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयिष्यामीति । स होवाच । मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा

अतिष्ठा वैश्वानर इति । चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति । नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति । मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति । मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति । चिबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इत्यादि ॥१।२।३२॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३।

"स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इति वाजसनेयिनः । "आत्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतं स्यात्" इति च्छन्दोगाः । अस्मिन्नुपासकशरीर एनं वैश्वानरमामनन्ति । तथा चायमर्थो निष्पन्नो भवति-उपासकेन स्वमूर्धादावेव वैश्वानरस्य परमात्मनो द्युप्रभृतीन् मूर्धादित्वेन परिकल्प्य वैश्वानराख्यः परमात्मोपासनीय इति । एवं च वैश्वानरः परमात्मैवेति ॥१।२।३३॥

इति वैश्वानराधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्याकाकन्दु श्रापीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे प्रथमाध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अथ द्युभ्वाद्यधिकरणम्

एवमुपक्रान्त एव विषये रूढपदप्रधानानां वाक्यानां श्रीरामाख्ये परमपुरुषे ब्रह्मणि समन्वयं प्रदर्श्याधुना यौगिकपदप्रधानानां तेषां समन्वयमभिधातुं *तृतीयपाद आरभ्यते ।*

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।१।३।१।

द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ द्युभुवावादी येषामन्तरिक्षादीनां ते द्युभ्वादयस्तेषामायतनमिति विग्रहः । आथर्वणे श्रूयते ' यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः " (मु० २।२।५) *अत्र द्युप्रभृतीनामोतत्वेनायतनत्वं कस्यचिदवगम्यते ।* तथा च तत्त्वेन श्रूयमाणो जीवः स्यादाहोस्वित्परमात्मेति संशयः । किं युक्तम् । जीव इति । कुतः ? "*अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति परमात्मनो मनःप्राणादिनिषेधात् ।* जीवस्य च मनःप्राणादिमत्त्वं प्रसिद्धेश्चेति प्राप्त आह—द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दादिति । द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मा, कुतः ? स्वशब्दात् । स्वस्य ब्रह्मणो वाचकोऽय आत्मशब्दस्तस्मात् । ' तमेवैकं विजानथात्मानम्" (मु २।२।५) इतिश्रवणात् । "अमृतस्यैष सेतुरिति ब्रह्मणोऽसाधारणशब्दलिङ्गात् । जीवस्यात्मशब्दवाच्यत्वेऽपि अमृतस्यैष सेतुरित्युत्तरवाक्यशेषेऽमृतप्रापकतया प्रसिद्धस्य गुणस्य तत्राऽसम्भवात् । न च "अप्राणो ह्यमना " इति परमात्मनो मनःप्राणादीन् निषेधतीतिवाच्यम् । तद्वाक्यस्य मनःप्राणाधीनप्रवृत्तिरहितत्वमेव परमात्मन इत्यर्थकत्वात् ॥१।३।१॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् । १ । ३ । २ ।

इतश्च परमात्मा द्युभ्वाद्यायतनम् । मुक्तैरुपसृप्य प्राप्य मुक्तोपसृप्य भावप्रधानो निर्देश । मुक्तोपसृप्यत्वस्य व्यपदेशादित्यर्थ । "यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन परम साम्यमुपैति" (मु. ३ । १ । ३) पुण्यपापे विधूय नामरूपाद्विमुक्त । "यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मु ३।२।८) इति नामरूपाद्विमुक्तस्य परमपुरुषप्राप्तिश्रवणात् । तथा ' भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु २ । २ । ८) इति हृदयग्रन्थिर्मिथ्याज्ञानरागद्वेषशोकमोहादयस्तद्रहितो भूत्वा छिन्नसर्वसशयो विनष्टसर्वकर्मा च दृष्टे परमात्मनि भवतीत्यर्थ । तस्मान्मुक्तोपसृप्यत्वाद् द्युभ्वाद्यायतन परम्ब्रह्मैव ॥ १ । ३ । २॥

नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च ॥ १ । ३ । ३ ॥

अनुमीयत इत्यनुमानमनुमेय प्रधान प्राणभृज्जीवश्च न द्युभ्वाद्यायतनम् । कुत ? अतच्छब्दात् । न तस्य प्रधानस्य जीवस्य च वाचक शब्दोऽतच्छब्दस्तस्मात्प्रधानवाचकशब्दाश्रवणादित्यर्थ । किन्तु प्रधानजीववाचको न य शब्दो मुमुक्षुविज्ञेयपरमात्मवाचकात्मशब्दस्तथा मोक्षप्रापकार्थकामृतसेतुशब्द सोऽतच्छब्दस्तस्मात्परमात्मवाचकशब्दश्रवणादिति यावत् । यद्यप्यात्मशब्दो जीवपरमात्मोभयसाधारणस्तथाऽपि"तमेवैक जानथ आत्मानमन्यावाचो विमुञ्चथ" (मु २ । २ । ५) इति वाग्विमोकपूर्वकमात्मनो विज्ञेयत्वश्रवणात् परमात्मन एवात्रात्मपदग्राह्यत्वम् । एवञ्चैतत्समानार्थाभिधायिन्या "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण । नानु

व्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" (बृ० ४।४।२१) इत्यस्याः श्रुतेरपि सङ्गतिः। तस्माद् द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव॥ १।३।३॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १ । ३ । ४ ।

"तमेवैकं जानथात्मानम्" (मु २।२।५) इति जीवाना ज्ञातृत्वेन, तमेवैकमात्मानमिति च परमात्मनो ज्ञेयत्वेन तयोर्भेदस्य व्यपदेशात्। एवं तत्रैव "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" (मु २।३।२) इत्युक्तम्। अस्य महिमानं महत्त्वं सर्वव्यापकत्वं सर्वजगन्नियन्तृत्वरूपं सर्वात्मकत्वं यदा जानाति तदा वीतशोको भवतीत्यर्थः। एवञ्चात्र सेव्यसेवकभावेन भेदव्यपदेशाच्च द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव ॥ १ ।३ । ४ ॥

प्रकरणाच्च । १ । ३ । ५ ।

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्" (मु १।१।३) इत्युपक्रम्यैकज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रश्नेन परमात्मप्रकरणावगमाज्जीवज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य कुत्राप्यश्रवणात्प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वानुपपत्तेर्द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव ॥ १ । ३ । ५ ॥

स्थित्यदनाभ्याञ्च । १ । ३ । ६ ।

न जीवो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन ग्रहीतुं शक्यः। कुतः ? स्थित्यदनाभ्यामिति। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मु ३।१।१) इति मन्त्रे जीवस्य कर्मफलात्तृत्वं तदन्यस्य परमात्मनोऽनश्नतोऽपि स्वयंप्रकाशस्वरूपेणावस्थितेः श्रवणात् कर्मपरवशस्य जीवस्यानादिबद्धस्यामृतप्रापकत्वानुपपत्तेः। मुक्तजीवस्यापि तदश्रवणाच्च। कर्मपरतन्त्रत्वाभाववतः परमात्मनस्त्वमृतप्रापकत्वस्याने-

कश्रुतिसम्मतत्वाद् द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मैव न प्राणभृदिति सिद्धम् ॥ १।३।६ ॥

(इति द्युभ्वाद्यधिकरणम् ।)

(अथभूमाधिकरणम् ।)

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् । १ । ३ । ७ ।

छान्दोग्ये श्रूयते "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति" (छा० ७।२३।१) इति । तथा "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्" (छा० ७।२४।१) एतद्वाक्यमस्य विषयः । किमयं भूमत्वगुणविशिष्टः प्राण उत प्रत्यगात्माहोस्वित्परमात्मेति ? किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मा । कुतः ? "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्" (छा० ७।१।३) इत्यात्मजिज्ञासवे नारदायोपास्यत्वेनोपदिष्टेषु नामादिप्राणपर्यन्तेषु "अस्ति भगवो नाम्नो भूयः" इत्यादि नारदप्रश्नानन्तरं "वाग्वाव नाम्नो भूयसी" इत्यादि तदुत्तरवचनानां प्राणपर्यन्तेषु श्रवणात् । प्राणादुत्तरत्र "अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः" इतिप्रश्नस्य 'इदमस्ति प्राणाद्भूय' इतितदुत्तरस्य चाश्रवणात्, प्रश्नप्रतिवचनयोः प्राणवाक्ये परिसमाप्तिदर्शनेनात्मोपदेशस्य प्राणपर्यन्तत्वावगमात्, वायुविकारस्य प्राणस्य वायुकारणादाकाशाद्भूयस्त्वानुपपत्तेरात्मत्वानुपपत्तेश्च । तदुपासकस्यातिवादित्वानुपपत्तेश्च प्राणशब्देन प्राणसहचारिप्रत्यगात्मग्राह्यत्वोपपत्तेः । एवं च प्रत्यगात्मनो भूमशब्दवाच्यत्वमिति प्राप्त आह—भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशादिति । भूमा परमात्मैव न प्राणादिविशिष्टो

जीवात्मा । कुतः ? सम्प्रसादादध्युपदेशात् । सम्यक् प्रसादो यस्येति व्युत्पत्त्या सम्प्रसादो जीव उच्यते । "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८।१२।३) इति श्रुतौ सम्प्रसादशब्दस्य प्रत्यगात्मपरत्वप्रसिद्धेः। तस्मात्प्राणशब्दबोधितात्सम्प्रसादादध्यूर्ध्वं भूमगुणविशिष्टस्य सत्यशब्दाभिहितस्य परस्य ब्रह्मणस्तदधिकत्वेनोपदेशादिति । "यः सत्येनातिवदती" ति सत्यशब्दाभिधेयं ब्रह्मैव भवति "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) इति श्रुतेः। अयमभिप्रायः । अस्मिन्प्रकरणे नामाद्याशापर्यन्तानामचेतनानामुत्तरोत्तरपुरुषार्थभूयस्त्वेनोपदिष्टानामुपासकस्य नातिवादित्वमुक्तम् । प्राणशब्दाभिहितप्रत्यगात्मयाथात्म्यज्ञानवतस्तु पुरुषार्थभूयस्त्वमिति मन्यमानेन "प्राणो ह्येवैतानि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति" इतिप्रत्यगात्मवादिनो (छा० ७।१५।४) इत्यतिवादित्वमुक्तम् । अतिवादित्वञ्चोपास्यत्वेनोक्तान्नामवागादीनतिक्रम्य स्वोपास्यमतिशयेन वदतीत्यर्थकम् । एवं प्रत्यगात्मोपासकस्यातिवादित्वमुक्त्वा तस्यापि सातिशयपुरुषार्थत्वान्निरतिशयपुरुषार्थत्वेनोपास्यभूतब्रह्माधिक्यवादिन एव यथार्थाभिधायित्वेनातिवादित्वम् । "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति" (छा० ७।१६।१) इत्युक्तम् । तत्र तुशब्देन पूर्वस्मादतिवादिनः परब्रह्मवादिनो भिन्नत्वमभिधाय वैशब्देनास्य सत्यवादिनो याथार्थ्यवादित्वमुक्तम् ।

अत एव "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानी"ति नारदेन प्रार्थितः सनत्कुमारः "सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्य" मित्याह । पुनः "सत्यं भगवो विजिज्ञास" इति नारदेन प्रार्थिते ब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूतं ब्रह्मोपासनपर्यायभूतं ब्रह्मविज्ञानं "यदा वै विजानात्यथसत्यं वदति

विज्ञानन्त्वेव विजिज्ञासितव्य" मित्युपदिश्य विज्ञानोपायभूतं मननं "यदावै मनुतेऽथ विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्ये" त्युपदिश्यानन्तरं वस्तुश्रवण विना तन्मननस्यानुपपत्तेः श्रवणस्याप्यर्थसिद्धत्वाच्छ्रवणोपायभूतां ब्रह्मश्रद्धा "यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्ये" त्युपदिश्य तदुपायभूता तन्निष्ठा "यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति निष्ठात्त्वेव विजिज्ञासितव्ये" त्यवबोध्य तदुपायभूतामिन्द्रियसयमादिप्रयत्नरूपा कृतिं "यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्ये" त्युपदिश्य प्राप्यस्य सत्यशब्दोक्तस्य ब्रह्मण. सुखात्मकता ज्ञातव्येति सुख त्वेव विजिज्ञासितव्यमित्युपदिश्यानन्तरं "सुख भगवो विजिज्ञास" इति जिज्ञासासमनन्तरमाहाचार्यो "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यम्" (छा० ७।२३।१) इति । ततो "भूमानं भगवो विजिज्ञास" इति नारदप्रार्थनया "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" अथ "यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्प तन्मर्त्यम्" इत्युपदिदेश । अनन्तरं तस्याप्याधारः कश्चिदन्य. स्यादित्याकाङ्क्षायामाह—स भगव. कस्मिन् प्रतिष्ठित इति । तत्समाधानञ्चाचार्येण "स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति" (छा० ७।२४।१) इत्यादिक कृतम् । अत्राल्पे परिच्छिन्ने सुखं नास्ति । अपि तु तत्प्रतियोग्यनल्पेऽपरिच्छिन्ने भूमपदवाच्य एव सुखम् । अत एव स एव सुखमिति भूमा परमात्मैव ॥ १।३।७ ॥

धर्मोपपत्तेश्च १।३।८॥

भूमपदाभिधेयस्यात्र प्रकरणे ये धर्मा समाम्नायन्ते ते सर्वेऽपि परस्मिन्नेव ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । स्वाभाविकामृतत्वस्वमहिम्निप्रतिष्ठि-

तत्त्वदृशादिव्यापकत्वसर्वात्मकत्वादयो धर्मा. परमात्मन्येवानन्यसाधारणतयेति परमात्मैव भूमेति सिद्धम् ॥ १।३।८ ॥

(*इति भूमाधिकरणम् ।*)

(*अथाक्षराधिकरणम्*)

अक्षरमम्बरान्तधृते ॥१।३।९॥

बृहदारण्यके श्रूयते—"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्" (बृ० ५।८।८) इत्यादि । तत्र संशय. । किमत्राक्षरशब्दनिर्दिष्ट "मक्षरात्परत. पर" इति श्रुत्युक्त प्रधानमुत "क्षर प्रधानममृताक्षरं हर' क्षरात्मानावीशते देव एक " (श्वे० १। १०) इति श्रुत्युक्तो जीव आहोस्वित् "यया तदक्षरमधिगम्यते" (मु० १।१।५) इत्यभिहित. परमात्मा ? किं युक्तम् ? प्रधानस्य सर्वविकारकारणत्वात्तदेव प्रतीयते । प्रकृतश्रुतौ च "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चे" त्यादि गार्गीप्रश्नस्याकाशकारणं किमित्यभिप्रायस्तदुत्तरतयोपरिष्टादुक्तम् तथा चाकाशादीनामाधारतयाक्षरपदवाच्यप्रधानस्यैव सर्वत्र निदिष्टत्वात्तदेवेहाभिधीयते । अथवा "अपरेऽयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेपराम् । जीवभूता महाबाहो ययेद धार्यते जगत्" (गी० अ० ७।५।) इति जीवस्यापि जगदाधारत्व कथनाज्जीव । इति प्राप्तेऽभिधीयते—अक्षरमम्बरान्तधृतेरिति । अक्षरं परब्रह्मैव । कुत ? अम्बरान्तधृते. । अम्बरस्य गगनस्यान्तः समाप्तिर्यत्र तदम्बरान्तमव्याकृतमम्बरस्य कारणम् । "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" (बृ. १।४।६) इति श्रुतेः । प्रथममव्याकृतं भूतसूक्ष्ममासीत्तस्यैवाकाशादिनामरूपाभ्यां

व्याकरणानन्तरं सर्वमिदं नामरूपात्मकमाकाशादिकं जगद्भवत्ते नाकाशस्य कारणमव्याकृतम्। कार्याणां स्वकारणे समाप्तेर्लयस्य श्रवणादन्तशब्दस्य समाप्त्यर्थकत्वेनोक्तार्थस्योपपत्तिः। त्रैलोक्यान्तर्वर्तिनो द्युपृथिव्यादिविकारजातस्याधारतया निर्दिष्टस्याकाशस्य भूताकाशत्वानुपपत्तेश्च। यतस्तस्यापि विकारान्तर्गतत्वेन सर्वविकाराधारत्वाऽसम्भवात्। तस्मादम्बरान्तपदनिर्दिष्टमव्याकृतं तस्य धृतेर्धारणात्तदाधारत्वाच्चेत्यर्थः। तस्माद्द्युपृथिव्याद्याधारस्याम्बरान्तस्याव्याकृतस्याधारत्वादक्षरं ब्रह्मैव न प्रधानमिति ॥१।३।९॥

अथापि "यस्याऽव्यक्तं शरीरम्" यस्याक्षरं शरीरम् "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः" (श्वे० १।१०) "क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" (गी० १५।१६) 'यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः" (गी० १५।१८) इत्येवमादिश्रुतिस्मृत्युक्तोऽक्षरशब्दवाच्यो जीवोऽस्तु। तस्य च "ययेदं धार्यते जगत्" दिति जगदाधारत्वस्मरणात्तस्यैवास्थूलत्वादिधर्मकत्वोपपत्तेश्चेत्याशङ्कायामाह—

सा च प्रशासनात् ।१।३।१०।

सा चाक्षरस्याम्बरान्तधृतिस्तस्य प्रशासनादेव भवति। 'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" (बृ० ३।८।९) इत्यादावक्षरस्य प्रशासनेप्रतिबाधितायामाज्ञाया सूर्यचन्द्रमोद्यपृथिवीनिमेषमुहूर्ताहोरात्रार्धमासर्तुसंवत्सरादीनां विधृततया स्थित श्रवणादस्य स्वाधीनशासनस्य चिदचित्सर्ववस्तुविधारणस्य प्रत्यगात्मन्यसम्भवात्। प्रधानस्य त्वचेतनत्वासम्भवपराहतत्वात्प्रशासनस्येति परिशेषात्तस्य परमात्मधर्मत्वमेवेति तदेवाक्षरपदवाच्यम् ॥१।३।१०॥

(इतश्च ब्रह्मैवाक्षरम् ।)

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।१।३।११।

अन्ययो प्रधानजीवयोर्भावो धर्मोऽन्यभावस्तस्य व्यावृत्ते । तद्व्यावर्तकाना केवलपरमात्मधर्माणा वाक्यशेषे श्रवणात् । "तद्वा एतदक्षर गार्ग्यदृष्ट द्रष्टृश्रुत श्रोत्रमत मन्त्रविज्ञात विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च" (बृ० ५।८।१२) अत्र हि द्रष्टृत्वादिरूपैश्चेतनधर्मैरचेतनप्रधानभावस्य व्यावर्तनात् । एव सर्वैर्द्रष्टृत्वाद्यात्मकै सर्वद्रष्टृत्वात्मकैश्च परमात्मासाधारणधर्मैर्जीवभावस्य व्यावृत्ते । किञ्च "एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्या प्रशसन्ति यजमान देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ता" (बृ० ३।८।९) इति यस्य प्रशासनेऽन्वायत्ता यदाज्ञया श्रौत स्मार्तञ्च यागदानहोत्रादिक कुर्वन्ति तदक्षर पर ब्रह्मैव । अत एव "यो वा एतदक्षर गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपण, अथ य एतदक्षर गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मण" (बृ० ३।८।१०) इतीय श्रुतिर्यद्ज्ञानात्कार्पण्य, यज्ज्ञानाच्च ब्राह्मण्य स्वयमेवाभिदधाति तदक्षरपदवाच्य परमपुरुष परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ १।३।११ ॥

(इत्यक्षराधिकरणम् ।)

(अथेक्षतिकर्माधिकरणम् ।)

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्स । १।३।१२।

अथर्वणे सत्यकामप्रश्ने श्रूयते—"य पुनरेत त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्न । यथा

पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एव ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तस्स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशय पुरुषमीक्षते" (प्र. ५।५.) अत्र च पुरुषेक्षणरूप फलमभिध्यानञ्च फलीति फलफलिनोरीक्षणध्यानयोरेकविषयत्वनियतत्वाद् ध्याना यो ध्येय स एवेक्षणीय इति ध्यानेक्षणविषयतया ज्ञायमानो योऽर्थ. स एवोपेय इति निश्चिते सति संशय । किमत्र पुरुषपदवाच्य प्रत्यगात्मा समष्टिपुरुषाभिमानी चतुर्मुख आहोस्वित्परमात्मेति । किं युक्तम् ? समष्टिपुरुषश्चतुर्मुख । कुत ? तद्विद्. सातिशयलक्षणफलस्यात्रोच्यमानत्वात् । तथा हि—"स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायेणान्तमोंकारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोक जयति" (प्र० ५।१) इति प्रकृत्यैकमात्रप्रणवोपासकस्य मनुष्यलोकप्राप्तिरूपं फल द्विमात्रप्रणवोपासकस्य चान्तरिक्षलोकप्राप्तिफलमभिधाय "य' पुनरेतंत्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः" (प्र. ५ ५) इति त्रिमात्रप्रणवोपासकस्य प्राप्यत्वेनोच्यमानो ब्रह्मलोकस्तत्र च ध्यानेक्षणविषयो जीवसमष्ट्यभिमानी चतुर्मुख एव स्यात् । तस्यैव तल्लोकाध्यक्षतया स्थितत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते । ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्स इति । प्रकृतश्रुताबीक्षतिकर्मेक्षणविषय स परमात्मैव । कुत. ? व्यपदेशात् । स एतस्माज्जीवघनात्परात्पर पुरुषमीक्षत इति वाक्यशेषे तस्यैव परपुरुषस्येक्षतिकर्मत्वेन व्यपदेशात् । तदेवम् प्रकृतमन्त्रे "तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभय परञ्च" (प्र. ५।७) इति प्रदर्शित शान्तमजरत्वादिरूपं च परमात्मन एव सम्भवति । एवं "एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्" इति परात्परत्वव्यपदेश. परमात्मन एव । नान्यस्य चतुर्मुखादेः । कुतस्तस्यापि जीवघनशब्दग्राह्यत्वात् । य कर्मनिमित्तदेहवान् स जीवघन इत्युच्यते । श्रूयते च चतुर्मुखस्यापि कर्मनिमित्तकं जन्मादिकम् । "हिरण्यगर्भं

जनयामास पूर्वम्" 'यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वम्" (श्वे० ६।१८) इत्यादिवचनै । तथा "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे" (मु ३।२।६) इतिश्रुतौ 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मान प्रविशन्ति पर पदम्" इति स्मृतौ च परान्तकाल इति परस्यान्त इति च ब्रह्मणो मृत्युश्रवणाज्जन्ममृत्युमत्त्वेन च तस्य जीवत्वोपपत्त्या सर्वपापविनिर्मुक्तजीवप्राप्यत्वाजरामृतत्वादिधर्मकत्वानुपपत्ते । परमात्मन एव तादृशधर्मकत्वोपपत्तेर्ध्यातव्येक्षतिकर्मभूत परमपुरुष परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ १।३।१२॥

(इतीक्षतिकर्माधिकरणम् ।)

(अथदहराधिकरणम् ।)

दहर उत्तरेभ्यः ।१।३।१३।

छान्दोग्ये भूमविद्यानन्तर श्रूयते—"अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्य तद्वाव विजिज्ञासितव्यम् । (छा० ८।१।१) अत्र सशय । अत्र दहरे हृत्पुण्डरीके या दहराकाश श्रूयत स किं भूताकाशोऽथवा प्रत्यगात्मा ? आहोस्वित्परमात्मेति । किं युक्तम् ? भूताकाशइति । कुत ? आकाशपदस्य भूताकाशे प्रसिद्धिप्राचुर्यात्। "तस्मिन्यदन्तरि" त्याधारत्वप्रतीतश्च । अथवा ब्रह्मपुराभिहितस्य देहस्य स्वामी जीवो हृदयनिवासी स्याद्दहराकाशपदवाच्यस्तस्यापि सूक्ष्मत्वादिति प्राप्त आह दहर उत्तरेभ्य इति दहराकाश परमात्मैव भवितुमर्हति । कुत ? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्य । तथाहि—"अथ यदिदमस्मिन्नि" ति वाक्यस्यायमथ । विद्यान्तरारम्भार्थोऽयमथशब्द

अस्मिन्प्रत्यक्षे ब्रह्मपुरे ब्रह्मनिवासस्थाने तत्प्राप्तिसाधनीभूत उपासक शरीरे यदिद दहर सूक्ष्म पुण्डरीक पुण्डरीकाकारमल्पपरिमाण हृदय परमब्रह्मवेश्मभूत दहर सूक्ष्मोऽस्मिन् हृद्यन्तराकाश सूक्ष्माकाश परमात्मा सदा तिष्ठतीति। "स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्त हृदयमिती" त्यग्रे परमात्मनो हृत्स्थत्वश्रवणात्। तस्मिन्पर मात्मनि यदन्तस्तदन्तर्वर्त्यात्मत्वापहतपाप्मत्वसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिक स्वाभाविकानवधिकापरिमितमङ्गलगुणजात तदन्वेष्टव्य तद्वाव विजिज्ञासितव्यमेतद्गुणसहित पर ब्रह्म विचार्य ज्ञानविषयी कर्तव्यञ्चेत्यथ। दहराकाशशब्दवाच्य परमात्मा तदन्तर्वर्तिनो ऽपहतपाप्मत्वादयस्तद्गुणा इति कुतोऽवगम्यत इति चे "स ब्रूया न्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनाऽस्य हन्यत एतत्सत्य ब्रह्मपुरम्" "अस्मिन् कामा समाहिता" (छा० ८।१।४) इत्याकाशशब्दा भिहितस्य ब्रह्मणोऽन्तर्वर्तिनोऽन्वेष्टव्यान् कामान्निर्दिश्य कोऽय ? दहराकाशशब्दोक्त के च ? तदन्तर्वर्तिन कामा इत्यपेक्षाया 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपास सत्यकाम सत्यसकल्प" (छा० ८।१।४) इत्युत्तर वाक्यमाकाश शब्दाभिहित परमात्मा तदन्तर्वर्तिनोऽपहतपाप्मत्वादयो गुणा इति ज्ञापयति। किञ्च "तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताञ्च सत्यान् कामास्तेषा सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताञ्च सत्यान् कामास्तेषा सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ८।१।६) इत्युत्तर वाक्य स्वेच्छया सञ्चरण स्वेप्सितसर्वभोग प्राप्ति च दर्शयदात्मनश्चकारेण सत्यकामानाञ्चोपास्यत्व ज्ञापयति। तस्मात्स्वशरीरान्तर्वर्तिहृत्पुण्डरीकान्त स्थ ब्रह्मापहतपाप्मत्वादिगुण विशिष्टमन्वेष्टव्यमिति स्पष्टम्।

एवञ्चात्र तदन्वेष्टव्यमिति तच्छब्दपरामृष्टयोर्दहराकाशतदन्त र्वर्तिगुणजातयोरुभयोरप्यन्वेष्टव्यत्वमवगम्यते। "अथ यदिदमस्मि

न्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म" इति प्रागनूद्य "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश"। इति तस्य "तस्मिन्यदन्तः" तस्मिन्दहराकाशपदवाच्यपरमात्मन्यन्तर्वर्तिगुणगणश्चेत्येतस्य चोभयोरपि "तदन्वेष्टव्यतया विशिष्टविधानमिति निर्गलितार्थ । एतदुभयविधानं कथमवगम्यत इति चेदित्थम्–पूर्वं हि "स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश" इत्यादिवाक्य पुण्डरीकदहरवद्दहरत्वमन्तराकाशस्यापि समापन्नमपाकुर्वद्भूताकाशत्वमपि तस्य वारयति। भूताकाशे प्रसिद्धस्याप्याकाशशब्दस्य स्वस्य स्वेनैवोपमा नोपपद्यत इति तस्य व्यावृत्ति' साधिता। अनन्तर तेनैव वाक्येन तस्य महत्त्वमभिधाय "उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि" (छा० ८।१।३) इति प्रकृतस्यैवाकाशपदवाच्यस्यास्मिन्निति विश्वाधारतामुक्त्वा "यदैनञ्जरामाप्नोति प्रध्वसते वा किं ततोऽतिशिष्यत" इति विचारे "स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते" इत्यादिभिस्तत्सत्यमबाधितं ब्रह्म च तत्पुरंचेति ब्रह्मपुर पुरवद् द्युपृथिव्यादिसर्वकामान्तं निवासस्थानमस्मिन् ब्रह्मपुरे ब्रह्मणीत्यर्थ । कामाः काम्या. कमनीयगुणा. समाहिता'। क एष आकाशशब्दनिर्दिष्टो ब्रह्मपुरशब्दवाच्य. के च कामास्तत्र समाहिता इत्याकाङ्क्षायामाकाशशब्दनिर्दिष्टो ब्रह्मपुरशब्दनिर्दिष्टश्चैष आत्मा सर्वकामशब्दनिर्दिष्टा अपहतपाप्मत्वादयस्तद्गुणा इति "एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास' सत्यकाम सत्यसंकल्प." इत्यादिवचनेन ज्ञापयामास। "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय" इत्युक्तरीत्या यदज्ञानात्कर्मपरवशा जीवा गतागतिं लभन्ते यस्य ज्ञानात्तत्प्रसादेन ब्रह्मलोकं गत्वा पर ज्योतिर्ब्रह्मोपसम्पद्य प्राप्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुण विशिष्टस्वरूपाणां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, सङ्कल्पादेव च सर्वभोग्यजातप्राप्तिर्भवति स दहराकाश. परमात्मैव ॥१।३।१३॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गञ्च ।१।३।१४।

परमात्मनो दहरपदवाच्यत्वे हेत्वन्तरमाह। यतस्तस्यैवाभिधायकौ गतिशब्दौ दृश्येते। तथा हि—"अस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा" (छा० ८।३।२) अस्यार्थः—एतत्सत्य ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता "इत्युपक्रम्य तम्ब्रह्मपुरमात्मानमेताश्च सत्यान्कामाननुविद्य ये व्रजन्ति तेषां ब्रह्मदर्शनाभावेनाकामचारित्वमुक्त्वा सत्यान् कामाननुविद्य ये व्रजन्ति तेषां ब्रह्मलोकं गत्वा ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरमाविर्भूतस्वरूपाणां सर्वलोककामचारित्वमुक्त्वाथ तादृशमात्मानमजानतां सुषुप्त्यवस्थायामहरहर्दहराकाशब्रह्मसमीपं गतानामपि तदप्राप्तिं वदति श्रुतिः। अपहतपाप्मत्वादि सत्यसङ्कल्पत्वान्तगुणविशिष्टमात्मानमजानतः प्रत्यगात्मनः कर्मपरवशतया जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्यवस्थाभिस्तिरोहिता अपहतपाप्मत्वादय आत्मगुणास्तदाश्रयभूतं दहरपदवाच्यमात्मानं कर्मरूपाऽविद्यातिरोहितत्वेनोक्तगुणविशिष्टमन्याः प्रजाश्च न विन्दन्तीति सदृष्टान्तमाह—"तद्यथा हिरण्यनिधिमक्षेत्रज्ञा इत्यादिना। अयमाशयः। यथा क्षेत्रनत्वापरिचितास्तदुपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुर्न प्राप्नुयुस्तथेमाः सर्वाः प्रजाः सुषुप्त्यवस्थायामहरहर्दहरब्रह्मसमीपं गच्छन्त्योऽप्येतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति न प्राप्नुवन्ति। ब्रह्मलोकमित्यत्र च पूर्वतन्त्रसिद्धनिषादस्थपतिन्यायेन सर्वसमासापेक्षया कर्मधारयसमासस्य श्रेष्ठतया ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इतिविग्रहः। इदञ्च हेतुगर्भितं वाक्यम्। अनृतेन हि प्रत्यूढा" इति। यतोऽनृततिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टात्मस्वरूपा अत एव ताः प्रजास्तत्समीपं गत्वाऽपि तं न पश्यन्तीति श्रुत्यर्थः।

अत्रोपरितनब्रह्मलोकगतानामपुनरावृत्तिश्रवणात्तत्राहरहर्गमनानुप पत्तेश्च। "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवती" ति सुषुप्तिकाले सर्वेषां दहराकाशशब्दनिर्दिष्टसद्ब्रह्मसम्पत्तिश्रवणाद् गन्त्रीणां प्रजानां गन्त व्यस्यैतच्छब्दपरामृष्टस्य ब्रह्मलोकपदाभिहितस्य हृदिगतदहराकाश स्य सच्छब्दवाच्यत्वोपपत्त्या ब्रह्मत्वसिद्धेः। प्रजाभिरहरहर्गन्तव्यस्य हृदिगतदहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्देन निर्दिष्टतया चेत्याभ्यां गति शब्दाभ्यां दहराकाशस्य ब्रह्मत्त्वमवगम्यते। तथा हि दृष्टमिति सुषु प्त्यवस्थायामहरहः सर्वेषां जीवानां सच्छब्दवाच्यपरब्रह्मगमनं श्रुत्य न्तरेऽप्यभिधीयमानं दृष्टम्— 'एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति" (छा० ६।९।२) तथैव सत आगम्य सत आगच्छाम इति च न विदुः। तथैव ब्रह्म लोकशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि दृष्टः। 'नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिताः एष आत्मा" (छा० ८।१।५) इत्यत्र पुरशब्दस्य लोकशब्दस्य चैकार्थ कत्वाद्ब्रह्मणो द्युपृथिव्यग्निवायुसूर्यादिनिवासस्थानत्वेनोभयत्र पुरलो कशब्दयोः प्रयोगस्य साफल्यात्। एवं 'मेष ब्रह्मलोकश्च सम्राडिति होवाचे" त्यत्र ब्रह्मलोकशब्दस्य ब्रह्मणि दृष्टत्वाच्च। लिङ्गञ्च। चशब्दोऽवधारणार्थको यदिदमस्मिन्दहरप्रकरणे श्रूयते प्रजानामहर हर्ब्रह्मलोकगमनं तदेव दहराकाशस्य परमात्मत्वेऽबाधितमव्यभि चारि लिङ्गं ज्ञापकं हेतुभूतमित्यर्थः। प्रयोगस्तु दहराकाशः परमा त्माहरहः सर्वप्रजागतिस्थानत्वे सति तद्दृश्यत्वात्तदज्ञातत्वाच्चे त्यादिकः। १।३।१४॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः। १। ३। १५।

"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" (बृ० ४।४।२२) इत्यन्यत्र श्रुतस्यास्य

परमात्मनो धृत्याख्यस्य महिम्नोऽस्मिन्दहराकाश उपलब्धेः। "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषा लोकानामसम्भेदाय" (छा० ८।४।१) इत्येवमत्र दहरप्रकरणेस्मिन्दहराकाशे धृत्याख्यस्य महिम्न उपलब्धेरयं दहराकाशशब्दाभिहितः परमात्मैव। अत्र य आत्मा स सेतु.। सेतुवत्संसारसागरात्पारप्रापकस्तत्पारकर्तृत्वेन संसार-सागरतरणोपायभूतस्तत्पारस्थब्रह्मलोकाधिपतिपरब्रह्मप्रापकश्चेतिस्वय-मेवायं दहराकाश. परमात्मोपाय उपेयश्च स्वानन्यभक्तानामिति सेतुशब्दार्थः सङ्गत इति तदुक्तं गीताचार्यैं —

> अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
> तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्॥
> भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्। गी० १२।७
> मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय॥
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय॥ गी० १२।८

इति स्वस्यैव स्वानन्यभक्तानां मंसारसागरतरणोपायत्वस्य तत्प्राप्यत्वस्य चोक्तत्वात्। अग्रे च तमेवार्थं स्पष्टयति। "तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वा" एतच्छब्दपरामृष्टमात्मानं सेतु तीर्त्वा लब्ध्वा "अन्ध. सन्ननन्धो भवति" परमात्मप्राप्तिपूर्वकालेऽन्धवत्परमात्म-नोऽद्रष्टापि तत्प्राप्तिकाले द्रष्टा भवतीति। तथा चैषा लोकाना विधृतिर्विधारक सेतुशब्दार्थे। न हि सर्वलोकविधारकत्व स्वान न्यभक्तसंसारसागरतारकत्वं च ब्रह्मणोऽन्यस्य सम्भवति। तस्मा-त्सर्वलोकविधारकत्वात्स्वशरणागतसंसारतारकत्वाच्च दहराकाश परमात्मा॥ १।३।१५॥

प्रसिद्धेश्च। १। ३। १६॥

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" (छा० ८।१४) "सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छा० १।९।१) "को

ह्येवान्यात्क प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० २।७) इत्यादिष्वाकाशशब्दस्य परमात्मनि प्रसिद्धे । सर्वभूतोत्पादक त्वादिपरमात्मधर्माणा भूताकाशेऽनुपपत्तेश्च दहराकाश परमात्मैव। १।३।१६ ॥

इतरपरामर्शात्स इतिचेन्नासम्भवात् । १ । ३ । १७ ॥

"अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय पर ज्योतिरु पसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच" (छा० ८। ३।४) इत्यत्र वाक्यशेषे सम्प्रसादशब्दाभिहितस्यैतस्य जीवस्यास्मि स्मिन् दहरप्रकरणे परामर्शात्स जीव एव दहराकाशपदवाच्य स्यादिति चेन्न । असम्भवात् । जीवे द्युपृथिव्यादिसर्वजगदाधारत्वादीना परमेश्वरासाधारणधर्म्मणा पूर्वोक्तानामसम्भवात् दहराकाश पर मात्मैव । श्रुत्यर्थस्तु य एष इति दहराकाशवित्तदुपासक उच्यते । स एव "तद्यत्रैतत्सुप्त" इति सुषुप्त्यवस्थाया सर्वपाप्मस्पर्शाभावेन सर्वकालुष्यविनिर्मुक्तत्वेन सम्प्रसन्नो जीव एव सम्प्रसीदति सुषु प्त्यवस्थाय'मिति सम्प्रसाद इत्युक्त स दहराकाशब्रह्मोपासको जीवस्तदुपासनया प्रसन्नस्य ब्रह्मण प्रसादेन कर्मबन्धाद्विमुक्ततया सम्प्रसादपदभाक् भवति । स जीव एवास्माच्छरीरात्समुत्थाय सुषुम्नया नाड्या शरीराद्बहिर्निर्गत्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोक गत्वा तत्र पर ज्योतिरुपसम्पद्य पर ब्रह्मसमीप सम्प्राप्य तत्प्रसादेन स्वेनरूपेण स्वाभाविकेनापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टसच्चिदानन्द रूपेणाभिनिष्पद्यतेऽभित सर्वप्रकारेण निष्पन्नो भवतीति ।

इदञ्चात्र विचार्य्यते । केश्चिदत्र पर ज्योतिरुपसम्पद्येत्यस्य परे ब्रह्मणि लयम्प्राप्य तद्रूपो भवतीत्यर्थ क्रियते । स च प्रकरणविरुद्ध त्वादनुपपन्न । तथाहि—ब्रह्मलीनस्य ब्रह्मैकताङ्गतस्य तस्य "जक्षन् क्रीडन् रममाण स्त्रीभिर्वा यानै" रित्यादिसर्वलोककामचारत्वादि-

व्यवहारत्वानुपपत्त्या तद्बोधकश्रुतीनां वैयर्थ्यापत्तेः। जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च। तस्माज्जक्षन् क्रीडन्नित्यादिश्रुतयोऽन्यथा स्वार्थमलभमाना मुक्तजीवस्वरूपस्य ब्रह्मणः पृथक्स्थितिमुपपाद्य स्वार्थं लभन्ते। अत एव "निरंजनः परमं साम्यमुपैति" (मु० ३।१।३) इति श्रुते. परमात्मप्रसादेनाविर्भूतोक्तगुणविशिष्टात्मस्वरूपो मुक्तजीवो ब्रह्मसाम्यं प्राप्यते तत्समानभोगवान् भवतीति "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्र. सू. ४।४।२१) इति सूत्रनिर्णीतार्थ. सङ्गच्छते। जगद्व्यापारवर्जमिति सूत्रन्तु ब्रह्मणो जगद्व्यापारकर्तृत्वेऽपि मुक्तानां तदभाव इतिबोधनेन मुक्तजीवानां ब्रह्मणो न्यूनैश्वर्यकत्वं तद्भिन्नत्वञ्च स्पष्टयति। एवञ्च मुक्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां परमात्माधीनत्वबोधनद्वारा तेषां तच्छेपत्वं परमात्मनश्च तच्छेपित्वं ज्ञापयतीयं श्रुतिः। तदेव च "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यनया श्रुत्या परज्योतिस्सम्पत्तिसमनन्तर तत्सम्पत्तेः पश्चात्तत्प्रसादेन ज्ञानिभक्तानां स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरुच्यते। तथा च स्वस्वरूपाविर्भावरूपमुक्तेरपि परमात्माधीनत्वसूचनेन बद्धमुक्तोभयावस्थस्य जीवस्य परमात्माधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन तच्छेपत्वं परमात्मनस्तच्छेपित्वं प्रतिपादयन्तीभिरनेकश्रुतिभिस्तदर्थनिर्णायकेन सूत्रेण च बद्धमुक्तोभयावस्थस्य जीवस्य परमात्मशेपत्वनिष्पत्तेस्तस्य जगद्विधारकत्वतत्सेतुत्वादिव्यापारनिषेधेन तदसम्भवात् सर्वजगद्धारको दहराकाशः परमात्मैव ॥१।३।१७॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।१।३।१८।

उत्तरात्प्रजापतिवाक्याज्जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणवत्त्वावगमात्स एव दहराकाशो भवत्विति चेन्न। आविर्भूतस्वरूपस्तु–तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। उत्तरस्मादपि वाक्याज्जीवस्य ग्रहणं दहराकाशान्न सम्भवतीति। अत्रायमभिप्रायः पूर्वपक्षतयाभिमतः। दहरविद्यासम-

नन्तर तदेकवाक्यतया तदेकार्थप्रतिपादिकाया प्रजापतिविद्याया फलतया "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तम पुरुष स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाण स्त्रीभिर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्त" (छा० ८।१२।३) इति श्रूयते। उत्तम पुरुष उद्गत तम कार्यभूत कर्मबन्धो यस्मात्स उत्तम। ब्रह्मप्रसादेन विमुक्तकर्मबन्ध त्वादाविर्भूतस्वरूपत्वेन बद्धजीवापेक्षयोत्तम पुरुष स परमात्मो पासनेन तत्प्रसादादाविर्भूतस्वरूपा मुक्तजीव। तत्र ब्रह्मलोके पर्येति परितो भोगानेति सर्वान् कामानाप्नोति। स्त्रीभिस्सह जक्षन्क्रीडन्र ममाण "स यदि पितृलोक कामो भवती" त्यादिभिरुक्ताभिर्ज्ञा तिभि पित्रादिभी रममाणो नोपजन स्मरन्निद शरीरं प्रियाप्रिया दियुक्त कर्मनिमित्तकमिदमपुरुषार्थभूत शरीर नो स्मरंस्तदनुसन्धान मकुर्वन्निति। एव ब्रह्मलोकेऽभीष्टभोगावाप्तिमुक्त्वा "स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त" इति पूर्वोदितस्वरूपस्य मुक्तजीवस्यैव पूर्वस्या ससारदशाया कर्माधीनशरीरयोग प्रयाग्येत्यादिना स्वयोग दृष्टा न्तविधयोपवर्ण्य "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्ण चक्षु स चाक्षुप पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदद जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्" (छा० ८।१२।४) इत्यादिश्रुतिभिश्चक्षुरादीना करणत्वेन रूपादीना ज्ञेयत्वेनात्मनो ज्ञातृत्वेन परस्परभेद विनिर्दिश्य "स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामान् पश्यन् रमते" (छा० ८।१२।५।) 'य एते ब्रह्मलोके" (छा० ८।१२।६) इति तस्यैव कर्मनि मित्तकशरीरेन्द्रियबन्धविमुक्तस्याविर्भूतस्वरूपस्य दिव्येन चक्षुषा मनसा स्वाभाविकेन मनोरूपेण चक्षुषा ज्ञानेन "सर्वान् कामान् पश्यन् रमत" इति सर्वकामानुभवमुक्त्वा 'त वा एत देवा आत्मा नमुपासते तस्मात्तेषा सर्वे च लोका आत्ता सर्वे च कामा स

सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच" (छा० ८।१२।६) इत्यात्मोपासकानां देवानां दिव्यचक्षुषा तस्मादुपासनादेव सर्वलोकसर्वकामावाप्तिः सुस्पष्टमभिहिता। अत्र "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्यनयोः सामान्यविशेषज्ञानबोधकयोरिव "अनुविद्य विजानाती" त्यनयोरपि सामान्यविशेषज्ञानपरत्वनिश्चयात्। यस्तमात्मानं शास्त्रेण सामान्येनानुविद्य ज्ञात्वा तदुपासनेन ध्यानेन तदेकचिन्तनेन विशेषतो जानाति तस्यैव विधमात्मानं विजानतः सर्वकामावाप्तिजन्यानन्दस्य ब्रह्मानन्दान्तर्गतत्वात्सर्वकामावाप्तिसुखाधिकानन्दप्रदो ब्रह्मानुभव एव फलमित्यस्य प्रकरणस्य निर्गलितार्थः। तस्माद् "एवमेवैष" इत्यस्मिन् वाक्यशेषे आविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्यैव क्रीडनादिव्यवहाराणां श्रवणादस्य वाक्यस्य जीवस्वरूपधर्मवर्णनपरत्वोपपत्तेर्जीवस्य चापहतपाप्मत्वादिगुणकत्वोपपत्तेः स एव दहराकाशशब्दनिर्दिष्ट इति चेत्। तत्राह, आविर्भूतस्वरूपस्त्विति। आविर्भूतस्वरूपशब्दो हेतुगर्भः। अस्य वाक्यस्याविर्भूतस्वरूपजीवस्य जक्षन्नित्यादितद्धर्ममात्रवर्णनपरत्वान्नायं दहराकाशः। अयमत्र निर्णयः। अस्मिन्प्रजापतिप्रकरणेऽनादिकालप्रवृत्तपुण्यपापरूपकर्ममूलावस्थात्रयैस्तिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणकस्य जीवस्य ससारिस्वरूपं प्रदर्श्यानन्तरं "मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्त" मित्यादिनोपरितनवाक्येन तस्यैव जीवस्य परमात्मोपासनाजनिततदुपसम्पत्त्याऽविर्भूतस्वरूपस्य क्रीडनादिधर्माणाञ्चोपदेशश्रवणात्। "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" तिसूत्रेण तस्य मुक्तजीवत्वावगमात्। जगद्व्यापारवर्जमिति च मुक्तानां जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयजगद्विधारणत्वसेतुत्वादिपरमात्मव्यापाराणां प्रतिषेधात्। आविर्भूतस्वरूपमुक्तव्यवहारेषु च "जक्षन् क्रीडन्रममाणः" इत्युक्तेषु जगद्विधारणत्वसेतुत्वाद्यप्रतिपादनात्तस्य दहराकाशपरमात्मत्वाऽसम्भवात्। एवञ्च यत्परं ज्योतिः प्राप्य जीवोऽपि कर्मबन्धा

द्विमुच्याविर्भूतस्वरूपो भवति तस्य जीवस्य स्वप्राप्यभूतपरज्योति पदवाच्यपरब्रह्मरूपत्वानुपपत्तेरत्र वाक्ये बद्धजीवस्य दहरब्रह्मोपासनया कर्मबन्धाद्विमुच्य स्वरूपाविर्भावो भवतीति बोध्यते। तस्मान्न बद्धमुक्तोभयावस्थो जीवो दहराकाशो भवितुमर्हतीति ॥१।३।१८॥

तर्हि दहरावाक्य "एष सम्प्रसाद" इत्यादिना जीवप्रस्तावोऽथ च प्रजापतिवाक्य "एष सम्प्रसाद" इति जीवप्रस्ताव आविर्भूतस्वरूपोपदेशश्च किमर्थ इति चेत्तत्राह—

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ १ । ३ । १९ ॥

परज्योति स्वरूपदहराकाशोपासनया तत्प्रसादेनैष सम्प्रसादो जीवोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायेति प्रतिपादनात्परज्योति पदाभिधेय दहराकाशसम्पत्त्याऽस्य जीवस्यानृतेन तिरोहितस्वरूपस्य स्वरूपाविर्भावो भवतीत्येतज्ज्ञापनार्थं दहरविद्याया जीवस्य परामर्श कृत। एव प्रजापतिवाक्येऽपि जीवप्रस्ताव परमपुरुषोपासनया तत्प्रसादेनास्य जीवस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरिति ज्ञापनार्थमेवेति निर्णय। तदेव दहरप्रजापतिवाक्ययो कृताना जीवपरामर्शस्वरूपोपदेशतद्व्यवहारोपदेशानामन्यार्थत्वेनापक्षीणत्वे न दहराकाश स्वरूपसमर्पकत्वमिति दहराकाश परमात्मैव ॥ १।३।१९॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् । १ । ३ । २० ।

प्रकृतश्रुतिघटकवाक्य "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इति विद्यते तेन दहराकाशस्याल्पत्व हृदयावच्छिन्नत्वञ्च बोध्यते। तादृश प्रादेशिकत्वञ्च परमात्मनोऽसम्भवदुक्तिकम्। "महतो महीयान्" इति तस्यापरिच्छिन्नत्वमेव श्रूयते। तस्मादाराग्रमात्रोपमितस्य जीवस्यैव दहराकाशत्वमुपपद्यते। तथा सति हृदयपुण्डरीकपरिच्छिन्नत्वमपि तस्योपपन्नतरमितिचेत्। तदुक्तम् तत्रोत्तरमुक्तम्। अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशादित्यत्र निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्चेत्युपासना

र्थमल्पत्व परमेश्वरेऽविरुद्धम् । "अणोरणीयान्महतोमहीयान्" (का० १।२।२०) इति श्रुतेस्तस्याणोरप्यणीयस्त्वेन हृदिस्थत्वमुपपद्यते । तथा चोपासनार्थं परमात्मनोऽल्पत्व स्वभावतोपरिमितानन्तमहाविभूतिमतोऽपरिच्छिन्नत्वञ्चाघटितघटनापटीयस्या तच्छक्त्यासर्वमप्युपपद्यते । तस्माद्दहराकाश परमात्मैव ॥१।३।२० ॥

अनुकृतेस्तस्य च ॥१।३।२१ ॥

अनुकृतिरनुकरणम् । मुख्य यत्तदनुकार्यम् । मुख्यस्याभावे यदुपादीयमान तदनुकरणम्भवति । एवञ्च तस्य जीवस्य दहराकाशब्रह्मानुकृतेश्च हेतोर्न जीवो दहराकाश इत्यर्थो निष्पन्न । अनुकार्यानुकरणयोर्भेदविशिष्टत्वादिति भाव । अत्रेद तात्पर्यम् । ससारदशाया कर्ममूलाभिर्जाग्रदाद्यवस्थाभिस्तिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणकस्य जीवस्यानुकार्यब्रह्मोपासनेन तत्प्रसादादाविर्भूतस्वरूपस्याविर्भूतानामपहतपाप्मत्वादिगुणानाञ्च परमात्मस्वाभाविकस्वरूपस्वाभाविकापहतपाप्मत्वादिगुणानुकृतित्वोपपत्त्याऽनुकर्त्तुर्जीवादनुकार्यस्य दहराकाशपरज्योतिषो भेदत्वोपपत्तेर्न तस्य दहराकाशपरमात्मत्वमुपपद्यते । अनुकृतिर्नामानुकार्यस्य साम्यावाप्ति सैवात्र श्रूयते । "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताश्च सत्यान् कामास्तेषा सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छा० ८।१।६।) इत्यनुदिनभगवदुपासनजनिततत्प्रसादेन विमुक्तकर्मबन्धस्य जीवस्य परमेश्वरस्येव सकल्पमात्रेण सर्वकामावाप्तिभवतीति । सव च 'स यदि पितृलोककामो भवती" त्यादिना महता प्रकरणेनोपरिष्टाद्घोषिता । तथा चात्र कर्मबन्धविमुक्तस्य मुक्तस्य परमात्मसाम्यावाप्तिरूपायास्तदनुकृते स्फुटं श्रवणादनुकार्याद्ब्रह्मणस्तदनुकर्तुर्जीवस्य भिन्नत्वेन तस्य दहराकाशत्वाभावात्परमात्मन एव दहराकाशत्वमिति ॥ १।३।२१ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ १।३।२२ ॥

स्मर्यते चापीत्यन्वयः। "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलयेन व्यथन्ति च" (गी० १४।२।) इति जीवस्य परमात्मज्ञानपूर्वकतदुपासनेन प्राप्तायास्तत्साधर्म्यरूपायास्त दनुकृते. स्मरणान्न मुक्तजीवस्यापि दहराकाशत्वमुपपद्यते। साधर्म्यं समानधर्मत्वम्। धर्माश्चापहतपाप्मत्वादिगुणा.। अयमर्थः। दहरब्रह्मज्ञानपूर्वकतदुपासनेन परञ्ज्योतिर्ब्रह्मोपसम्पद्य तद्दर्शनेन कर्मबन्धविनिर्मुक्त आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणको जीव. सर्वलोककामचारो भवति तदुपलक्षितान् संकल्पादेवेति संकल्पमात्रेण प्राप्तान्सर्वभोगान् भुनक्तीति परमात्मोपासनेन तत्स्वरूपाविर्भावानन्तरं तत्संकल्पात्सर्वकामावाप्तिश्रुतेर्जीवगतसत्यकामत्वादिगुणानां परमात्मप्रदत्वेन जीवस्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां परमात्मायतत्वमुपपत्तौ जीवसंकल्पस्यैषन्न्यूनत्वं जगत्सृष्ट्याद्यकर्तृत्वञ्चान्यथानुपपद्यमानं मुक्तजीवस्य सत्यकामत्वादिगुणानां तदन्यव्यवहारस्य च स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां परमात्माधीनत्वमुपपाद्य मुक्तस्य तच्छेपत्वं परमात्मनस्तु तच्छेषित्वं निष्पादयतीति परमात्मशेषभूतस्य बद्धमुक्तोभयावस्थस्य जीवस्य दहराकाशब्रह्मत्वाऽसिद्धे. परमात्मैव दहराकाश इति सिद्धम ॥१।३।२२॥

(*इति दहराधिकरणम्।*)

(*अथ प्रमिताधिकरणम्*)

शब्दादेव प्रमितः ।१।३।२३॥

काठके श्रूयते—"अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति" "ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वैतत्" तथा "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक.। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स

व स्व एतद्वैतत्" (का २।४।१२।१३) इति। तत्र किमयमङ्गुष्ठमात्र पुरुष श्रूयमाणो जीव आहोस्वित् परमात्मेति सशय। तत्र पूर्व पक्ष। अङ्गुष्ठमात्र पुरुष इत्युक्तश्रुत्या परिमाणकथनाज्जीवात्मैवात्र निश्चीयते। परमात्मनस्त्वङ्गुष्ठमात्रपरिमाणकत्व कथमपि न सम्भवति। जीवस्य तु श्रुतिस्मृतिषु तथा स्वरूपमुपवर्ण्यते। 'प्राणाधिप सञ्चरति स्वकर्मभि" (श्वे ५।७) "अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप" (श्वे ५।८) इत्यादय। तस्मादत्राङ्गुष्ठमात्रो जीव इति प्राप्तेऽभिधीयते।

शब्दादेव प्रमित इति। अङ्गुष्ठमात्रमित पुरुषोऽत्र परमात्मैव। कुत? शब्दात् "ईशानो भूतभव्यस्ये" त्यपरोक्षतया श्रूयमाणशब्दबलादेव। नहि तावज्जीवस्य कर्मपरतन्त्रप्रवृत्तिमत स्वातन्त्र्येण भूतभव्यस्येशितृत्व युज्यते। नवा कर्मबन्धविमुक्तस्य मुक्तस्यापि। मुक्तव्यवहारपरश्रौतेषु वाक्येषु तस्य भूतभव्येशानत्वाश्रवणात्। अत एव जगद्व्यापारवर्ज्जमिति जगद्व्यापारस्यापि प्रतिषेध उपपद्यते ॥१।३।२३॥

किमर्थं तर्ह्यपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठमात्रप्रमितत्वेन परिच्छिन्नत्वव्यपदेश इत्यत्राह—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।१।३।२४॥

अपरिच्छिन्नस्यान्तर्यामितया सर्वत्रावस्थितस्यापि परमात्मन स्वाश्रितजनोपासनासिद्ध्यर्थमेत्रापासकहृदयेऽधिष्ठितत्वात्। हृदयस्य चाङ्गुष्ठप्रमाणकत्व सिद्धमेव हृद्गतपरमपुरुषे समारोप्येदमङ्गुष्ठमात्रप्रमितत्व तस्योच्यते "अङ्गुष्ठमात्र पुरुष" इत्यादिवचनै। मनुष्यानधिकृत्यैव शास्त्रस्य प्रवृत्तत्वान्मनुष्याणामेव परमात्मोपासकत्व सम्भवात्। मनुष्यहृदयस्य च तत्तदङ्गुष्ठप्रमितत्वात्तदपेक्षयेदमभिहितमित्यत्र परमात्मैवाङ्गुष्ठमात्र इति सिद्धम् ॥१।३।२४॥

(इति प्रमिताधिकरणम्)

(*अथ देवताधिकरणम्*)

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् । १ । ३ । २५ ।

पूर्वं मनुष्यानधिकृत्य शास्त्रस्य प्रवृत्तत्वान्मनुष्याणां ब्रह्मोपासनेऽधिकार इत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गेन देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति नवेति संशयो बुद्धयारूढो भवति। तत्रायम्पूर्वः पक्षः। नास्ति ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकार। कुतः? तेषां विग्रहादिप्रतिपादकवचनाश्रवणात्। मन्त्रार्थवादादीनामपि "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (यजु. काण्ड. २ प्रश्न. १ अनु. १ पं० १) इत्यादीनां "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम" इत्यादिविधिवाक्यैकवाक्यतया शेषभूतानां वायुस्तुतिमात्रपराणां वाय्वादिदेवताविग्रहादिसद्भावप्रकाशकत्वाश्रवणात्। करणकलेवरमन्तरेण च ब्रह्मानुध्यानलक्षणोपासनादिसामर्थ्यं न स्यात्। तदतिरेकेण चार्थित्वस्याप्यसम्भवात्सामर्थ्यार्थित्वयोरभावादेव देवादीनां तत्राधिकारो नास्तीति प्राप्तेऽभिधीयते। तदुपर्यपि बादरायणस्सम्भवादिति। तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद्ये देवादयस्तेषामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति बादरायण आचार्यो मन्यते। कुतः? सम्भवात्। देवादीनामपि विद्याधिकारकारणत्वयोः सामर्थ्यार्थित्वयोस्सम्भवात्। तत्र सामर्थ्यं देहेन्द्रियादिमतः सम्भवति। तच्च देहेन्द्रियादिमत्वं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिभिस्तेषामवगम्यते। तत्र "वज्रहस्तः पुरन्दरः" (अष्टक २ प्र. ६ अ. ७ पं. ३४) "तेनेन्द्रो वज्रमुदयच्छत्" (का. २ प्र. ४ अ. १२) इत्यादिकर्मविधिशेषभूतमन्त्रार्थवादेषु स्पष्टमेव विग्रहादिमत्वं देवानां श्रूयते। स्तुतिर्हि स्तोतव्यनिष्ठासाधारणगुणाभिधानेन सम्पद्यते। तथाभूतगुणानामाधारश्च विग्रहादिमानेव स्यात्। नह्येतेषामन्यपरत्वमेष्टव्यम्। कर्मप्रवृत्तये स्तोतव्यार्थसद्भावस्यावश्यकत्वात् तथा वाल्मीकीये श्रीरामं प्रति ब्रह्मणो वचनादपि ज्ञायते—

सक्षिप्य हि पुरा लोकान् मायया स्वयमेवहि ।
महार्णवे शयानोप्सु मां त्व पूर्वमजीजन ॥ वा रा. उ १०४ स ४।
पद्मे दिव्यार्कसकाशे नाभ्यामुत्पाद्यमामपि ।
प्राजापत्य त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् । वा रा. उ १०४ स ७।
सोऽहं सन्यस्तभारो हि त्वामुपासे जगद्गुरुम् ।
रक्षा विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् ॥ वा रा. उ १०४ स ८।
ततस्त्वमपि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात् ।
रक्षा विधास्यन् भूताना विष्णुत्वमुपजग्मिवान् । वा रा उ १०४स ९।

इति नाभ्यामुत्पाद्य मामपि "त्वामुपासे" रक्षा विधत्स्वेति च वाक्यैर्ब्रह्मण शरीरवत्त्व श्रीरामोपासकत्व रक्षार्थित्वञ्चावगम्यते ।

एव देवादीना सदा भोगशालित्वेऽपि भाग्यवस्तूना क्षयातिशयदोषग्रस्तत्वेन तत्रानित्यत्वबुद्ध्युत्पादेन वैराग्याद्युत्पत्तिपूर्वक निरतिशयानन्दस्य मोक्षस्यार्थित्वमपि सम्भवत्येव ।

तथा बृहदारण्यके "तद्यो यो देवाना प्रत्यबुध्यत स एव तद् भवत्तथर्षीणा तथा मनुष्याणाम्" (बृ० १।४।१०) इति देवाना ब्रह्मविद्याफलान्त विद्यावत्त्व श्रूयते । एवञ्च तेषा ब्रह्मविद्याफलवता कैमुत्यन्यायेनैव ब्रह्मविद्याधिकारित्वोपपत्तिरिति ॥१।३।२५॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । १।३।२६॥

ननु ब्रह्मविद्याधिकारस्त्वनिष्पत्तये देवादीना विग्रहादिमत्त्व सप्रमाणमभ्युपगतम् । तथा सति कर्मणि विरोध सम्पद्यते । कुत ? विग्रहवत्त्वे तेषा यागादौ कर्मणि "इन्द्रागच्छ, हरिव आगच्छ"(यजु० आरण प्र० १ अ. १२) इत्यादिनाऽहूतस्य तस्यैकस्य युगपदनेकयागेषु सन्निधानाऽनुपपत्तेरिति कर्मणि देवताया उपकारकत्वविरोध इति चेन्न । कुत.? अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । सौभर्यादीना योगशक्तिभाजां युगपदनेकशरीरप्रतिपत्तिदर्शनात् देवादीना प्रभूतशक्तिमता

युगपदनेकशरीरधारणत्वोपपत्तेः । अथ वा प्रतिपत्तिरङ्गभावस्तस्य लोके दर्शनात् । यथाऽनेकैश्छात्रैर्युगपन्नमस्कुर्वाणैरेकोपिगुरुर्नमस्क्रियमाणो दृश्यते । एवमेकां सविग्रहामेव देवतामुद्दिश्य युगपत्सर्वे हवींषि त्यक्ष्यन्तीत्यतः कर्मणि देवताया उपकारकत्वे न कश्चिद्विरोधः ॥१।३।२६॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।१।३।२७।

विरोध इत्यनुवर्तते । ननु निरुक्तहेतोर्देवादीनां विग्रहादिमत्त्वेऽभ्युपगम्यमाने न स्यात्कर्मणि कश्चिद्विरोधः । किन्तु देवादिवाचके शब्दे तु विरोधः स्यादेव । देवतानां विग्रहस्य सावयवत्त्वेन घटादिवद्विनाशत्वोपपत्तेः । उत्पत्तेः पूर्वं विनाशादूर्ध्वं च वैदिकेष्विन्द्रादिशब्देष्वनित्यत्वव्यर्थत्वप्रसक्तिरिति चेन्न, अतः प्रभवात् । अतो वैदिकादेवेन्द्राद्याकृतिविशेषवाचकादिन्द्रादिशब्दादिन्द्रादेः प्रभवात् । न हि देवदत्तादिशब्दवदिन्द्रादिशब्दा व्यक्तिविशेषमात्रवाचकाः । अतः पूर्वेन्द्रादौ विनष्टेन्द्रादिनिष्ठ नित्याकृतिविशेषवाचकाद्वैदिकादिन्द्रादिशब्दादिन्द्राद्याकृतिविशेषं स्मृत्वा तादृशमपरमपरमिन्द्रादिकं सृजति प्रजापतिः । अतो वेदेष्वनित्यत्वव्यर्थत्वप्रसक्त्यभावादिन्द्राद्याकृतितद्वाचकेन्द्रादिशब्दयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वोपपत्ते र्न विरोधः ।

उक्तार्थे प्रमाणाकाङ्क्षायामाह–प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति । प्रामाण्ये स्वातन्त्र्यात्प्रत्यक्षं श्रुतिः । श्रुत्यपेक्षप्रामाण्यकत्त्वाच्चानुमानं स्मृतिः । ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । ताभ्यां शब्दपूर्वा सृष्टिरवगम्यते । श्रुतयस्तावत् "वेदेन नामरूपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः" "स भूरिति व्याहरत्स भूमिमसृजत" (तै. ब्रा. २।२।४।२२) इत्याद्याः । तथैवान्या श्रुतिरपि—"एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः । विश्वान्यभिसौभगे" त्येतन्मन्त्रस्थपदैः स्मारं स्मारं ब्रह्मा देवादीनसृजत् । तथा चेयं श्रुतिः "एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृ-

ग्रमिति मनुष्यानिन्द्व इति पितॄँस्तिर पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्र विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्या प्रजा" इति, तथा "स मनसा वाचं मिथुन समभवत्" (बृ १।२।४) इति च । उपरि निर्दि ष्टाया. श्रुतेरर्थस्तु, एत इत्यस्य पदस्यार्थाकार स्मृत्वेन्द्रियाधिष्ठातॄ देवानसृजन् । असृग्रशब्दार्थाकार स्मृत्वाऽसृक्छब्दवाच्यरुधिर प्रधानदेहरमणान्मनुष्यानसृजदित्यादिरवगन्तव्य । तथा स्मृतिरपि–

अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यत सर्वा प्रवृत्तय ॥
सर्वेषा तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ॥
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥म अ १।२१॥
नामरूपञ्च भूताना कृत्यानाञ्च प्रवर्तनम् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ देवादीना चकार स । वि पु १।५।६३

अतो वैदिकशब्देभ्य एव देवादिसृष्टिकरणाद्देवादिसृष्टिहेतुत्वेन तेषा सार्थक्याद्देवादीना विग्रहवत्त्वेऽपि न वेदस्यानित्यत्वप्रयोजक कश्चिच्छब्देऽपि विरोध ॥१।३।२७॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥१।३।२८॥

यतो वैदिकेभ्य इन्द्रादिशब्देभ्यस्तदाकृतिं प्रजापतिर्मनसि सम्प्रधार्य तत्तदर्थांश्च संस्मृत्य सृष्टिं करोति । अतो नित्याकृतेर्वैदिके न्द्रादिशब्दार्थत्वाद्वेदस्य नित्यत्व सिद्धमेव ॥१।३।२८॥

नन्वेवमवान्तरप्रलये सतीन्द्रादिव्यक्तीर्वेदशब्देभ्य एव प्रजा पतिरसंस्मृत्य तत्तदर्थांश्चावगम्य विरचयेत् तथा सृष्टौ वेदनित्यत्व मप्युपपद्यते पर प्राकृतप्रलये तु भूराद्यखिललोकतत्कारणीभूतमह दहङ्कारादीना समेषा विनष्टत्वात्तदानीं स्रष्टुरप्यभावात्कथ वेद शब्देभ्यो जगद्रचनावैचित्र्यम् ? कथन्तरा विनिष्टस्य वेदस्य नित्य त्वम् ? तथा च कथ वेदशब्दपूर्वकत्व सृष्टे स्यादिति शङ्कायामाह–

समाननामरूपत्वाच्चावृतावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ।१।३।२९॥

प्राकृतप्रलयावसाने पुनर्जगत्सृष्टयावृत्तावपि न कश्चिद्विरोध । कुत ? सृज्याना पूर्वोक्तसमाननामरूपत्वात्। आदिसर्गेऽपि परमात्मा स्वस्मिल्लीनस्य जगत पूर्वसंस्थान स्मरन् "बहु स्याम् प्रजायेय" (छा० ६।२।३) इति सकल्प्य स्वस्मिल्लीनभोक्तृभोग्यजात शक्तिमात्रावशेष विभज्य महदादिब्रह्माण्ड चतुर्मुखपर्यन्त यथापूर्वं सृष्ट्वा वेदाश्च पूर्वानुपूर्वीविशिष्टानाविष्कृत्य यथापूर्वं जगद्व्यवहार निर्वाहयति । तदेवतत् दर्शनात्स्मृतेश्चेति । दर्शन श्रुति । (तै. २।६।) "यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे ६। १८) इति श्रुतिर्ब्रह्माणमुत्पाद्य तस्मै वेदानुपदिशतीत्यर्थं स्पष्टमाह । तथा "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ स १०।१९०। ३) इति श्रुतिर्यथा पूर्वं प्रलयात्पूर्वं सृष्टौ यथा सूर्यचन्द्रादि सर्वं जगदासीत्तथैवोत्तरसृष्टौ तत्सर्वमकल्पयद्ब्रह्मेत्यभिधत्ते। तथा—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव ।
तस्य अयन पूर्वं तेन नारायण स्मृत ॥

इत्याद्या स्मृतय ।

एव श्रीवाल्मीकीये—

"सक्षिप्य हि पुरा लोका-मायया स्वयमेव हि ।
महार्णवे शयानोप्सु मा त्व पूर्वमजीजन । वा रा उ स १०४।४
पद्मे दिव्यार्कसकाशे नाभ्यामुत्पाद्यमामपि ।
प्राजापत्य त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् । वा रा उ स १०४।७।
सोह सन्यस्तभारो हि त्वामुपासे जगद्गुरुम् ।
रक्षा विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् । वा रा उ स १०४।८।
ततस्त्वमपि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात् ।

रक्षा विधास्यन् भूताना विष्णुत्वमुपजग्मिवान्। वा रा उ स १०४।९।
आदित्या वीर्यवान् गर्भे भ्रातृणा हर्षवर्धन ।
समुत्पन्नेषु कार्येषु तेषा साह्याय कल्पसे। वा रा उ स १०४।१०।
स त्वं वित्रास्यमानासु प्रजासु जगता वर।
रावणस्य वधाकाक्षी मानुषेषु मनो दधा। वा रा उ स १०४।११।

इत्येव महता प्रकरणेनोक्तम्। तदर्थश्च प्राकृतप्रलयान्त आदिसर्गार्थं त्व महार्णवे शयानस्सन् नारायणसञ्ज्ञामवाप्य नाभ्या मामुत्पाद्य प्राजापत्य सर्वं कर्म मयि निवेश्य ततस्त्वदुपासकेन मया प्रजारक्षणार्थं प्रार्थितो विष्ण्वादिरूपेणात्राविर्भूय तद्रूपेणावध्यस्य रावणस्य वधाकाक्षी त्व मानुषेषु मना दधा। स्वनैव सनातनेन रूपेणाविर्भूतोसीति श्रीराम प्रति ब्रह्मणो वचनाच्च परमात्मनियोगपूर्वकमेव प्रजापतेर्व्यापारस्तत्कर्तृकश्चेन्द्रमिन्द्रादिरूप जगादित्यव गम्यते। एवमन्या स्मृतयोऽपिचिन्तनीया ॥१।३।२९॥

(*इति देवताधिकरणम्*)

(*अथमध्वधिकरणम्।*)

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः। १।३।३०॥

ब्रह्मविद्याया देवादीनामप्यधिकार इति सामान्येन प्राक् चिन्तितम्। पर यत्र मध्वादिषु विद्यास्वेकस्या देवताया उपास्यत्व तस्या एव चोपासकत्वमिति श्रूयत तत्र तासामनधिकार इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। कुत ? असम्भवात्। "असौ वा आदित्यो देवमधु" (छा० ३।१।१) इत्यादावादित्यादीनामेव देवमधुत्वादुपास्यत्व तेषामेव च देवतात्वादुपासकत्वमित्येकस्यैवोभयरूपत्व न सम्भवति। विरुद्धत्वात्। न हि प्राप्यस्य प्रापकत्व क्वचिदपि

दृष्टचरम् । मनुष्यादीनान्तूपासकत्वं फलावाप्तये सम्भवतीति मध्वादिविद्यासु नास्ति देवादीनामधिकार इति जैमिनेराचार्यस्य मतम् । मध्वादिष्वित्यादिपदेन यासु विद्यासु देवानामुपास्यत्वं प्रतीयते "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" (छा० ३।१९।१) इत्येवमाद्यासु ताः सर्वा गृह्यन्त इति । १।३।३०।।

ज्योतिषि भावाच्च । १।३।३१।

"तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृ० ६।४।१४) इति ज्योतिषां ज्योतिषि परस्मिन् ब्रह्मणि देवानामुपासनायाः सद्भावाच्च परब्रह्मोपासकानां सूर्याद्युपासनानुपपत्तेर्नास्ति देवानां मध्वादिविद्यास्वधिकार इति पूर्वोदितस्य जैमिनेर्मतम् ।। १।३।३१।।

भावन्तु बादरायणोऽस्ति हि । १।३।३२।

तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । मध्वादिविद्यास्वपि तदुपासकानामादित्यवस्वादीनां देवानामधिकारभाव भगवान् बादरायणाचार्यो मन्यते । हि यस्मादादित्यवस्वादीनामपि स्वावस्थब्रह्मोपासनेन वस्वादित्यादिप्राप्तिपूर्वकब्रह्मपेप्सा । "स यावदादित्यः पुरस्तादेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्य ँ स्वाराज्यं पर्येता" (छा० ३।६।४) इति वस्वाद्याधिपत्यस्वाराज्यस्य सूर्योदयास्तप्रदेशपर्य्यन्तत्वश्रवणात् । वस्वादीनां भोग्यस्य परिमितत्वेन सातिशयत्वेन च ततोऽपि विरागपूर्वकं निरवधिकनिरतिशयानन्दब्रह्मप्राप्तीच्छया तदुपासनेन कल्पान्तरे वस्वादित्वं प्राप्य तदन्ते परब्रह्मप्राप्त्यवगमात् । "अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य" (छा० ३।११।१) इत्यतः प्राक्तनेन कार्यविशेषवस्वाद्यवस्थस्य ब्रह्मण उपासनामुपदिश्यैतद्वाक्येन च कारणावस्थस्य ब्रह्मण एवोपास्यत्वमुपदिश्यते । तस्मादत्र कार्यकारणोभयावस्थब्रह्मोपासनमेव विधीयते । एवं "एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद" (छा० ३।११।३) इत्यनेन समग्राया मधुविद्याया ब्रह्मोपनिष-

त्वश्रवणाद्ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्ततत्फलस्य श्रवणाच्चादित्यादस्य विधी यमानमुपासनं ब्रह्मण एवेति निश्चीयते। तथा सति "तं देवा ज्योति"रित्यस्यापि सामञ्जस्यम्। तस्मादस्त्येव मध्वादिषु विद्यासु देवादीनामप्यधिकार इति सिद्धम् ॥ १।३।३२॥

इति मध्वधिकरणम्।

(*अथापशूद्राधिकरणम्।*)

उक्त ह्येतन्मनुष्याणां देवादीनाञ्च ब्रह्मविद्यायामधिकार इति। इदानीं शूद्रस्यापि मनुष्यत्वाविशेषात्तस्याप्यधिकारः स्यान्न केवलं त्रैवर्णिकस्यैवेतीमां शङ्कामपाकर्तुमधिकरणमिदमारभ्यते।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि १।३।३३॥

यथा किलार्थित्वसामर्थ्ययोः सत्वात्त्रैवर्णिकानां मनुष्याणां देवादीनाञ्चाधिकारस्तथैव शूद्रस्याप्यधिकारो ब्रह्मविद्यायां स्यात्त स्यापि तत्सम्भवात्। किञ्च "तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त" इति कर्मणि निषेधवत् "शूद्रो ब्रह्मविद्यायामनवक्लृप्त" इति विशेषेण निषेधस्याश्रुतत्वात्। वेदाध्ययनसाध्याहवनीयाद्यभावेनाग्निसाध्य कर्मानधिकारेऽपि ब्रह्मोपासनस्य मनोमात्रनिर्वर्त्यत्वेन शूद्रस्यापि देवादिवद्देवाधिकारस्य सम्भवात्। नचानधीतवेदान्तस्यानवगतो पासनक्रियाकलापस्य कथमुपासनेऽपि प्रवृत्तिरिति वाच्यम्। वेदान्ताद्यध्ययनाभावेऽपीतिहासपुराणश्रवणादिभिरप्युपासनावगते स्तत्सामर्थ्यस्य सम्भवात्। इतिहासादिश्रवणन्तु शूद्रस्यापि सम्भ वति। तथाच भारते "श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत" (शा मो) इति। अर्थित्वन्तु परमपुरुषार्थलक्षणनिरतिशयानन्दे

मोक्षे कस्य नाम चेतनावतो न भवेत्। दृश्यतेऽपिचेतिहासपुराणेषु विदुरादीनां ब्रह्मनिष्ठत्वम्। एवं छान्दोग्यश्रुतावपि संवर्गविद्यायां ब्रह्मविद्याधिकारं शूद्रस्याप्यवगम्यते। "अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु" (छा० ४।२।३) इति जानश्रुतिं शूद्रशब्देनामन्त्र्य तम्प्रति ब्रह्मविद्योपदेशश्रवणाच्छूद्रस्यापि ब्रह्मविद्यायामधिकार इति प्राप्ते। अभिधीयते। न हि शूद्रस्योपनयनाभावेनानधीतवेदस्य वेदवाक्यविचारसाध्यब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति। उपासनस्य मनोमात्रनिर्वर्त्यत्वेऽप्यनधीतवेदस्य शूद्रस्य वेदवाक्यविचारैकलभ्य ब्रह्मस्वरूपतदुपासनोपाययाथात्म्यज्ञानासम्भवेन शास्त्रीयसामर्थ्याभावात्। न चैवं सति देवानामप्यनधिकार इति वाच्यम्। तेषां स्वयं प्रभातवेदत्वान्न दोष इति ब्रूमः। ब्रह्मविद्यायाश्च "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३।९।२६) इत्युपनिषद्रूपवेदान्तभागैकगम्यत्वश्रवणात्। "नावेदविन्मनुते तम्बृहन्तम्" इत्याम्नायानधिगतवतो ब्रह्मयाथात्म्यज्ञाननिषेधाच्च। यत्तूक्तमितिहासपुराणश्रवणादिभिः सामर्थ्यं ब्रह्मविद्यायां भविष्यति शूद्राणाम्। तदपि न। इतिहासादेः श्रवणस्य केवलं दुरितनिवर्तकत्वेन ब्रह्मविषयकयथार्थज्ञानाजनकत्वात्। विदुरप्रभृतीनान्तु जन्मान्तरवासनया ज्ञानलाभाद्ब्रह्मनिष्ठत्वम्।

श्रीभगवद्गीतायां ब्रह्मविद्यात्वेऽपि "इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यम्" (गी० १८।६७) इति तपोऽधिकाररहितं शूद्रम्प्रति तदुपदेशवर्जनात्।

य इदं परमं गुह्यं, मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः। गी० १८।६८।

इति भगवद्भक्तेषु तदभिधानत्वापदेशाच्च। श्रुतावपि "अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु" आजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथाः" (छा० ४।२।५) इतीदं गवादिरूपं धनं तवैवास्तु

नापेक्षितमित्यर्थः । अनेनैव द्वारेण सेवनादिकमन्तरेण त्वद्वाञ्छितमिदं ब्रह्मोपदेशवाक्यमालापयिष्यसीतिभाव । अत्र शूद्रेत्यामन्त्रणमपि न चतुर्थवर्णाभिप्रायेण । किन्तु हंसोक्तात्मानादरश्रवणादस्य जानश्रुते शुग् सजाता । तदेव हंसकृतात्मानादरकाले रैक्वप्रत्याद्रवणात् । स च रैक्वर्षिस्तस्याद्रवण शोकेनाभूदिति स्वयोगबलेनावगम्य तदेव हेतूकृत्य स्वसर्वज्ञत्वज्ञापनाय शूद्रेत्यामन्त्रितवान् न चातुर्थिकवर्णतयेति स्पष्टमेवावगम्यते । तस्मै 'वायुर्वाव सवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति' (छा० ४।३।१) इत्यादिकमुपदिदेश । यत शोकेन जानश्रुतीरैक्वम्प्रति दुद्राव तत एव शूद्रइति तेनोक्त न चतुर्थवर्णापेक्षयेति ॥१।३।३३॥

क्षत्रियत्वावगतेश्च १।३।३४।

इतश्च न जानश्रुतिर्जातिशूद्र । कुत ? उपक्रमवाक्य एव क्षत्रियत्वावगते । 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायण श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस" (छा ४।१।१।) इत्युपक्रम एव श्रद्धादायित्वबहुपक्वान्नदायित्वबहुवासस्थानकारित्वसर्वदिग्भोजनप्रदत्वादिना क्षत्रियत्वावगमात् । 'दानमीश्वरभावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम्' (गी०) इति दानस्य स्वाभाविकक्षत्रियकर्मत्वस्मृते ॥१।३।३४॥

तत्रैव हेत्वन्तरमाह—

उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥१।३।३५॥

जानश्रुति क्षत्रिय एव । कुत ? उत्तरत्र सवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथेन प्रसिद्धक्षत्रियेणाभिप्रतारिसज्ञकेन सह समभिव्याहारात्मकलिङ्गात् । प्रायेण सहचार सजातीयानामेव भवतीतिभाव । सवर्गविद्यावसाने श्रूयते—"अथ ह शौनक च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनि परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे" (छ ४।३।५) इति । अत्राभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्व कापेयसाहचर्य्यादवगम्यते ।

कापेय योगश्चोपात्तवाक्येभिलक्ष्यत एव। एवं "एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्" (ताण्ड्यब्रा. २०।१२।५) इत्यस्याञ्च श्रुतौ कापेयानां चित्ररथपुरोहितत्वं प्रसिद्धम्। एतेन द्विरात्रेणेत्यर्थः। प्रायेण समानान्वया एव समानान्वयानां याजका भवन्तीति कापेयस्य चित्ररथपुरोहितस्य संयोगादभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वमवगम्यते। भवत्वभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वेऽपि कथं क्षत्रियत्वमितिचेत्तदुच्यते। "तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत" (शतपथ. ११।५।३।१३) इति श्रुतौ तत्क्षत्रियत्वस्य प्रसिद्धत्वात्। तदेवमभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वे निश्चिते तेन सह समानविद्यायां पठितत्वरूपलिङ्गाज्जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वमिति सिद्धम् ॥१।३।३५॥

इतोऽपि न जातिशूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामधिकार इत्याह—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।१।३।३६।

पूर्वत्रासामर्थ्यान्नाधिकारो ब्रह्मविद्यायामिति युक्त्यादिभिस्समर्थितमिदानीन्तु ब्रह्मविद्याङ्गोपनयनाभावान्न तत्राधिकार इत्युच्यते। "तं होपनिन्ये" (आ० श्रौ०) "उप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय" (छा० ४ । ४ । ५) इत्येवमादिषु विद्याङ्गोपनयनादिसंस्कारपरामर्शात्। "न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति" (मनु० १०।१२६) "शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिर्न च संस्कारमर्हति" (गौत० १० अ० ९ सू०) इत्यादिना तदभावाभिलापाच्चोपनयनादि संस्काराभावाभिलापात्कथनाच्चेत्यर्थः। शूद्रे पातकं नास्ति। एकजातिरुपनयनरहिता। उपनीता द्विजातय उच्यन्ते ॥१।३।३६॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः १।३।३७।

तस्य शूद्रत्वस्याभावनिर्धारणे सत्येव जाबालम्प्रति गौतमस्य विद्योपदेशप्रवृत्तेश्च "नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरो-

पत्वा नेष्ये" (छा० ४।४।५) इति न शूद्रस्य विद्यायामधिकार ॥१।३।३७॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ।१।३।३८।

शूद्रस्य वेदश्रवणतदध्ययनतदर्थज्ञानतदनुष्ठानप्रतिषेधान्नाधिकार । तत्र श्रवणप्रतिषेध —"अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्या श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वोच्छेदो धारणे शरीरभेद " (गौतमस्मृ० २।१२।३) इति। अध्ययनप्रतिषेधोऽपि 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशान यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यमि" ति । "न शूद्राय मतिं दद्यात्" "न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्" (मनुस्मृ० ४।८०) इत्यर्थज्ञानप्रतिषेध । एव "द्विजातीनामध्ययनमिज्यादान" मित्यनेन तदर्थानुष्ठानस्यापि प्रतिषेधात् । दानशब्दोऽत्र नित्यदान परो नैमित्तिकदाने शूद्रस्याप्यधिकार । विदुरधर्मव्याधादीनान्तु पूर्वजन्मानुष्ठितश्रवणादिना गर्भस्थवामदेववत्ज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञातव्या । तस्मान्नाधिकारो शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामिति सिद्धम् ॥ १।३।३८॥

(*इत्यपशूद्राधिकरणम् ।*)

(*अथ कम्पनाधिकरणम् ।*)

कम्पनात् ।१।३।३९।

एव प्रासङ्गिकमधिकारविचार परिसमाप्य प्रकृतमेव वाक्यार्थ विचार प्रवर्तयति । तत्र काठके श्रूयते—"यदिद किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निस्सृतम् । महद्भय वज्रमुद्यत य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (का० २।३।२) इति । तत्र सशय । किं प्राणशब्दन मुख्य प्राण उच्यत आहोस्विज्जगत्कारण ब्रह्मेति । किं युक्तम् ? मुख्य प्राण एव । कुत ? प्राणश्रुतिबलात् । अत्राभिधीयते । अस्मि

न्वाक्ये परमात्माऽसाधारणलिङ्गानां सर्वचेष्टाहेतुत्वसर्वोत्पादकत्व-वाय्वादिभयजनकत्वमोक्षप्रदत्वादीनां श्रवणात्प्राणशब्दाभिहितः परमात्मैव। कुतः ? कम्पनात्। मुख्यप्राणादिसहितस्य कृत्स्नस्य जगतः कम्पनात्। जीवनादिचेष्टाहेतुत्वात्। "यस्य प्राणः शरीरम्" (बृ० ३।७।१५) इति श्रुतिः शरीरिणः परमात्मन आयत्तात्शरीर-रूपप्राणस्य स्वरूपस्थितिप्रवृत्तीराह। तथा "प्राणस्य प्राणम्" (बृ० ४।४।१८) श्रुतिर्मुख्यप्राणस्यापि प्राणम्ब्रह्मेति वदति। एवं "न प्राणेन नाप्राणेन मर्त्यो जीवति कश्चनः। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ" (का० २।४।५) इति प्राणापानयोः सर्वजगच्चेष्टा-हेतुत्वम्प्रतिषिध्य परमात्मन एव तदिति स्पष्टमभिहितम्। किञ्चास्य वाक्यस्य पूर्वं "तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृत मुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत्" (का० २।६।१) इति मन्त्रे ब्रह्मपदश्रवणादत्र प्राणपदाभिहितः परमात्मैव। उत्तरत्रापि "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्यु-र्धावति पञ्चम." (का० २।६।३) इति श्रूयते। अस्य ब्रह्मणो भया-दग्न्यादयः स्वस्वव्यापारे नियमेनानुवर्तन्ते राज्ञो भयाद्भृत्यादयो यथा। तथा च कम्पनवाक्यपूर्वोत्तरवाक्ययोर्ब्रह्मपरत्वदर्शनात्तयो-र्मध्यगतस्यापि संदंशपतितन्यायेन ब्रह्मपरत्वमभ्युपेयम्। तस्मादे-तद्वाक्यं जगत्कारणोपास्यब्रह्मपरमिति सिद्धम् ॥१।३।३९॥

(*इति कम्पनाधिकरणम्* ।)

(*अथ ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।*)

ज्योतिर्दर्शनात् ।१।३।४०।

छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यायां श्रूयते—"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः" (छा० ८।१२।३) इत्यादि । तत्र संशय । किमत्र ज्योतिःशब्देन सूर्यादितेज उच्यत आहोस्विद्ब्रह्मेति। किं युक्तम्? सूर्यादितेज एव प्रसिद्धत्वात्। अत्राभिधीयते । परमात्मैव ज्योतिःशब्दाभिहित.। कुत: ? दर्शनात्। उपक्रमवाक्ये "एष आत्माऽपहतपाप्मा" (छा० ८।७।१) इति ब्रह्मण.श्रवणात् । प्रकृतवाक्येऽपि "परं ज्योति." इति ज्योतिष. परत्वं "उत्तमः पुरुषः" इति च पुरुषोत्तमत्वं परमात्मन एव सम्भवति । "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (का० २।५।१५) इति श्रुत्या सूर्यचन्द्रादीनामपि स एव प्रकाशक इति तस्यैव परज्योतिःस्वरूपत्वम् । एव "अथ यदत. परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते" (छा० ३।१३।७) "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृ० ६।४।१६) इत्येवमादिषु ब्रह्मण एव ज्योति.शब्दवाच्यत्वदर्शनादिति । तस्मादत्र ज्योतिःपदेनाऽभिधेयम्ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥१।३।४०॥

(*इति ज्योतिर्दर्शनाधिकरणम् ।*)

(*अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम्* ।)

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।१।३।४१।

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स *आत्मा" (छा० ८।१०।१)* इतिछान्दोग्ये समाम्नायते। तत्र सन्देह । किमत्राकाशपदाभिधेयो भूताकाश उत मुक्तात्मा, आहोस्वित्परमात्मेति। किं युक्तम् ? रूढ्या भूताकाश । नामरूपयो निर्वहणमपि तस्यावकाशदानेन सम्भवत्येव। मुक्तात्मा वा स्यात्। कुत ? "अश्व इव रोमाणि विधूय पाप चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृत कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" (छा० ८। १३।१) इति पूर्वं मुक्तात्मन एव प्रकृतत्वात्। तस्यैव च नामरूप विनिर्मुक्तस्य "ते यदन्तरा" इत्यभिहितत्वात्। पूर्वावस्थाया नाम रूपनिर्वहणमपि तस्य सम्भवत्येवेति प्राप्तेऽभिधीयते। आकाशो ऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादिति । आकाश परमात्मा । कुत ? "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" (छा० ८।१४।१) "ते यद न्तरा" "तद्ब्रह्म" इत्यादि निर्देशादस्याकाशस्य नामरूपभिन्नत्वार्थान्तरत्वपदेशात् । नामरूपभिन्नत्वेन ब्रह्मत्वव्यपदेशाच्च। नहि नामरूपान्त पातिनो भूताकाशस्य नामरूपार्थान्तरत्वमुपपद्यते। तथा "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" (बृ० १।४।७) "अनेन जीवेना त्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६।३।२) इत्यादिश्रुति निर्दिष्टस्य परमात्मनिष्ठनामरूपनिर्वोढत्वरूपस्य जगद्व्यापारस्य "जगद्व्यापारवर्ज" मिति मुक्ताना प्रतिषेधात्। बद्धानान्तु स्वय कर्मपरवशाना नामरूपभजमानत्वान्नान्नत्याकाशपदबोध्यत्व भूता काशस्य, नापि बद्धमुक्तोभयावस्थस्य प्रत्यगात्मनस्सम्भवति। अपि तु तन्निर्वोढत्व परमात्मन एव। यदुक्त "अश्व इव रोमाणी"ति श्रुत्यनन्तरमस्य वाक्यस्योक्तत्वादत्र मुक्तात्मैवाकाशपदग्राह्य इति।

तत्र, ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीति ब्रह्मलोकपदवाच्यपरब्रह्मणोऽनन्तर मेवाभिहितत्वात्। आदिशब्देन "तद्ब्रह्म" "तदमृत" मित्याद्युक्तो ब्रह्मत्वादिव्यपदेशो ज्ञेय इति ॥१।३।४१॥

"नन्वयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वमसि" "नेह नानास्ति किञ्चने" त्येवमादिभि श्रुतिभिर्जीवपरमात्मनोरैक्योपदेशान्नानात्वनिषेधेन द्वैतप्रतिषेधान्न जीवादर्थान्तरभूत परमात्मेत्याशङ्क्याह—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।१।३।४२।

व्यपदेशादित्येकदेशोऽनुवर्तते। सुषुप्त्युत्क्रान्त्यो प्रत्यगात्मनो भेदेनार्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशाद् भिन्न एव प्रत्यगात्मन परमात्मा। तथा चाम्नायते "कतम आत्मा योऽय विज्ञानमय प्राणेषु" (बृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य "तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेद नान्तरमेवमेवाय पुरुष प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेद नान्तरम्" (बृ० ४।३।२१) इत्यनेन वाक्येन सुषुप्तौ प्रत्यगात्मनो भेदेनार्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशात्। एवमुत्क्रान्तावपि श्रूयते "एवमेवाय शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढमुत्सर्जन्याति" (बृ० ४।३।३५) इति। अत्रापि प्रत्यगात्मनो भेदेनार्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशात्। तस्मात्प्रत्यगात्मनो भिन्नोऽर्थान्तरभूत एव परमात्मा ॥१।३।४२॥

पत्यादिशब्देभ्यः ।१।३।४३।

इत प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूत परमात्मा। यत उपसहारवाक्ये "सर्वस्य वशी सर्वस्येशान सर्वस्याधिपति स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल" (बृ० ४।४।२२) इति श्रूयते। एतेभ्य पत्यादिशब्देभ्य श्चाय परमात्मा प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूत एव। न हि सर्वाधि

पतित्वादयः परमात्मासाधारणधर्मा मुक्तावस्थेऽपि प्रत्यगात्मनि सम्भवन्ति। अतो मुक्तात्मनोऽप्यर्थान्तरभूतः परमात्माकाश इति सिद्धम् ॥ १।३।४३ ॥

इत्यर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमत्रुलोत्तसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकविन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे प्रथमाध्यायस्य
तृतीयः पादः ॥ ३ ॥



श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

(*अथानुमानिकाधिकरणम् ।*)

एवं त्रैपादिकेन ग्रन्थेनाखिलहेयप्रत्यनीकं जगज्जन्मादिकारणमचिद्वस्तुनः प्रधानाद्बद्धमुक्तादिरूपचेतनाच्च विलक्षणं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सत्यसङ्कल्पं समस्तकल्याणगुणात्मकं सर्वान्तरात्मभूतं निरङ्कुशैश्वर्यं ब्रह्मैवोपेयं सत्तदनुभवलक्षणविलक्षणमोक्षोपायतयाभिहितम् ।

तत्र जगत्कारणत्वस्य प्रधानेऽतिव्याप्तिमाशङ्क्य निरस्तमीक्षतेर्नाशब्दमित्यनेन । इदानीं स्वशब्दत्वमवलम्ब्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते कासुचिच्छाखासु तत्परशब्दानामपि दर्शनादित्याशङ्क्य तेषां शब्दानामन्यपरत्वप्रतिपादनार्थमस्य पादस्यारम्भः ।

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।१।४।१ ।

आनुमानिकमनुमानगम्यं प्रधानमप्येकेषां कठानां शाखायां—

"महतः परमव्यक्तम्" (का० १।३।११) इत्यव्यक्तशब्देनोच्यते । इति चेन्न । कुतः ? शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । पूर्ववाक्ये रथिरथसारथ्यादिरूपकत्वेन विन्यस्तेषु कल्पितेषु रथत्वेन विन्यस्तस्य कल्पितस्य शरीरस्यात्राव्यक्तशब्देन गृहीतेर्ग्रहणादित्यर्थः । शरीरमेव रूपकं रथरूपेण विन्यस्तं शरीररूपकविन्यस्तं तस्य गृहीतेर्ग्रहणादित्यर्थः । कथमव्यक्तशब्दस्य रथरूपकशरीरपरत्वमवगम्यत इत्याशङ्क्याह—दर्शयति च ज्ञापयति च ।

इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्पर ॥ का० १।३।१० ॥
महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुप पर ।
पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा सा परागति ॥का०।१।३।११॥
आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव च ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मन प्रग्रहमेव च । काठ० १।३।३ ।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनो युक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण । का० १।३।४ ।
यस्तुविज्ञानवान्भवति समनस्क सदा शुचि ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते । का० १।३।८ ।
विज्ञान सारथिर्यस्तु मन प्रग्रहवान्नर ।
सोऽध्वन पारमाप्नोति तद्विष्णो परम पदम् । का० १।३।९ ।

इति वचनैर्जितेन्द्रियस्य विष्णुपरमपदप्राप्तिमुक्त्वा तमेव जिते न्द्रियपुरुषप्राप्यभूतमिन्द्रियाद्यव्यक्तान्तेभ्य पर सर्वान्तरात्मभूत विष्णुपरमपदशब्दाभिहित पुरुष दर्शयति । "इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था" इत्यारभ्य "पुरुषान्न पर किञ्चिन् सा काष्टा सा परागति" रित्यन्तेन । आत्मानमित्यादरर्थे । भोक्तृत्वेन प्राधान्यादात्मनो रथित्व रथस्वामित्वमुक्त स्थूलशरीरस्य भोगस्थानतया गौणत्वेन रथसमत्वमुक्त विवेकाविवेकवृत्तिभ्या बुद्धिरेव शरीरेन्द्रियद्वारा भोक्तारमात्मानं सुखे दु खे वोपनयतीति बुद्धे सारथित्वम् । एव मनसा प्रग्रहेणाश्वरशनास्थानीयेन युक्तानि हयरूपाणीन्द्रियाणि तेष्विति तेषामिन्द्रियाणा गाचरान् शब्दादिविषयान्प्रतिधावन्ति तदन्ते मनोऽपि तान्धावति । "इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनोऽनु विधीयते । तदस्य हरतिप्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि" (गी २।६७) इति स्मृते । एवमजितेन्द्रियस्य समरण "यस्त्वविज्ञानवान्भवती" त्यभिधाय जितेन्द्रियस्य वैष्णवपदप्राप्तिर्विज्ञानसारथिर्यस्त्वित्यने नाभिहिता । तथाभूतस्य वैष्णवपदस्य सर्वोत्कृष्टत्वद्योतनायेन्द्रि

येभ्य परा ह्यर्था" इति च प्रोच्यते । तत्र यद्यप्यन्तरङ्गत्वादिन्द्रिया णामर्थापेक्षया परत्व तथापीन्द्रियाणां ग्रहत्व शब्दाद्यर्थानान्त्वति ग्रहत्व बृहदारण्यके याज्ञवल्क्यार्तभागसंवादेऽभिहितम् । तस्माद तिग्रहत्वेनार्थाना प्राधान्यमुच्यते "परा ह्यर्था" इति । मनस सर्वेन्द्रियार्थव्यवहारमूलत्वादर्थेभ्य परत्वम् । यतो निश्चयात्मक बुद्धिद्वारा विषया भोक्तुरुपकुर्वन्ति न तु सशयात्मकमनो द्वारा । तस्मान्मनस बुद्धे परत्वम् । तथा पूर्वं रथित्वेन भोक्तृत्वेन चोक्त स्यात्मनश्च भोगोपकरणभूताया बुद्धे परत्व भोगोपकरणस्य भोक्तृ पारतन्त्र्याद्बुद्ध्यादे स्वामित्वाच्चात्मन एव परत्वमुक्तम् । बुद्ध्या देरप्यक्षत्वादेवात्मनो महत्वमुक्तम् । मह्यते पूज्यते बुद्ध्यादिभि शब्दादिविषयप्रापणद्वारेति महानात्मा । नतु महत्परिमाणाश्रयत येति बोद्धयम् । एवमात्मनोऽपि भोगसम्पादनाय भोगायतनस्या व्यक्तपदाभिधेयस्य शरीरस्य प्रयोजनमस्त्येवेति ततोऽपि परतया रथरूपित शरीरमुक्तम् । ततोऽपि च सर्वान्तर्यामितया सर्वनिय न्तृत्वेन मुमुक्षूपायोपेयस्वरूपत्वेन चाध्वन पारभूतस्य परमपुरुषस्य परत्वम् । एवञ्च परमपुरुषसङ्कल्पायत्तस्थितिप्रवृत्तित्वात्समस्तस्य यथोक्तस्येन्द्रियाद्यव्यक्तान्तस्येति तदपेक्षयाऽकिञ्चित्करत्वम् । अत "सा काष्ठा सा परागति" रित्युक्तम् । परमात्मन एव परत्व श्रुत्यन्तरेऽप्यभिहितम् । "तम परे देव एकीभवन्ति" (सुबाल) इति । प्रलये तस्मिन्नेवपरस्मिँश्च उक्त । तथा सर्गादौ जग त्सिसृक्षया "तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेय" (छा० ६।२।३) इति सकल्प्य "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६।३।२) इति च पुन सकल्प्य सर्वस्य नामरूपे व्याकृत्य स एव सर्वान्पालयति संहरति चेत्यत सृष्टि स्थितिप्रलयान्तर्गतस्य सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगत स्वरूप- स्थितिप्रवृत्तीना परमपुरुषाधीनत्वावगमात् । तथा च मुमुक्षु सर्वेन्द्रि-

र्याणि संयम्य तमेवैकं स्वान्तर्यामिणं परमपुरुषं चिन्तयन्नध्वन पारं विष्णुपरमपदपदाभिधेयं प्राप्नोतीत्यभिधीयते "सोऽध्वन पारमाप्नोती" त्यन्तैर्वाक्यैरिति। दर्शयति च तदनन्तरम्—

"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि" (का १।३।१२) इति विशुद्धया सूक्ष्मया बुद्धया तस्य दृश्यत्वमुपदिश्य बुद्धेः सूक्ष्मत्वोपायभूतमिन्द्रियवशीकरणप्रकारमाह—

"यच्छेद्वाङ्मनसीप्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि"। का १।३।१३।

इत्यादिना। वाक्छब्दः द्वितीयाया सुपां सुलुगिति लुक्। मनसीति सप्तम्येकवचनम्। दीर्घश्छान्दस। तथा चायमर्थः। वाक् छब्दोपलक्षितानि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च मनसि नियच्छेत्। तन्मनो बुद्धौ। ज्ञानश्चात्र बुद्धिः। "बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि" इति पूर्वं बुद्धेः सारथित्वमुक्त्वा "विज्ञानसारथिर्यस्तु" इतिबुद्धेरेवविज्ञानपदनाक्तत्वात्। ज्ञानं बुद्धिर्कर्तरि महत्यात्मनि नियच्छेत् तदिति लिङ्गव्यत्ययेन, तत्कर्तारं महान्तमात्मानं शान्त आत्मनि परस्मिन्पुरुषे प्रकरणोपात्त एव नियच्छेत्। एवं भूतया सारथिरूपया सूक्ष्मया बुद्धया वैष्णवं परमपदं पुरुषमन्तर्यामिणं गोचरीकृत्य तम्प्राप्नुयादिति भावः। तथा चात्र कपिलकल्पितं प्रधानं न प्रतिपाद्यते पूर्वापरसन्दर्भविरुद्धत्वादिति ॥१।४।१॥

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।१।४।२।

अव्यक्तपदेन प्रत्यक्षतोऽतिव्यक्तस्य शरीरस्य कथं ग्रहणमित्यत आह सूक्ष्मन्त्विति। तुशब्दः शङ्कानिवर्तकः। स्थूलशरीरारम्भकभूतकारणं भूतसूक्ष्ममव्याकृतमेव शरीरावस्थमव्यक्तशब्देनाभिधीयते ॥१।४।२॥

तदधीनत्वादर्थवत् ।१।४।३।

नन्वव्याकृतस्यैव साङ्ख्यैः प्रधानत्वाङ्गीकारादव्यक्तशब्देन तस्यैव स्वीकारे प्रधानकारणत्वापत्तिः । "अव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चिदि"ति पुरुषायत्तमव्यक्तस्येति कथं सङ्गच्छेतेतिचेत् । नैवम् । "यस्य पृथिवी शरीरम्" "यस्य विज्ञानं शरीरम्" (बृ ३।७।३।२२) "यस्याव्यक्तं शरीरम्"(सुबा०७ ख)इत्येवमाद्याभिः श्रुतिभिरव्यक्तादेः सर्वचराचरस्य जगतः परमपुरुषपरमकारणान्तर्यामिशरीरत्वतन्नियम्यत्वाभिधानात् । न परपरिकल्पितस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वम् । "तदैक्षत बहुस्यामि"ति तदीक्षयैवाकाशादिजगदुत्पत्तेः श्रवणात्परमपुरुषशरीरत्वेन च तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तयः प्रधानादयस्तदिच्छानुसारेणैव तत्तत्कार्यं कुर्वन्तीति न प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वम् । अतस्तस्य स्वतन्त्रकारणत्वानुपपत्तेर्न साङ्ख्याभीष्टप्रधानस्वतन्त्रकारणत्ववादापत्तिः । परमपुरुषायत्ताव्यक्तात्तु जगदुत्पत्तिरिष्यत एव । तथा च श्रुतिस्मृतयः ।

"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" ।
मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत । गी० १४।३।
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा । गी० ७।४ ।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । गी० ७।६ ।
मत्तः परतरं नास्ति किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । गी० ७।७ ।

इत्यादिवचनैः परमात्मानमेवाभिन्ननिमित्तोपादनकारणत्वमाहुः ।

अव्यक्तादीनां परमपुरुषाधीनत्वादेव जगत्कारणत्वेनार्थवत्त्वमिति। १।४।३ ॥

इतश्च नानुमानिकं प्रधानमव्यक्तशब्देनाभिधीयते ।

ज्ञेयत्वावचनाच्च । १।४।४ ।

"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानाद्धि कैवल्यमिति साङ्ख्यमतम् । सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमन्तरेण न पुरुषस्य कैवल्यं शक्यं विज्ञातुमिति ज्ञेयत्वं तेषां सिद्ध्यति । अस्मिन् प्रकरणे तु ज्ञेयत्वमव्यक्तस्य नोक्तम् । अव्यक्तशब्दमात्रमत्र पठ्यते । तस्मान्न तान्त्रिकस्याव्यक्तस्येह ग्रहणमिति ॥ १।४।४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।१।४।५ ।

ननु कापिलमेवाव्यक्तमत्र ज्ञेयत्वेन श्रुतिर्वदति "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (का० १।३।१५) इति । अत्र शब्दादिहीनमेव प्रधानं निचाय्यतया निरूपितं तथाचास्यैव ज्ञेयत्वेन कथनमिति चेन्न । प्राज्ञः परमपुरुषो ह्येवात्र निचाय्यत्वेनाभिधीयते । कुतः ? प्रकरणात् । प्राज्ञस्य परमात्मन एवेदं प्रकरणम् "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" (का० १।३ ९) "पुरुषान्न परं किञ्चित्" (का० १।३।११) इति परमात्मनः परत्वमुपपाद्य "एष सर्वेषु भूतेषु गूढाऽत्मा न प्रकाशते" (का० १। ३।१२) इति पूर्वार्धेन दुर्ज्ञेयत्वं विनिर्दिश्य "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि" रित्युत्तरार्धेन प्रकृतस्य तस्यैव सूक्ष्मधीवेद्यत्वं प्रतिपादितम् । परमात्मनोऽपि "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" (मु० १।६) इत्यन्यत्रादृश्यत्वाद्योधर्मा अभीक्ष्णोपासनानिर्मलीकृतान्तःकरणेन दृश्यतया प्रतिपादिता इति सर्वं समञ्जसम्। १।४।५ ॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च । १।४।६ ।

इतोऽपि न सांख्यतन्त्राभिमतं प्रधानमत्राव्यक्तशब्देन प्रतिपाद्यते । यस्मादत्र प्रकरणे पितृसुमनस्कत्वोपायोपेयानां त्रयाणामेवोपन्यास ज्ञेयत्वेन श्रूयते तद्विषयकः प्रश्नश्च । न प्रधानविषयकः । अतो न प्रधानमव्यक्तशब्दवाच्यं सांख्यमतसिद्धम् ।

तत्र नचिकेता मृत्योः प्राप्तव्ये वरत्रये प्रथमवरेणात्मनः पुरुषार्थयोग्यतां पितुः सुमनस्कत्वादिरूपां द्वितीयेन मोक्षसाधनीभूतामग्निविद्यां तृतीयेन च मोक्षस्वरूपमुद्दिश्योपेयोपायस्वरूपं ययाचे । तथा हि—नचिकेता नामर्षिकुमारोऽतिथिरूपेणानश्नन्नेव तिस्रो रात्रीर्यावन्मृत्युगृहेऽवात्सीत् । ततस्तुष्टो मृत्युस्तमाह—"त्रीन्वरान् वृणीष्वे" ति । ततः "शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो । त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे" (का० १।१।१०) इति पितु. परितोषणं प्रथमं वृत्त्वा द्वितीयेन वरेण मोक्षसाधनभूतां नाचिकेताग्निविद्यां वव्रे । "सत्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण" (का० १।१।१३) इति । अत्र "स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं जरया बिभेति" (का० १।१।१२) इति स्वर्गस्थस्य भयजराशनापिपासरहितत्वविगतशोकत्वादिश्रवणात् स्वर्गशब्देन परमपुरुषार्थो मोक्षोऽभिधीयते । "अमृतत्वं भजन्त" इति तत्र स्थितस्यामृतत्वश्रवणाच्च । अस्यैव च प्रतिवचनम् "त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू" (का० १।१।१७) इत्यादिना कृतम् । "शान्तिमत्यन्तमेति" त्यन्व शान्तिश्च मोक्षावस्थायामेवेति निश्चयः ।

एवं तृतीयेण वरेण मोक्षस्वरूपावगमपूर्वकमुपेयस्वरूपमुपायस्वरूपं तद्वटकोपासनास्वरूपञ्च वृतम् "येयं प्रेते विचिकित्सा मनु-

प्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वरा णामेष वरस्तृतीयः" (का० १।१।२०) इति मोक्षस्वरूपे पृष्टे तज्जि ज्ञासाया तस्य दार्ढ्यमवगत्यात एव तम्प्रशस्योपदिदेश। "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" (का० १।२।१२) इत्येव नचि- केता धीर उपासक आत्मानमधिकृत्य वर्तते यो योग स अध्यात्म- योगः परमात्मैकचिन्तनरूपस्तदधिगमेन तल्लाभेनेत्युपासनमुक्त तेन देवमुपास्य प्राप्य मत्वा हर्षशोकौ जहाति हर्षशोकरहितत्वेन मुक्तो भवतीत्यर्थः। तदेव नचिकेता उपास्यमुपेयं देवं तत्प्राप्त्युपायं तदुपासनञ्च सामान्येन श्रुत्वा विशेषतस्तज्ज्ञानाय भूयः पृष्टा "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद" (का० १।२।१४) इति। एवं भूतभवि ष्यत्साध्यसाधनादिविलक्षणे पृष्टे प्राप्युपायस्वरूपमेव पुनः कथया मास "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" त्यारभ्य "एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" (का० १।२।१७) इत्यन्तेन श्लोकद्वयेन प्रणवोपा सनस्य प्राप्त्युपायत्वात्तत्प्रशस्यानन्तरमुपासकस्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपम् "न जायते म्रियते वा विपश्चिदि" त्यादि श्लोकद्वयेनोपदिष्टम्। इदञ्च श्लोकद्वयं जीवस्वरूपपरमेव "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इति तस्य हन्यमानप्राकृतशरीरसम्बन्धित्वनिर्देशात्। 'उभौ तौ न विजानीत' इति तस्याज्ञत्वाच्चेश्च। अनन्तरं "अणोरणीयान्महतो महीयानि" त्यारभ्य "क इत्था वेद यत्र सः" इत्यन्तेन प्राप्यस्य परस्य ब्रह्मण परमपुरुषस्य स्वरूपमुपदिशन् तदनन्यभक्त्यैवेदृशं स्वरूपं मुसा- ध्यमिति तस्या अनन्योपायताप्रदर्शनार्थं मध्य एवोपासनापरपर्या यभक्ते स्वरूपमाह। ततश्च "आत्मानं रथिनं विद्धी" त्यारभ्य "दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ती" त्यन्तेनोपासनप्रकारमभिदधत् "निचाय्य त मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" (का० १।३।१५) इत्यन्तवाक्येन फलनिर्देश

पूर्वकमुपसञ्जहार । एवञ्चास्मिन् प्रकरणे त्रयाणामेव ज्ञेयत्वेनो पन्यास प्रश्नश्चोपलभ्यते । न ह्यत्र साङ्ख्यतन्त्राभिमतस्याव्यक्तस्य ग्रहणम् ॥१।४।६॥

महद्वच्च ॥१।४।७॥

अत्र साङ्ख्यसिद्ध बुद्धितत्त्वम्पृथक्कृत्य ततोप्यात्मन परत्त्वमभि हितम् "बुद्धेरात्मा महान्पर" (का० १।३।१०) इत्यनेन तथा "ज्ञानमात्मनि महति" (का० १।३।१३) इत्यनेनापि ज्ञानपदा भिधेयबुद्धेरात्मनो महत पृथङ्निर्देश । तथा चेह श्रुतस्य महच्छ ब्दस्यात्मशब्दसामानाधिकरण्यादात्मपरत्वमेवेष्टव्यम् । न तान्त्रिक महत्तत्त्वपरम् । तथाऽव्यक्तमपि नाऽप्रसङ्गिकप्रधानपरमपि तु रथरूप कशरीरपरमेवेति नानुमानिकप्रधानस्य जगत्कारणत्व किन्तु परम पुरुषस्यैव तदिति सिद्धम् ॥१।४।७॥

इत्यानुमानिकाधिकरणम् । १ ।

(*अथ चमसाधिकरणम् ।*)

चमसवदविशेषात् ॥१।४।८॥

श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—"अजामेका लोहितशुक्लकृष्णाबह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा । अजोह्येका जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य" (श्वे० ४।५) इति । तत्र सशय । किमत्राप्य जाशब्देन साङ्ख्योक्त स्वातन्त्र्येण प्रधानमुच्यत आहोस्विद् ब्रह्मा त्मकमिति । किं युक्तम् ? साङ्ख्याभिमत केवल प्रधानम् । कुत ? अजामिति तस्याजाततयानित्यत्वेनान्यकार्यत्वाऽनुपपत्ते । लोहित शुक्लकृष्णामिति रज सत्वतमोगुणात्मकस्य तस्य सरूपा समानरूपा

११

रज सत्त्वतमोरूपा प्रजा सृजमानामितिरजातन्त्र्येण स्वसमानरूप सर्वप्रजास्रष्टृत्वश्रवणाच्चेत्येव प्राप्तेऽभिधीयते ।

चमसवदविशेषादिति । यथा "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न" (बृ० ४।२।३) इति मन्त्रोक्तश्चमसशब्द कस्य पदार्थविशेषस्य वाचक इति न निश्चयो भवति । यथा "इद तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न" (बृ० ४।२।३) इति वाक्यशेषाच्चमसशब्द शिरो वाचक इति निर्णयो भवति । तथा न जायत इत्यजेति यौगिकत्वेनाजेतिसामान्यशब्द साख्याभिमत प्रधान वदति ब्रह्मात्मिकाम्प्रकृतिं वेति न निश्चीयते । परन्तु "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १।३) इत्युपक्रमवाक्यात् "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्ध" (श्वे० ४।९) इत्यादिवाक्यशेषाच्चाजाशब्देन ब्रह्मशक्तिभूता ब्रह्मात्मिका प्रकृतिरभिधीयते । इत्येतच्च प्रकरणादिभ्य एवावगम्यते । तस्मादत्र मन्त्रेऽजाशब्देन न साख्यमतसिद्ध प्रधानमभिधीयते ॥ १।४।८ ॥

परमात्मशरीरभूता प्रकृतिरेव प्रकृतेऽजाशब्देन गृह्यत इति हेत्वन्तरेणापि द्रढयति—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥१।४।९॥

तु शब्दोऽवधारणार्थक । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा० ६।२।१) इत्यत्र सच्छब्दवाच्य ज्योति स्वप्रकाश ब्रह्मैव "ज्योतिषां ज्योति" (बृ० ६।४।१६) "अथ यदत परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" (छा० ३।१३।७) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्ध । तदेव चोपक्रम आदिकारण यस्या लोहितशुक्लकृष्णरूपाया अजाया सा ज्योतिरुपक्रमा ब्रह्मशक्तिभूता "देवात्मशक्ति"मिति श्रुतेर्ब्रह्मकारणिका लोहितादिरूपैवेहाजा निर्द्धारणीया न साख्याभिमत स्वतन्त्र प्रधानम् । तथा ह्यधीयत एके । हि यस्मादेके छन्दोगा यथाऽजाया लोहितशुक्लकृष्णरूपत्वादिक प्रकृते "अजामेकामि"ति मन्त्रेऽभिहितं

तथा लोहितादिरूपत्वादिक तस्या ब्रह्मकारणिकाया मायाया अधी यन्ते । मायिना सदाख्येन ब्रह्मणा च तस्या सकाशादेव सृष्टिर्वित न्यत इत्यपि । तथा हि–"तदैक्षत बहु स्याम्प्रजायेय" इत्युपक्रम्य तेजोऽबन्नाना कारणभूतायास्तस्या लोहितादिरूपाया भौतिककार्य प्रकृतिभूताया स्फुटमधीयते । "यदग्ने रोहित रूप तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्ल तदपा यत्कृष्ण तदन्नस्य" (छा० ६।४ १) इत्यत्र कार्येषु लोहितादिरूपावाप्ति कारणावस्थायास्तथात्व एवेति ब्रह्मात्मिका शक्तिरेवात्र प्रतिपाद्यते । तथा प्रकृतेऽपि "किं कारण ब्रह्म" (श्वे० १।१) इत्युपक्रम्य "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (श्वे० १।३) इति जगदुत्पत्तौ किमुपकरणवद्ब्रह्मेति विमृश्य ते ब्रह्मवादिनो ध्यानाख्येन योगेनानुगता परमात्मानमनु प्रविष्टास्सन्तस्तस्यैव देवस्यात्मभूतामैक्येन स्थिता मायाशक्तिं सत्व रजस्तमोगुणत्रयवर्ती परमात्मनो जगन्निर्माणे सहकारिणीमपश्य न्निति परमात्मशक्तेरजाशब्दाभिहिताया जगत्कारणत्वेनोक्ताया परमात्मशक्तित्वेन तदात्मकत्वं तदधीनतत्स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकत्वञ्च निर्दिश्य वाक्यशेषे "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्ध" (श्वे० ४।९) "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायि नन्तु महेश्वरम्" (श्वे० ४।१०) इति परमात्मनो मायित्वेन माया धीशत्वावगमात् । एवञ्च तस्या एव मायाया प्रकृतिशब्दाभिहिताया परमात्मशक्ते 'अजामेकामि" ति मन्त्रेणाभिधानात् । न हि पर तन्त्रसिद्ध केवल प्रधानमत्र जगत्कारणतया प्रतिपाद्यते ॥१ ४।९॥

नन्वजाया ज्योतिरुपक्रमात्वे ब्रह्मकार्यत्वात्तस्या ह्यजात्वमेव न स्यादित्याह—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१।४।१०॥

चशब्द शङ्कापरिहारार्थं । परमात्मायत्तप्रकृतेर्ज्योतिरुपक्रमा त्वेऽप्यजात्वमस्त्येव । कुत ? कल्पनोपदेशात् । कल्पनस्य सर्ग

स्योपदेशात्। "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" (शु० य०) "सर्गादौ भगवान् धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादौ कल्पयते सृष्टावपि प्रयोगदर्शनात्। सर्ग सृष्टि। तथाच "अस्मान्मायी सृजते विश्व मेतत्" (श्वे० ४।९) इत्यादिषु जगत्सर्ग उपदिश्यते। एतदुक्तम्भ वति। परमपुरुषाधिष्ठिताया प्रकृते कार्यकारणरूपेणावस्थाद्वय वेदान्तेषूपदिश्यते। तत्र स्वाविभक्तनामरूपाद्स्माद्व्यात्कृतात्का रणावस्थात्कारणान्मायी परमेश्वरो विश्वमुत्पादयति। तदनन्तर मुपचितसत्वरजस्तमोगुणतया सैवाव्यक्तशब्दवाच्या कार्यावस्था म्प्राप्य विभक्तनामरूपतया तेजोबन्नादिलक्षणपरिणतिमवाप्य लोहि तशुक्लकृष्णाकारा सम्पद्यते। एवञ्चास्या भगवदधिष्ठितप्रकृते कार णावस्थाया अजात्वेन व्यपदेश कार्यावस्थायाश्च ज्योतिरुपक्रमत्वे नेति न कश्चिद्विरोध। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—मध्वादिवदिति— यथा "असौ वा आदित्योदेव मधु" (छा ३।१।१) "इत्यादावादि त्याद् कारणावस्थाया मध्वादिव्यपदेशानर्हात्यन्तसूक्ष्मरूपेण स्थितस्य कार्यावस्थाया वस्वादिभोग्यरसाधारत्वेन मधुत्व कार्य त्वञ्च न विरोधावहम्। एवमेकस्या एव प्रकृतेरवस्थाभेदादविरोध। तस्मादस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मकारणिकैवाजाभिधीयते न तन्त्रसिद्धेति सिद्धम् ॥१।४।१०॥

इति चमसाधिकरणम्। २।

(अथ सख्योपसंग्रहाधिकरणम्।)

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥१।४।११॥

बृहदारण्यके "तद्देवा ज्योतिषा ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इत्यस्यानन्तर श्रूयते "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित।

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्" (बृ० ४।४।१७) "प्राणस्य प्राणम्" (बृ० ४।४।१८) इति। तत्र संशयः। किमत्र पञ्च पञ्चजना इति साङ्ख्यप्रसिद्धानि पञ्चविंशतितत्त्वानि ग्राह्याणि, आहोस्विद्वाक्यशेषे श्रुता वेदान्ताभिमता प्राणादय इति। किं युक्तम्? तान्त्रिकाणि पञ्चविंशतितत्त्वानीति। कुतः? पञ्चानां पञ्चेति पञ्चविंशतिः। पञ्च पञ्च च ते जनाश्चेति पञ्चपञ्चजना इति पञ्चपञ्चजनशब्दस्य पञ्चविंशतितत्त्वबोधकत्वोपपत्तेः। कापिलाश्च "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" (साङ्ख्यका० ३) इति तत्त्वानां परिगणनं स्वरूपञ्चाहुः। तत्राकार्यत्वे सति कारणत्वं प्रकृतित्वम्। कार्यत्वे सति कारणत्वं प्रकृतिविकृतित्वम्। प्रकृतिविकृत्योः साक्षात्कार्यत्वं विकृतित्वम्। अकार्यत्वे सत्यकारणत्वञ्च। पुरुषत्वमिति तल्लक्षणानि विनिर्दिश्य मूलप्रकृतिरेका प्रकृतिविकृतयः सप्त। कारिकायां तु शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च तथा च विकृतय एव षोडश पुरुषश्चैक इति विभज्य पञ्चविंशतितत्त्वान्यभिदधुः। ततश्चोक्तरीत्या साङ्ख्योक्तत्त्वानि ग्राह्याणीति प्राप्तेऽभिधीयते। न सङ्ख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्चेति।

अत्र पञ्च पञ्चजना इत्यनेन साङ्ख्यतन्त्रानुसारेण पञ्चविंशतिसङ्ख्योपसंग्रहादपि न तत्तन्त्राभिमततत्त्वानि प्रतीयन्त अपि तु प्राणादय एव। कुतः? नानाभावात्। कापिलतन्त्राभिमतेभ्यस्तत्त्वेभ्य एषां पञ्चविशेषितपञ्चजनानां पृथग्भावात्। तथा हि—'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेवम्मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्" इत्यत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः प्रतिष्ठिता इति यच्छब्दावगतब्रह्माधारतयोक्तानां तेषां ब्रह्मात्मकत्वं निश्चीयते। "तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मे"ति तच्छब्दपरामर्शेन यच्छब्दावगतं ब्रह्मैव। साङ्ख्यमते तेषां ब्रह्मा

धारत्वाऽनङ्गीकारेण तदभिमततत्त्वानुपपत्तेः । एवं सर्वाधारब्रह्माकाशयोः पञ्चविंशतितत्त्वभिन्नत्वेनाभिहितयोः पञ्चविंशतिसंख्यातिरेकाच्च न तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतिपादकत्वं तेषाम् ।

एतदुक्तम्भवति । ब्रह्माधारतयोक्तानां पञ्चानां पञ्चजनानां ब्रह्माधेयत्वेन तदाश्रितत्वात्तत्परतन्त्राणां प्रकृत्यादीनां साङ्ख्यैरनङ्गीकारेणापसिद्धान्तात् । पुरुषशब्दाभिहितस्यात्मन आकाशस्य च पृथक्कथनवैयर्थ्याच्च । तयोरपि पञ्चविंशतितत्त्वान्तर्गतत्वेनाभ्युपगमात् । नास्मिन् मन्त्रे साङ्ख्यतत्त्वप्रतिपादनमपि तूत्तरवाक्ये श्रूयमाणप्राणादीनामेव । यस्मिन्नित्युक्ते ब्रह्मण्यात्मनि प्राणादीनां सम्बन्धस्य सम्भवात् । "प्राणस्य प्राणम्" इत्यादि वाक्ये परमात्मनः प्राणादिनियामकत्वाभिधानात् प्राणेश्वरयोर्नियम्यनियामकभावाद्ब्रह्माधारत्वं तेषां सुतरां सम्पद्यत इति ।

न संख्योपसंग्रहादपीत्यपिशब्देन वस्तुतोऽत्र पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिरेव नास्तीतिसूचितस्यार्थस्य स्फुटीकरणार्थं हेतुमाह—नानाभावादिति । पञ्च पञ्चजनशब्दस्य सामान्यशब्दत्वेन नानाभावादनेकार्थवाचकत्वात् । सामान्यशब्दानां तु प्रकरणादिना विशेषार्थस्य निश्चयात् । अत्र तु परमात्मप्रकरणेन परमात्मनः पञ्चपञ्चजनानां प्राणादीनां चाधारत्वनियामकत्वावगमेन पञ्चपञ्चजनशब्दस्य परमात्माधेयनियम्यवस्तुपरत्वावगमात् । "सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्" इति जैमिनिसूत्रेण सन्दिग्धपदार्थनिर्णयस्य वाक्यशेषाधीनत्वोक्तेः । वाक्यशेषे परमात्माधेयनियम्यानां प्राणादीनां दर्शनात्तेषामेव पञ्चपञ्चजनपदवाच्यत्वनिश्चयात् कथंचिदपि तच्छब्दस्य सांख्योक्तपञ्चविंशतितत्त्वार्थकत्वमुपपद्यते । पञ्चविंशतितत्त्ववाधकहेत्वन्तरमाह—अतिरेकाच्चेति । यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित इति सांख्याङ्गीकृतेभ्यः पञ्चविंशतितत्त्वेभ्य आकाश [illegible] स्वीकारे साख्यानामपसि

द्धान्तापत्ते सप्तविंशतितत्त्वानङ्गीकारे श्रुतिविरोधापत्तेश्चेत्युभयत पाशारज्जुग्रस्तत्वान्न कथमपि साङ्ख्या अत्र पञ्चपञ्चजनशब्दस्य स्वाभिमततत्त्वपरत्वोपपादने शक्ता "दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम्" इति सूत्रेण पञ्चजन इत्यत्र संज्ञाविषय समास ॥१।४।११॥

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१।४।१२॥

पञ्च पञ्चजना इत्यत्र समाहारविषय समासो नोपपद्यते लिङ्ग-व्यत्यय दोषग्रस्तत्वादपितु "दिक्सङ्ख्ये संज्ञायामिति" संज्ञाविषयक एव समासस्तेन पञ्चपञ्चजना इत्यस्य पञ्चजनसंज्ञका पञ्च इत्यर्थ उपपद्यते। ते के पञ्चजनसंज्ञिता पञ्चत्यपेक्षायामाह प्राणादय इति। पञ्चजनसंज्ञिता पञ्च पदार्था प्राणादय एव। कुत इदमव गम्यते ? वाक्यशेषात्। सदिग्धार्थनिर्णयस्य वाक्यशेषाधीनत्वात्। सच वाक्यशेषस्तावत्। प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुतश्रोत्रस्य श्रोत्रम् (बृ० ४।४।१८) इति वाक्यशेषे ब्रह्माधारतया ब्रह्मानयम्य तया श्रुता प्राणादय पञ्च पञ्चजनशब्दस्यार्थो ज्ञेय। नान्य। माध्यन्दिनशाखाया पञ्च पञ्चजनमन्त्रा नन्तरमन्त्रे 'प्राणस्य प्राण मुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्न मनसो ये मनो विदु" (बृ० ४।४।१८) इति वाक्यशेषे श्रूयमाणानि प्राणचक्षु श्रोत्रान्नमना सीतीमानि पञ्चैव पञ्चजनशब्देनोक्तानि। तत्राद्यतऽन्नेनत्यत्रमि-त्यन्नशब्देन रसनेन्द्रियमुच्यते ॥ १।४।१२ ॥

ननु काण्वानां माध्यन्दिनाना च शाखाया "यस्मिन्पञ्च पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठित इत्यय मन्त्र समान श्रूयते। काण्वाना वाक्यशेषे त्वन्नस्य पाठो न श्रूयतेऽतस्तेषा पक्षे चतुर्णां प्राणादीना पञ्चजनशब्दवाच्यत्व नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१।४।१३॥

एकेषा काण्वाना वाक्यशेषेऽसत्यन्ने शब्दे वाक्योपक्रमगतेन

"तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इति ज्योतिषा पञ्च सङ्ख्या पूरणीयेति । तत्र वाय्वात्मकप्राणवाचकेन प्राणशब्देन वायुसम्बन्धिस्पर्शेन्द्रियमन्नशब्दाभिहितपृथिवीसम्बन्धित्वाद् घ्राण स्यान्नशब्देन घ्राणेन्द्रियं गृह्यते । तन्त्रेण तु रसनेन्द्रियमद्यतेऽनेनेत्यन्नमित्यन्नशब्देन रसनेन्द्रियग्राह्यत्वोपपत्तेः । तदेव स्पर्शेन्द्रियस्य घ्राणरसनयोरन्यतरस्य च प्राणान्नयोरन्तर्गतत्वग्रहणेन प्राणचक्षुश्श्रोत्रमनांसीमानि वाक्यशेषे श्रूयमाणानि पञ्चजनसंज्ञितानि पञ्च ज्ञेयानीति 'प्राणादयो वाक्यशेषादि'ति सूत्रेण दृढीकृतत्वादत्र तन्त्रसिद्धपञ्चविंशतितत्त्वप्रसङ्गाभावेन न सांख्योक्ततत्त्ववचनावकाश इति सिद्धम् ॥ १।४।१३ ॥

इति संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ।

(अथ कारणत्वाधिकरणम् ।)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१।४।१४॥

अत्र कारणविषयाणां वेदान्तवाक्यानां प्रधानपरत्वनिरासेन ब्रह्मणि समन्वयप्रदर्शनद्वारैकस्यैव ब्रह्मणः सर्वजगन्मूलकारणत्वमुपपादितम् । तन्न सम्भवति । कुतः ? तेषां वेदान्तवाक्यानामनेकवस्तुकारणत्वबोधकत्वेन परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनपरतया ब्रह्मणि समन्वयाऽनुपपत्त्यैकस्यैव ब्रह्मणो जगन्मूलकारणत्वानुपपत्तेः । तथा हि—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः" (तै० २।१) इत्यत्रात्मनो जगत्सृष्ट्यादिकारणत्वं श्रूयते । "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६।२।३) इत्यत्र सच्छब्दवाच्यस्य जगत्कारणत्वं श्रूयते । "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" (बृ० १।४।११) इत्यत्र

ब्रह्मण कारणत्व श्रूयते। "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै० २।७) इत्यत्रासतः कारणत्वं श्रूयते। एव क्वचिदाकाशाज्जगत सृष्टिरभिधीयते क्वचित्प्राणात्। तथा "तद्धेद तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" (बृ० १।४।७) इत्यत्र चाव्याकृतस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्व श्रूयते। अव्याकृतमव्यक्तमेव। नामरूपाभ्या न व्याक्रियते न व्यज्यत इत्यव्याकृतम्। तस्मिँश्च "तद्धेद तर्ह्यव्याकृतमासीदि" ति जगत प्रलयमभिधाय 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इति तस्मादेव सृष्टिरभिधीयते। इत्येव तत्तत्कारणवाक्यगतस्य तस्य तस्य च शब्दस्य स्वस्ववाच्यजगत्कारणत्वप्रतिपादकस्य स्वस्ववाच्ये समन्वयादेकस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वेषा कारणवाक्यगताना शब्दाना समन्वयस्यासम्भवान्न ब्रह्मणो मूलकारणत्वमुपपद्यत इति प्राप्त आह कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेरिति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्त" इत्यारभ्य तद्ब्रह्मेत्येवमादिभि श्रुतिभिर्जगत्कारणत्वेन प्रतिपादितस्य ब्रह्मणो जगत्कारणपरेष्वाकाशादिवाक्येषु सृष्ट्याद्यसाधारणलिङ्गदर्शनेनाकाशप्राणादिशब्दाना ब्रह्मपरत्वं निश्चित्याकाशप्राणादिशब्दैस्तस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेन व्यपदिष्टत्ववदात्मसदादिकारणपरवाक्येष्वपि जगत्सृष्ट्यादिब्रह्मासाधारणलिङ्गदर्शनात्तद्गतात्मसदादिशब्दानामपि ब्रह्मपरत्वनिश्चयेन तेन तेन च शब्देन जगत्कारणत्वेन ब्रह्मणो व्यपदिष्टत्वोक्तेः। ब्रह्मणो व्यपदेशादित्यर्थ। तथा च सर्वेषा कारणपरशब्दाना ब्रह्मणि समन्वये ब्रह्मण एवादिकारणत्वमुपपद्यत इति तत्त्वम्।

एतदुक्तम्भवति। सर्वेषां कारणवाक्यानामेकवाक्यतासत्त्वात्कारणवाक्यगतकारणवाचकशब्दाना सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनैकस्मिन्परमकारणे पर्य्यवसानत्वस्योचितत्वात्सर्वेऽपि कारणवाक्यगता. सदात्माकाशप्राणादिशब्दा एकस्मिन्नादिकारणे ब्रह्मणि पर्यवस्य तस्यैव जगत्सृष्ट्यादि कारणत्वमभिदधते। तथा च सर्वेषां सदात्माकाश-

प्राणादिशब्दानां परस्मिन्ब्रह्मण्येव समन्वयस्य सत्त्वादादिकारणत्व मेकस्यैव ब्रह्मण इति निर्णयः ।

यद्वा "आकाशादिवाक्येषु सृष्ट्यादिकारणत्वेन व्यपदिष्टोक्ते आकाशादिवाक्यश्रुतसृष्ट्यादिब्रह्मासाधारणलिङ्गबलेन यथाकाशादय शब्दा ब्रह्मपरत्वेन नीतास्तथा सदादिवाक्येष्वपि सृष्ट्यादिब्रह्मासाधारणलिङ्गदर्शनात्तद्बलेन सदादिशब्दानामपि ब्रह्मपरत्वेन नयनात्सर्वेषां कारणवाक्यगतानां ब्रह्मणि समन्वयत्वोपपत्त्या तस्यैव सदादिशब्दवाच्यत्वनिष्पत्ते । तथा चैकस्य ब्रह्मण एव निखिल कारणवाक्यप्रतिपाद्यत्वेन सर्वजगदादिकारणत्व तस्य सम्यगुपपद्यते। तथा च श्रुति ।"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (का० २।१।१५) इति । "तद्विष्णो परम पदम्" (का० १।३।९) इति च ।

एव '*मननात्त्राणनान्मन्त्र सर्ववाच्यस्य वाचक*" (रामता० १।१२) इति श्रुतिरपि श्रीरामाख्यस्य परस्य ब्रह्मण सर्वशब्दवाच्यत्वाभिधानेन तस्मिन्सर्वेषां शब्दानां समन्वयत्व ज्ञापयति । तथैव "विश्वरूपस्य ते राम विश्वे शब्दा हि वाचका । तथापि रामनामेद सर्वेषां बीजमक्षयम् ।" इति स्मृतिरपि श्रीरामस्यैव सर्वशब्दवाच्यत्वमभिधत्ते । किञ्च रामनाम्न· सर्वशब्दकारणत्वाभिधानेन तद्वाच्यस्य श्रीरामाख्यस्य ब्रह्मणोऽन्यनिखिलशब्दवाच्यानां सर्वेषां बीजत्वोपपादनद्वारा तस्य सर्वशब्दवाच्यादिकारणत्व बोधितम् ।

"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासी" दित्यादिकारणवाक्यप्रतिपाद्यत्व ब्रह्मण कथमुपपद्यत इति चेदित्थम् । "अव्यक्तात्पुरुष पर । पुरुषान्न पर किञ्चित् सा काष्ठा सा परागति" इति । तथा "महानव्यक्ते लीयते, अक्षर तमसि लीयते, तम परे देव एकी भवन्ति" (सुबा०) इत्येवमादिषु पुरुषस्याव्यक्तात्परत्वश्रवणात् । *महदव्यक्ताक्षरतमसां* परे देवे परस्मिन्ब्रह्मणि लयत्वाभिधानात्प्रलयावसाने च तत एव तदुत्पत्तावस्यैव ब्रह्मणस्तदुत्पादकत्वोपपत्ते । एव "सत्य ज्ञानमनन्त

ब्रह्म यो वेद निहित गुहायाम्" (तै० २।१) इत्युपक्रम्य "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत "(तै० २।१) इत्येवमादिषु तस्यैव ब्रह्मण सर्वस्रष्टृत्वश्रवणात्। अत एव "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) इत्यादि श्रुतिभि स्वोत्पन्नस्वशेषभूताव्यक्तादिद्वारा ब्रह्मणश्चराचरजगदुत्पादकत्वमभिधीयते।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भव सर्वभूताना ततो भवति भारत॥ गी०॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय सम्भवन्ति या।
तासा ब्रह्म महद्योनि रहं बीजप्रद पिता॥ गी०॥

इत्यादि स्मृतयोऽपि ब्रह्मणोऽव्यक्ताद्युत्पादकत्वेन तद्द्वारा चराचरजगदुत्पादकत्वमित्यव्यक्तादिकारणतयाऽव्यक्तादिपरवाक्यप्रतिपाद्यत्व परब्रह्मण एवेति ॥१।४।१४॥

तर्ह्यसदादिशब्दाना कथ ब्रह्मण्यन्वय इत्याशङ्कायामाह—

समाकर्षात् ॥१।४।१५॥

"असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्" (तै० २।६) इत्यसद्वाद विनिन्द्य "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदु" (तै० २।६) इत्यङ्गीकृत सद्वादमुपवर्ण्य "सोकामयत बहु स्या प्रजायेय" "इद सर्वमसृजत। यदिद किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्" (तै० २।६) इति सतो ब्रह्मण सकाशादेव सृष्टिरभिहिता। "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै० २।७) इत्यत्रापि सृष्टिकर्तुरसत्पदवाच्यस्य ब्रह्मण एव समाकर्षादिति। कुत ? उक्त श्लोकस्यानन्तर 'तदात्मान स्वयमकुरुते" त्यारभ्य "सैषाऽऽनन्दस्य मीमासा भवति" (तै० २।८) इत्युत्तरस्थेन परमात्मपरानन्दशब्देन सत एव समाकर्षात्। तथा च पूर्वोत्तरपरमात्मपर

वाक्यानां मध्ये पतितस्य "असद्वा इदमग्र आसी" दिति श्लोकस्य सदृशन्यायेन परमात्मपरत्वमुपपद्यते ॥१।४।१६॥

इति कारणत्वाधिकरणम् ।

(अथ जगद्वाचित्वाधिकरणम् ।)

जगद्वाचित्वात् ॥१।४।१६॥

कौषीतकिब्राह्मणे समाम्नायते-"यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्य" (कौ० ब्रा० ४।१८।) इति । अत्र संशयः । किं वेदितव्यत्वेनोपदिष्टः साङ्ख्यतन्त्रसिद्धः पुरुषः प्रधानमाहोस्वित्परमात्मेति । किं युक्तम् ? पुरुषः । यस्य वैतत्कर्म्मेति पुण्यपापरूपकर्मकर्तृत्वस्य पुरुषनिष्ठत्वात् । कर्मपदस्य जगद्वाचित्व पक्षे प्रधानं वेदितव्यत्वेनोक्तं तस्य जगत्कारणत्वादिति प्राप्त आह जगद्वाचित्वादिति । कर्मपदस्य जगद्वाचित्वात् । साङ्ख्यैश्च पुरुषस्य कार्यकारणत्वास्वीकारादस्मिन् वाक्ये यस्यैतत्कर्मेतिवेदितव्यस्य जगत्कर्तृत्वेन तत्कारणत्वाभिधानादस्य वाक्यस्य पुरुषस्य कार्यं कारणत्वानभ्युपगच्छत्साङ्ख्यतन्त्रविरोधित्वान्न तत्तन्त्राभिमतपुरुषस्यात्र वेदितव्यत्वं निष्पद्यते । न च प्रधानस्यापि । कुतः ? अत्र यः कर्ता स वेदितव्य इत्युभयत्र पुल्लिङ्गस्यदर्शनात् प्रधानप्रकृति प्रतिपादकानां शब्दानां पुल्लिङ्गत्वादर्शनात् । एवमचेतनस्य प्रधानस्य चेतनधर्मजगत्कर्तृत्वाऽसम्भवाच्च । कारणवादिषु वेदान्तवाक्येषु प्रधानस्य वेदितव्यत्वाश्रवणादसकृत्तस्य पूर्वं जगत्कारणत्वानिर्वचनाच्च न प्रधानस्यापि वेदितव्यत्वमुपपद्यते । परमात्मनस्तु सर्वजगत्कर्तृत्वस्य तदन्तर्गतसर्वपुरुषकर्तृत्वस्य तद्वेदितव्यत्वस्य चानेकवाक्येषु प्रसिद्धत्वात् । तस्य "यः कर्त्ता स वेदितव्य" इति पुल्लिङ्गत्वेन निर्दिष्टयोर्यत्तच्छब्दयोर्वाच्यत्वोपपत्तेश्च परमपुरुषः परमात्मैवात्र वेदितव्यत्वेनोक्तो नान्यः ॥१।४।१६॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१।४।१७॥

ननु "यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्य" इत्यस्य वाक्यशेषे "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा श्रेष्ठिनं स्वा" (कौ० ब्रा० ८।२०) एवमभिहितम्। अत्र भोक्तृत्वरूपजीवलिङ्गात् "अथास्मिन्प्राण एवै-कधा भवति" (कौ० ब्रा० ४।) इति प्राणशब्दश्रवणाच्च "यस्य चैतत्कर्म" इति वाक्यस्य न परमात्मपरत्वमुपपद्यत इति चेत्तद्व्या-ख्यातम्। एतच्च प्रतर्दनाधिकरणे "उपासा त्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगा" दित्यत्र जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्ना ब्रह्मपरत्वं व्याख्यातम्।

अयमभिप्रायः। यत्रोपक्रमाभ्यासादिलिङ्गैर्वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वं निश्चीयते तत्रान्यलिङ्गानि ब्रह्मपरवाक्यानुरोधेन ब्रह्मपरत्वेन नेत-व्यानि। प्रकृते तु "ब्रह्म ते ब्रवाणि" (कौ० ब्रा० ४।१) इति ब्रह्म-पदेनोपक्रमात् "एतेषां पुरुषाणां कर्ता" इति मध्येऽपि सर्वजग-त्कारणत्वेन ब्रह्मणोऽभ्यासात्। तथा "स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येति य एवं वेद" इति ब्रह्मविदस्तदुपासकस्य स्वाराज्यप्राप्तिरूपफलत्वेनो-पसंहाराच्चास्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वनिश्चयात्। तस्मादत्र "अस्मिन्प्राण एव एकधा भवतीति सामानाधिकरण्यादस्मिन् शब्दस्य प्राणशब्दस्य चैकवस्तुपरत्वनिश्चयेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वावगमात्। प्राणशरीर-ब्रह्मोपासनार्थमत्र प्राणपदेन निर्देश उपपद्यते ॥१।४।१७॥

अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि-चैवमेके ॥१।४।१८॥

तु शब्दः शङ्काव्यावर्तकः। अस्मिन्प्रकरणे जीवपरामर्शोऽन्यार्थं जीवातिरिक्तजीवाधारभूतब्रह्मस्वरूपज्ञापनार्थमिति प्रश्नव्याख्याना-भ्यां जैमिनिराचार्यो मन्यते। ततो जीवातिरिक्तब्रह्मपरमेवेदं वाक्यम् "तौ ह सुप्तपुरुषमीयतुः" (कौ० ब्रा० ४।१८) इत्यादिना प्रश्नः। बालाक्यजातशत्रू सुप्तपुरुषसमीपं गत्वा हे सोमराजन्निति सम्बोधनं कृत्वा तदश्रवणेन प्राणादीनामभोक्तृत्वम्प्रतिपाद्य यष्टिघातेन प्राणा-

दिव्यतिरिक्त जीवम्प्रतिबोध्य पुनर्जीवव्यतिरिक्ततदाधारभूतब्रह्म सम्बन्धिप्रश्नव्याख्याने चक्रतु । तत्र प्रश्न "क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत वा एतदागात्" इति । एतस्य प्रश्नयोत्तरानभिज्ञ बालाकिं ज्ञात्वा स्वयमेवोत्तरमाह "यथा सुप्त स्वप्न न कञ्चन पश्यति" इत्यादिभि । अत्र शयनभवनयोधारत्वे नोत्थानापादानत्वेन च निर्दिष्ट प्राणशब्दाभिहित परमात्मैवेत्यु त्तरवाक्यार्थ । सुषुप्त्यवस्थाया जीवस्य परमात्मना परिष्वक्तत्वमाह श्रुति "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त" इति । तस्मात्सुषुप्तौ जीवस्याधारतया निर्दिष्ट प्राज्ञ परमात्मा जीवादर्थान्तरभूत एवेति ।

अपि चैवमेके वाजसनेयिनो बालाक्यजातशत्रुसंवादे स्पष्टमेव विज्ञानमयाज्जीवाद्भेदेन तदाश्रयभूत परमात्मानमामनन्ति "य एष विज्ञानमय पुरुष क्वैष तदाभूत्कुत एतदागात्" (बृ० २।१।१६) इति प्रश्नस्योत्तर 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते" इति । आकाशस्य "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इति दहरविद्याया परमात्म परत्वेन निर्णीतत्वादाकाश परमात्मैवात्र वेदितव्यत्वेनोक्त । जीव सङ्कीर्तनन्त्वत्र जीवस्य प्राणशब्दाभिहितपरमात्मनोऽर्थान्तरत्वज्ञा पनार्थमिति नात्र साङ्ख्योक्तपुरुषादिप्रतिपादनम् । परमात्मनो जगत्कारणभूतस्यैवात्र वेदितव्यत्वमिति सिद्धम् ॥१।४।१८॥

इति जगद्वाचित्वाधिकरणम् ।

(*अथ वाक्यान्वयाधिकरणम् ।*)

वाक्यान्वयात् ॥१।४।१९॥

मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते– 'सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्या कमह तेन कुर्याम्" (बृ० २।४।३) स होवाच न वा अरे पत्यु

कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" (बृ० २।४।५) इत्युपक्रम्य आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" (बृ० २।४।५) इति। अत्र संशयः। किं प्रत्यगात्माऽत्र द्रष्टव्यत्वादिनोपदिष्ट आहोस्वित्परमात्मेति। किं युक्तम्? जीवात्मा। कुतः? परमात्मा द्रष्टव्य इत्यश्रवणात्। आत्मेति द्रष्टव्य इति श्रवणाच्च। लोके आत्मपदस्य जीवपरत्वप्रसिद्धेः। पतिजायापुत्रपशुवित्तानां जीवभोग्यानां भोगोपकरणानाञ्चोपक्रमेण तद्भोक्तुर्जीवस्योपक्रमान्मध्येऽपि इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति" (बृ० २।४।८) इति प्रकृतस्य जीवस्य विज्ञानघनस्य भूतेभ्यः समुत्थानं तदनु विनाशञ्च वदन् तस्यैव द्रष्टव्यत्वं बोधयति "आत्मा वारे द्रष्टव्य" इति। एवं प्राप्तेऽभिधीयते वाक्यान्वयादिति। परमात्मैवास्मिन् वाक्ये द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टो भवति। कुतः? उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलादिभिः शास्त्रतात्पर्यनिर्णायकैर्लिङ्गैरस्य वाक्यस्य ब्रह्मण्येव समन्वयदर्शनात्। तथा हि—उपक्रमे तावद् "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेने"ति याज्ञवल्क्यवचनं श्रुत्वा मैत्रेयी मोक्षसाधनं पृष्टवती "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्यमृतसाधनमेव मे ब्रूहीति यावत्। एवं पृष्टो याज्ञवल्क्य आत्मदर्शनस्यामृतसाधनत्वमुपदिष्टवान् "आत्मा वारे द्रष्टव्य" इति। अत्र परमात्मदर्शनस्यैवामृतसाधनत्वमभिहितम्। एवं "आत्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" (बृ २।४।५) इत्यात्मदर्शनेन सर्वज्ञानं वदन् कारणविज्ञानेन तत्कार्यस्य सर्वस्य विज्ञेयत्वम्बोधयन्नात्मन एवाखिलकारणत्वं बोधयति। न हि परिच्छिन्नस्य जीवस्य दर्शनेन सर्वपदार्थस्य ज्ञानं सम्भवति। तदेवास्य सर्वकारणत्वं दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैः स्पष्टीकृतम्। तथा "अरे अस्य महतो निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस"।

(बृ. २।४।) इत्यात्मन ऋग्वेदाद्युत्पत्तिकथनद्वारा सर्वचराचरजगदुत्पत्तिं बोधयन्नस्य सर्वकारणत्वेन परमात्मत्व तेन द्रष्टव्यत्वं च बोधयन् सर्वकारणस्यास्य परमात्मनो विज्ञानेन तत्कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञातत्व द्रढयामास । तस्मादत्रात्मशब्देन परमात्मैव गृह्यते स एव द्रष्टव्यत्वेनोक्त इति । एव 'येनेद सर्वं विजानाति त केन विजानीयाद्विज्ञातरमरे केन विजानीयात्" (बृ २।४।१८) इत्युपसहारवाक्येऽपि परमात्मन एव द्रष्टव्यत्व निष्पद्यते । एवमुपक्रमादिभिरस्य प्रकरणस्य परमात्मपरत्वमेवेति निर्णय ॥१।४।१९॥

ननु पतिजायादिभोग्यजातस्य "विज्ञानघन एतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति" इत्यस्य च जीवलिङ्गस्य का गतिरित्यत आह—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥१।४।२०॥

मैत्रेय्यात्मनो वारे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम्" (बृ २।४।५) इत्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया जीवस्य परमात्मकार्यत्वेन तदनन्यत्वोपपत्त्या कारणविज्ञानेन तत्कार्यविज्ञानात्सिद्धेर्जीवस्य परमात्मकार्यत्वेन तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वज्ञापनार्थं जीवलिङ्ग निर्दिष्टमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥१।४।२०॥

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥१।४।२१॥

"न प्रेत्य सज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमी" ति मुक्तजीवस्य ससाररहितत्वोपदेशात् "तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति श्रुत्या मुक्तस्य नामरूपाद्विमुक्तत्वावगमात्तन्मोक्षसाधनत्वेन श्रवणमननपूर्वकपरमात्मनिदिध्यासनस्योपदेशाच्च "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय पर ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ३।१२।३) इति शरीरादुत्क्रमिष्यतो जीवस्य

परज्योतीरूपसम्पत्त्यनन्तरमपहतपाप्मत्वाद्यष्टगुणविशिष्टसच्चिदानन्द स्वरूपाविर्भावरूपेण ब्रह्मभावाद्ब्रह्मणो यो भावोऽपहतपाप्मत्वादि रूपस्तेनैव भावेन मुक्तस्य स्थितिश्रवणाज्जीवस्तच्छ्रवणमननपूर्वकं तन्निदिध्यासनेन परमात्मानमुपसम्पद्याविभागस्वरूपः सन् ब्रह्मभावं प्राप्नुयादित्येतदर्थं तत्र जीवलिङ्गनिर्देश इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥१।४।२१॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥१।४।२२॥

'य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।२२) इत्येवमादिषु जीवस्यात्मभावेन परमात्मनोऽवस्थितेः 'शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानत्वा ज्जीववाचकस्य शब्दस्य तच्छरीरिणि परमात्मनि पर्यवसानात्तत्र जीवशब्देनपरमात्मैवाभिहित इति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते ॥ १।४।२२॥

(*इति वाक्यान्वयाधिकरणम्।*)

(*अथ प्रकृत्यधिकरणम्*)

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥१।४।२३॥

प्राग् "जन्माद्यस्य यतः" इति ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमभिहितम्। तदस्य तस्य निमित्तकारणत्वमुक्तमाहोस्विदुपादानत्वमपीति संशय। तत्र निमित्तत्वमेवोक्तम्। कुतः ? 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छा०६।२।३) इतीक्षणमात्रेण जगत्कर्तृत्वश्रवणात्सत्यसङ्कल्पस्य ब्रह्मणः सङ्कल्पमात्रेण जगत्सृष्टिकर्तृत्वोपपत्तेरिति प्राप्तेऽभिधीयते प्रकृतिश्चेति। ब्रह्म जगत्प्रकृतिरुपादानकारणं चकारान्निमित्तकारणं

मप्युक्तम् । कुत ? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । "येनाश्रुत श्रुत भवत्यमत मतमविज्ञात विज्ञातमिति ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाया "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मय विज्ञातं स्याद्वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा०६।१।४) इति मृद्ज्ञानेन मृण्मयज्ञानस्य दृष्टान्तस्य चानुरोधाद् ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमप्युपपद्यते । यत्सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट कारणावस्थ ब्रह्म तदेव सृष्टिकाले स्थूलचिदचिद्विशिष्ट भवतीत्युपादानत्व निष्पन्नतरम् । तत्र प्रकृतिजीवयोर्जगदुपादानत्वे सत्यपि तत्र ब्रह्मण प्रधानत्वाद् "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद" (ब्र० सू०२।४।१९) इति न्याया द्ब्रह्मोपादान जगदिति वचनमुपपद्यते । न च मृण्मात्रज्ञानेन मृण्मय घटादिज्ञानदृष्टान्तासङ्गति । तत्रापि मृदो मृण्मयस्य च कार्यस्य त्रिवृत्कृतत्वेन त्रिभूतात्मकत्वे सत्यपि मृद प्राधान्यान्मृण्मयमिति वचनमुपपद्यते । यथाऽत्र त्रिवृत्कृत पृथिव्या प्राधान्य तत्पृथिवीत्युच्यते । यत्र जलस्य प्राधान्य तज्जलमित्युच्यते । तथैव चिदचिद्ब्रह्मोपादानकत्वेऽपि जगतस्तत्र ब्रह्मण प्राधान्याद्ब्रह्मोपादान जगदित्युच्यते । विकार कार्यं जगच्चराचर तन्नामधेयञ्च वाचारम्भण वागालम्बनमात्र चिदचिद्ब्रह्मैव सत्यमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तयो समानत्वान्मृण्मयस्य सर्वस्य मृदुपादानकत्ववत्सर्वस्य जगतो ब्रह्मोपादानकत्व निष्पन्नतरमेव ॥ १।४।२३॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥१।४।२४॥

"सोऽकामयत" (तै० २।६।) इति ध्यानोपदेशाद्ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्व "बहु स्या प्रजायेय" इति जगदाकारेण बहुभवनचिन्तनोपदेशाच्च तस्य जगदुपादानत्वञ्चेति निमित्तत्वमुपादानत्वञ्चैकस्यैव ब्रह्मणो निष्पद्यते ॥१।४।२४॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥१।४।२५॥

"ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्" "ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्" इति साक्षाद्ब्रह्मणो जगदुपादाननिमित्तत्वयोरुभयोराम्नानादुभय चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैव ॥१।४।२५॥

आत्मकृतेः ॥१।४।२६॥

"तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै० २।७) इति प्रलये सूक्ष्मचिदचिच्छरीरत्वेनावस्थितमात्मानं तदन्ते स्थूलचिदचिच्छरीरकं स्वयमकुरुत जीवानां भुक्तिमुक्त्यर्थमित्युपादाननिमित्तत्वमुभयमेवैकस्यैव ब्रह्मणः स्पष्टमुक्तम्। यत्तु विशुद्धं ब्रह्मैवात्मानं स्वयमकुरुत सुखदुःखादिभागभवदित्याहुस्तन्नोपपद्यते। ब्रह्मणि विकारित्वाद्यनेकदोषापत्तेस्तदपाकरणार्थं मायाशबलितस्यैव जगद्रूपत्वमङ्गीकरिष्यते चेदुपादानताभङ्गप्रसङ्ग। न च कल्पितत्वं जगत इत्युक्तावपि निस्तारः। केन किमर्थं कल्पितमिति प्रश्नस्योत्तरानुपपत्तेः। तस्मात्सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्य कारणवस्थस्यैव ब्रह्मणः कर्तृत्वकर्मत्वस्रष्टृत्वादिव्यपदेशादुपादानत्वनिमित्तत्वचोभयमपिसङ्गतम्॥१।४।२६॥

इतश्च जगत्प्रकृति ब्रह्मैव।

परिणामात् ॥१।४।२७॥

"निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत् यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते" (तै० २।६) इत्यविभक्तनामरूपातिसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकस्य कारणवस्थस्य ब्रह्मणो विभक्तनामरूपस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन परिणामाज्जगदुपादान निमित्तञ्च ब्रह्मैव। सूक्ष्मावस्थस्य स्थूलावस्थस्य च सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनो ब्रह्मशरीरत्वं ब्रह्मणस्तदात्मत्वञ्च "यस्य पृथिवीशरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्त

र्याम्यमृत" "यस्यात्मा शरीरम्" य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३।७।२२) इत्येवमादिभि श्रुतिभि सिद्धमेव ॥१।४।२७॥

योनिश्च हि गीयते ॥१।४।२८॥

"तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा" (मु० १।१।६) "कर्त्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम्" (मु० ३।१।३) इति ब्रह्मैव सर्वभूतयोनित्वेन गीयते । हि यस्मात्तस्मात्सर्वभूतयोनित्वाज्जगदुपादाननिमित्तञ्च ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ १।४।२८ ॥

इति प्रकृत्यधिकरणम् ।

(*अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ।*)

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥१।४।२९॥

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति सर्वज्ञसर्वशक्तिपरमपुरुषपरत्वेनोपक्रमान्मध्येऽपि जगत्कारणपरवाक्यानामभ्यासात् "तद्भूतयोनिम्" इत्यादिना ब्रह्मादिसर्वचराचरभूतकारणपरमात्मपरत्वेनोपसहाराच्च सर्वेषा वेदान्ताना जगत्कारणे परमपुरुषे समन्वयत्वसिद्धे । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (का० १।२।१५) इति समेषा वेदान्ताना तत्रैव ब्रह्मणि समन्वयस्य श्रुतत्वात् "जन्माद्यस्य यत " (ब्र० सू० १।१।२) इत्यारभ्य "योनिश्च हि गीयते" (ब्र० सू० १।४।२८) इत्यन्तेनोक्तेन न्यायकलापेन सर्वे वेदान्ता सर्वज्ञसर्वशक्त्याद्यनवधिकातिशयानन्तकल्याणगुणविशिष्टस्वानन्यचिन्तकभक्तापायापेयभूतजगदुत्पादकरक्षकपरमपुरुषपरब्रह्मपरत्वेन व्याख्याता । पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्ति

ज्ञापनार्थं । अत्रानेन सूत्रेणैतदध्यायगतसूत्रश्रुतीनामर्थान् सम्यगवगत्यावशिष्टानि वेदान्तवाक्यान्येतदानुगुण्येनैव ज्ञेयानीत्यपि ज्ञापितम्भवतीति ॥१।४।२९॥

इति सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तसगुणपुरुषतस्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकाबन्तु श्रीपाठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
साक्षतसारे प्रथमाध्यायस्य
चतुर्थ पाद ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्याय ॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीतस्य शारीरकमीमांसायां श्रीजानकी-कृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

(*अथ स्मृत्यधिकरणम् ।*)

व्याख्याते समन्वयाख्ये प्रथमेऽध्याये समेषां वेदान्तानाम-खिलकल्याणगुणसागरे परमपुरुषे ब्रह्मणि समन्वयमभिधाय तन्त्राभिमतप्रधानादेः स्वातन्त्र्येण कारणस्यावैदिकत्वेनाप्रामाण्यमभिहितम् । इदानीमस्मिन्नविरोधाख्ये द्वितीयेऽध्याये स्मृत्यादिविरोधमाशङ्क्य परिह्रियते । तत्र प्रथमे पादे साङ्ख्यस्मृतिविरोधमाशङ्क्य श्रुतिमूलकस्मृतिविरोधेन वेदार्थप्रतिकूलतया साङ्ख्यस्मृतेर्न वैदिकार्थनिर्णये प्रामाण्यमित्युच्यते—

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥२।१।१॥

अत्रायं संशयः । किं वेदान्तानां योऽयं ब्रह्मणि समन्वयः सम्पाद्यते तस्य च साङ्ख्यादिस्मृतयो बाधिकाः आहोस्विन्नेति । किंयुक्तम् ? बाधिका इति । कुतः ? अबाधकत्वे स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् । प्रमाणान्तरावेद्यस्य, शब्दमात्रैकगम्यस्य निरतिशयानन्दलक्षणमोक्षस्य साधने प्रवृत्तानां तासामनवकाशता स्यादिति दोषः । साङ्ख्यादिस्मृत्यसम्मतवेदार्थोपवर्णने तथैव च मोक्षादिरूपप्रमेयस्वीकारे तासां नैरर्थक्यं स्पष्टमेव । उभयोरेकार्थप्रतिपादकत्वादेकस्या निरवकाशत्वमेव समापन्नमिति । तच्चायुक्तम् । "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येत्" (श्वे० ।५।२।) इति श्रुत्या सर्वज्ञतयोक्तस्य कपिलर्षेः प्रणीतत्वेन

तासां प्रामाणिकत्वात् । तस्मान्न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमास्थेयम् । कपिलर्षिप्रणीतप्रधानकारणवादिस्मृतीनामनवकाशरूपदोषप्रसङ्गादिति चेन्न । अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् । अन्यासां श्रुतिमूलकस्मृतीनां तथा सत्यनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात् । तथा हि– "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्" (श्वे० ४।१०) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (श्वे ६।१६) "सकारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः" (श्वे० ६।९) इत्यादिश्रुतिमूलानां परमात्मकारणवादिनीनां–

"अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ॥
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ॥
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।"

मित्यादीनां चेतनब्रह्मकारणवादिनीनां स्मृतीनां तथा "अव्यक्तमक्षरे विलीयते अक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति" (सुबा० २) इति श्रुतिनिर्दिष्टस्य प्रलये परे देवे लीनस्याव्यक्तस्य प्रलयान्ते तस्मादुत्पत्त्युपपत्तेस्तन्मूलिकायाः "तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम" (भा० शा० मो०) "अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्म निष्कले सम्प्रलीयते" (भा० शा० मो०) इति भारतस्मृतेश्चानवकाशदोषप्रसङ्गात् ।

तदेवं परस्परविरोधे श्रुत्यविरुद्धा स्मृतिः प्रमाणमित्याह जैमिनिः "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" (जै० सू० १।३।३) प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सति स्मृतिवाक्यमुपेक्ष्यमनादरणीयमसति

श्रुतिविरोधे स्मृतिमूलभूत श्रुतिवाक्यमनुमेयमिति तदर्थं । एवञ्चा पक्षीणसाख्यस्मृतिर्हेयैव श्रुतिविरुद्धत्वात् "ऋषिं प्रसूत" मित्यादि

ननु योगेन साक्षात्कृतत त्त्वस्वरूपै कपिलादिभिर्योऽर्थो व्यवस्थापित स एवार्थोऽन्यैर्मन्वादिभिरप्यङ्गीक्रियत इति कथ मन्वादिस्मृतीनामेव वेदानुसारित्वमित्याशङ्कायामाह—

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ॥२।१।२॥

इतरेषा वेदार्थयाथात्म्यविदा "यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजम्" (तै० स० २।२।१०।२) इत्यादिश्रुत्या भेषजवज्जगद्धिताय प्रवचन कर्तृणा मन्वादीना प्रधानकारणवादत्वाऽनुपलब्धे । अत श्रुतिविरुद्धत्वात्तदनुसारिमन्वादिस्मृतिविरुद्धत्वाच्च कपिलादिस्मृतेर्भ्रान्तिमूलकत्वनिश्चयेनाप्रामाण्यान्न तया वेदान्तसमन्वय शक्यो बाधयितुमिति ॥२।१।२॥

इति स्मृत्याधिकरणम् ।

अथ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥२।१।३॥

योगस्मृति किं वेदान्तानामुपबृंहणभूताऽहोस्विन्नेति सशय । उपबृंहणभूतेति पूर्वं पक्ष । उपबृंहण हि तत्समानार्थकपदैर्वाक्यैर्वा तदर्थप्रकाशनम् । श्रुतिसिद्धार्थस्य विशदीकरण वेति वैदिकसिद्धान्तस्यैव योगशास्त्रेऽपि दर्शनात् । वेदान्तप्रवर्तकहिरण्यगर्भ योगस्य वेदान्तोपबृंहणत्व न्याय्यम् । तथा

च तत्स्मृते प्रधानपरत्वेन वेदान्तानामपि प्रधानोपादानप्रतिपादकत्वमेष्टव्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते ।

एतेन योग प्रत्युक्त इत्यतिदेश । एतेन प्रधानकारणत्ववादिकपिलस्मृतिनिराकरणेन प्रधानपरा योगस्मृतिरपि प्रत्युक्ता निराकृता वेदितव्येत्यर्थ । अतिदेशस्तु वैदिकहिरण्यगर्भप्रणीतत्वेन सेश्वरत्वेन प्रमाणत्वशङ्कानिराकरणाय कृत । योगस्मृतावीश्वरस्वीकारेऽपि तस्यनिमित्तकारणत्वम् । उपादानत्वन्तु प्रधानस्यैवेति न तस्या वेदान्तोपबृंहणत्व न्याय्यम् ॥२।१।३॥

इति योगप्रत्युक्त्याधिकरणम् ।

अथ विलक्षणत्वाधिकरणम् ।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् ॥२।१।४॥

स्मृतिविरोधे परिहृतेऽपि तर्कमाश्रित्य पुनराक्षेप क्रियते । यदुक्त सर्वैर्वेदान्तैर्ब्रह्मण उपादानत्वञ्जगतश्चोपादेयत्वमभिधीयत इति तन्नोपपद्यते । चित्स्वरूपान्निरतिशयानन्दादखिलहेयप्रत्यनीकात्स्वाभाविकनित्यनिरतिशयनिरवधिकासख्येयकल्याणगुणविशिष्टाद्ब्रह्मणोऽक्षरत्वेन दु खभोक्तृत्वेन जन्ममरणादिभाक्त्वादिना दृश्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य जगतो विलक्षणत्वाद्ब्रह्मोपादानकत्वाऽसम्भवात् । यद्यस्माद्विलक्षण न तत्तत्कार्यमिति नियम । यथा मृद्विलक्षणस्य पटस्य न मृत्कार्यत्व यथा वा गोधूमविलक्षणस्य कोद्रवस्य न गोधूमकार्य्यत्वम् ।

एतद्वैलक्षण्यञ्च कुतोऽवगतमित्यत आह तथात्वञ्च शब्दादिति । न केवल प्रत्यक्षादिना वैलक्षण्यमवगम्यते किन्तु शब्दादप्यवगम्यते । तथा हि "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।" (मु० ३।१।१) "अस्मान्मायी

सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) "विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च" (तै०३।६।३) "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा" (श्वे० १।१२) इत्येवमादिभ्य शब्देभ्यस्तयोर्वैलक्षण्यस्य स्पष्टमवगमात् ॥२।१।४॥

नन्वचेतनत्वेनावगतानामिन्द्रियादीनामपि चैतन्यमुपवर्ण्यते तेह वाचमूचुस्त्व न उद्गायेति (बृ० १।३।२) "ते हेमे प्राणा अहश्रेयसे विवदमाना ब्रह्माण जग्मु" "त ह पृथिव्यब्रवीत्" (यजु० ५।५।२) "आपोऽब्रुवन्" (शत० प० ब्रा० ६।१।३।२।४) इत्यादौ पृथिव्यादिविशेषपदार्थानामपि चैतन्य श्रूयते इत्यत आह—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥२।१।५॥

तुशब्द शङ्कानिवर्तक । न पृथिव्यादिमात्रस्याय व्यपदेश. । अपि तु पृथिव्याद्यभिमानिदेवतानाम् । कुत इदमवगम्यते ? विशेषानुगतिभ्याम् । विशेषो विशेषणम् । "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता" (छा० ६।३।१) इति देवतापदस्य पृथिव्यादिविशेषणत्व श्रवणात् । छान्दोग्ये बृहदारण्यके च प्राणाना विवाद श्रूयते कौषीतकिब्राह्मणे तु "एता ह वै देवता अह श्रेयसे विवदमाना" (कौ० ब्रा०) इति प्राणानां देवतापदेन विशेषितत्वात् । एव "अग्नि र्वाग्भूत्वा मुख प्राविशत्" (ऐ० १।२।४) "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशन्" (ऐ० १।२।४) इत्यादावग्न्यादित्यादाना मुखादिष्वनुगते रनुप्रवेशस्य श्रवणाच्च । "पृथिव्यब्रवी"दित्यादेस्तदभिमानिनी देवता ह्यब्रवीदित्यर्थस्तथा च जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वमेवेति प्रधानकार्यत्वमेव वेदान्तनियतमिति ॥२।१।५॥

एवमातर्किते समाधानमाह—

दृश्यते तु ॥२।१।६॥

तुना पक्षो व्यावर्त्यते । चेतनप्रसिद्धपुरुषाच्च विलक्षणाना केश-
[illegible] । कृम्यादीनामुत्पत्तिर्गोमयाच्चेत-

नस्य वृश्चिकस्योत्पत्तिर्दृश्यते। तस्मान्नायं नियमो यस्य यत्कार्यं तत्तस्मादविलक्षणमिति। विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावदर्शनात्। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (का० १।२।९) इति श्रुत्या च तर्कस्याप्रतिष्ठानोक्तेर्ब्रह्मविलक्षणस्य जगतस्तत्कार्यत्वं निष्पद्यते। तस्माद्ब्रह्मविलक्षणस्यापि जगतोब्रह्मकार्यत्वमुपपन्नतरम्॥२।१।६॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥२।१।७॥

ननु पुरुषात्तदुत्पन्नकेशनखादीनां विलक्षणत्ववत् गोमयाच्चोत्पन्नस्य वृश्चिकादेर्वैलक्षण्यवत्कारणाद्ब्रह्मणः कार्यभूतं जगद्विलक्षणं चेत्तर्हि कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वेन कारणे ब्रह्मणि कार्यस्य जगतोऽविद्यमानत्वेनासत एव जगत उत्पत्तिः प्रसज्येतेति चेन्न। निरुक्तदृष्टान्तानां कार्यकारणयोः सालक्षण्यनियममात्रस्य प्रतिषेधः कृतो। न तु तयोरनन्यत्वस्य सालक्षण्यस्य वा। मृद्घटसुवर्णकुण्डलादीनां कारणकार्य्योर्णां सालक्षण्यदर्शनात्।

अयम्भावः। यथा मृत्सुवर्णादीनां त्रिवृत्कृतत्वेन त्रिभूतात्मकत्वेऽपि मृदादीनामेव तत्र प्राधान्यात्तत्सर्वमेकेन मृच्छब्देनोच्यते। एवं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य कारणावस्थस्य ब्रह्मणस्तत्त्वत्रयात्मकत्वेऽपि तत्र ब्रह्मणः प्रधानत्वात् तत्त्वत्रयमप्येकेन ब्रह्मशब्देनोच्यते "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" (बृ० १।४।१०) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१) इत्येवमादिभिः। यथा च तत्र घट इति नामधेयं विकारो रचनाविशेषो वाचारम्भणं वागालम्बनमात्रं मृत्तिकैव सत्यम् तथा जगदिति नामधेयं जगदाकारो विकारो रचनाविशेषो वाचारम्भणं वागालम्बनमात्रं वस्तुनश्चिदचिच्छरीरकं ब्रह्मैव सत्यमिति सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैव कारणम्। तदेव स्थूलचिदचिच्छरीरं कार्यमिति कारणकार्यावस्थञ्च सर्वं ब्रह्मैवेतीममेवार्थं "सर्वं ह्येतद्ब्रह्म" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्व-

र्मसि" "सदा रामोऽहमित्येतत्तत्त्वत प्रवदन्ति ये। न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशय" इत्येवमाद्या श्रुतयो ज्ञापयन्ति। तदेव ब्रह्मतत्कार्ययो सालक्षण्यादेव ब्रह्मण सर्वजगत्कारणत्वम्। तज्ज्ञानेन सर्वजगज्ज्ञानञ्चोपपद्यते न तयोर्वैलक्षण्येन। तथा स्वीकारे कारणज्ञानेन तत्कार्यज्ञानानुपपत्ते। 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते सर्वमिदं विदितं भवति" इत्येकज्ञानेन सर्वज्ञानप्रतिज्ञाया 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेनेत्यादिदृष्टान्तानाञ्च वैयर्थ्यं स्यात्। एवञ्चासत्कार्यवादस्य न ब्रह्मकारणवाद प्रसरो वेदान्तेषु सत्कार्यवादस्यैवाभ्युपगमात्। तथा च नासदुत्पत्तिरिति ॥२।१।७॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥२।१।८॥

पुनराशङ्कते। ननु ज्ञानशक्त्यादिगुणक ब्रह्मैव स्वस्माद्विलक्षण जगदाकारेण परिणमते तेन तदेव चोपादानमस्य जगत इति यदुक्त तदसमञ्जसम्। कुत ? अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गात्। अपीति प्रलय सृष्ट्यादेरुपलक्षक। जगतो ब्रह्मणि प्रलये तत उत्पत्तावपि जगद्वदज्ञत्वकर्मपरवशत्वदु खित्वादिजगद्धर्माणा ब्रह्मणि प्रसङ्गात्॥२।१।८।

अत्र समाधानमाह—

न तु दृष्टान्तभावात् ॥२।१।९॥

तु शब्दोऽवधारणे। उक्तमसमञ्जस नास्त्येव। कुत ? दृष्टान्तभावात्। एकस्यैवावस्थाद्वयेऽन्वय इत्यवस्थागुणदोषसम्बन्धाभावे दृष्टान्तसद्भावात्।

अयमभिप्राय। "यथा सर्वगत सौक्ष्म्यादाकाशो नोपलिप्यते। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय तथात्मा नोपलिप्यते" (गी०) इति स्मृते। यथा बाल्ययुवत्वस्थाविरादय शरीरस्यावस्थाविशेषा ...नि न सम्बद्धयन्ते। ज्ञानसुखादयश्चात्मधर्मा न

शरीरे। एवं ब्रह्मशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगता कर्मवश्यत्वाज्ञत्वादयो धर्माश्चिदचिच्छरीरिणि कार्यकारणोभयावस्थान्वयिनि परस्मिन्ब्रह्मणि न सम्बध्यन्ते। ब्रह्मगताश्चापहतपाप्मत्वादयो ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजस्त्वादयो धर्मा न तच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुनीति सुगम पन्था। सर्वस्य चिदचिद्वस्तुन परमात्मशरीरत्वं परमात्मनस्तदात्मत्वञ्चासकृच्छ्रुतिपूपदिष्टम्। "य पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं य पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३।७।३) इत्यारभ्य 'यो विज्ञाने तिष्ठन्, यस्य विज्ञानं शरीरं, य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" (बृ० ३।७।२२) इत्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणादिषु प्रसिद्धम्। एवं च सर्वस्य चिदचिन्मयस्य जगत परब्रह्मशरीरत्वश्रवणान्नोक्तदोषावकाश ॥ २।१।९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥२।१।१०॥

साङ्ख्यैरुद्भाविताना दोषाणामदोषत्वान्न वेदान्तमते काचिदनुपपत्ति। साङ्ख्यमत एव तेषां दुष्परिहरत्वम्। तथा हि, न ह्यचेतनात्प्रधानाच्चिदचिन्मिश्रस्य जगत उत्पत्तिरुपपद्यते। अचेतनस्य प्रधानस्य तत्तज्जीवकृतपूर्वकर्मज्ञानाभावेनानेकप्रकारजगदुत्पादकत्वानुपपत्ते। अन्यथा प्रधाने वैषम्यनैर्घृण्यदोषापत्तेश्च। न ह्यचेतनस्य गोमयस्य तत्पूर्वकर्मज्ञानरहितस्य वृश्चिकोत्पादकत्वमुपपद्यतेऽपि तु तदन्तर्गतस्य सर्वव्यापकस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मण एव प्रधानाद् वृश्चिकोत्पादकत्वम् ॥२।१।१०॥

तर्काप्रतिष्ठानादपि ॥२।१।११॥

तर्कस्याप्रतिष्ठानादप्रतिष्ठितत्वाच्च न समन्वयविरोधगन्धोपीत्यर्थ। कथं तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वमिति चेत्। इत्थम्। एकेन तार्किकेणानुमितस्यार्थस्य तदधिकबुद्धिमतान्यथानयनात्तेनानुमितार्थस्य

ततोऽप्यधिकबुद्धिमतान्यथानयनाद्‌ब कपिलपतञ्जल्यादितर्काणा मन्योन्यविरोधिनामन्ताभावेनानवस्थादोषग्रस्तत्वात्, अनुमेयवस्त्व निश्चायकत्वाच्च । एतेन श्रुत्यनुकूलस्तर्क एव प्रमाण तत्प्रतिकूलश्चा प्रमाणमित्याख्यातम् । एव च श्रुतिसमन्वयस्य विरोधिन कपिलादि तर्कस्याप्रमाणत्वान्न तेन समन्वयविरोध शङ्कनीय ॥२।१।११॥

अन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ॥२।१।१२॥

धूमज्ञानानन्तर वह्न्यर्थिन प्रवृत्तिदर्शनात्तस्य वह्निप्राप्तिदर्श नाच्च पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यस्यानुमानस्य प्रतिष्ठितत्वनिश्च यादीदृशेनाप्रतिष्ठिततर्कादन्यथान्यप्रकारेण प्रतिष्ठिततर्केणासमन्वय विरोधादिकमनुमेयमिति चेदिति शङ्का परिहरति–एवमप्यविमोक्ष प्रसङ्ग इति । अनुमानस्य प्रत्यक्षसापेक्षत्वान्महानसादा वह्निधूमयो र्व्याप्तिं दृष्ट्वा धूमस्य वह्निलिङ्गनिश्चयानन्तर पर्वतादौ धूमलिङ्ग दृष्ट्वा तेन वह्नेरनुमेयत्वावगमात् । प्रकृतेतु ब्रह्मतल्लिङ्गयोरप्रत्यक्षत्वेन तद्व्याप्तिज्ञानाभावाल्लिङ्गज्ञान विना लिङ्गिब्रह्मानुमानासंभवान्न ब्रह्म णस्तर्कगम्यत्वमुपपद्यते । अपि चान्यत्र प्रतिष्ठितस्यापि श्रुतिविरोधि तर्कस्य प्रकृते ब्रह्मण्यप्रतिष्ठानादीदृशस्यापि तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वदो षादविमोक्षप्रसङ्ग । तस्माद्वेदविरोधितर्कस्याप्रमाणत्वान्न तेन सम न्वयविरोध ॥२।१।१२॥

(*इति विलक्षणत्वाधिकरणम् ।*)

(*अथ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम ।*)

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥२।१।१३॥

एतेन तर्कमूलकपिलस्मृतिनिराकरणेन शिष्टैर्न परिगृह्यन्त इति ष्ट । । शिष्टैरपरिग्रहीता पतञ्जलिकणादगोतमादिस्मृत

योऽपि व्याख्याता निरस्ता इत्यर्थः । वेदविरुद्धार्थपराणां सर्वेषां तर्काणां वेदबाधितत्वेनाप्रमाणत्वादिति भावः ॥२।१।१३॥

(*इति शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ।*)

(*अथ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ।*)

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥२।१।१४॥

पुनरपि ब्रह्मकारणवादो यौक्तिकमतमास्थाय साङ्ख्यैराक्षिप्यते । यदुक्तं सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकम्ब्रह्म कारणावस्थमुपादानं तदेव च स्थूलचिदचिच्छरीरं सदुपादेयमिति तन्नोपपद्यते । स शरीरत्वे तस्य जीवस्येव शरीरप्रयुक्तसुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेः । ततश्च प्रत्यगात्मनाऽविभागः विभागाभावाद्ब्रह्मणोऽपि जीवभावापत्तिस्स्यात् । ननूक्तमेव बालत्वस्थाविरादयः शरीरधर्मा न प्रत्यगात्मनि न बाह्यत्वादयस्तद्धर्माः परमात्मनि सम्बध्यन्त इति चेत्सत्यम् । शरीरगतबालत्वादिविकाराणामात्मन्यसम्भवेऽपि शरीरधातुसाम्यवैषम्यहेतुकस्यात्मनि सुखदुःखसयोरस्यावश्यम्भावात् ।

तथा चोक्तम् ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।

इति । तथा "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" (छा० ८।१२।१।) इति च । तथा च परमात्मनोऽपि शरीरसामान्यात्तस्यापि जीवस्येव सुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेर्जीवेश्वरयोरविभागापत्तिः स्यादिति प्राप्तेऽभिधीयते—स्याल्लोकवत्–कर्मपरवशतया

भोक्तृत्वाज्ञानादिदिव्यकल्याणगुणसागरस्य परमात्मनो विभागः स्यादेव। न हि शरीरसंयोगहेतुकः सुखदुःखोपभोगोऽपितु पुण्यपापरूपकर्महेतुक इति न शरीरसंयोगनिबन्धनं सुखदुःखयोस्संसर्गः। श्रूयते चैकस्मिञ्छरीरे वसतोरपि जीवेश्वरयोः कर्मफलभोक्तृत्वेन स्वरूपस्वभावयोर्विभागः "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मु० ३।१।१) इति। यथा लोके समानाधिकरणयोरपि भृत्ययोः स्वस्वामिनोर्मध्ये एको दरिद्रश्चापरस्तु धनी इति स्पष्टमेव तयोर्विभागः। एवञ्च ब्रह्मणो जगदुपादानत्वेऽपि न विकारित्वाज्ञत्वादिदोषापत्तिः। चिदचिच्छरीरकस्यैव तस्य जगदुपादानत्वस्वीकारात्। "विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्" इति प्रामाण्याद्विकारित्वादीनां ब्रह्मशरीरभूताचित्पदार्थे पर्यवसानात्। अज्ञत्वसुखदुःखभोक्तृत्वादीनान्तु तच्छरीरभूतचित्पदार्थे जीवे पर्यवसानाद्ब्रह्मणः सर्वान्तर्यामितयाकाशादिवद्व्यापकत्वेऽपि तत्तत्संश्लेषरहितस्य तस्य प्रकृतिजीवगतानां विकारित्वाज्ञत्वादिदोषाणां सम्बन्धस्यानुपपत्तिः।

तर्हि "ब्रह्म वा इदमग्र आसी" दिति श्रुतिसिद्धं ब्रह्मोपादानं जगदिति वचनं कथमुपपद्यताम्। प्रकृतिजीवपरमात्मनां त्रयाणामपि जगदुपादानत्वादिति चेदुच्यते। यथा पृथिव्यास्त्रिवृत्करणत्वेन त्रिभूतात्मत्वेऽपि तत्र पृथिव्या एव प्राधान्यात्सर्वं त्रिभूतात्मकमपि पृथिवीशब्देनोच्यते। तथा जगदुपादानत्वस्य तत्वत्रयनिष्ठत्वेऽपि तत्र ब्रह्मण एव प्राधान्यात्तत्त्रयमपि ब्रह्मशब्देनैवोच्यते। यथा च "तासांत्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छा० ६।३।४) इतिश्रुत्या पृथिव्यप्तेजसां त्रिवृत्करणविनिश्चयात् दृष्टान्तभूतस्य "यथा सोम्यैकेनमृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यस्याप्तेजोविशिष्टं मृण्मयमस्तीति विज्ञातं स्यादित्यर्थस्य निष्पन्नत्वात्। तथा दार्ष्टान्तस्यापि चिदचिद्विशिष्टस्य कारणस्य ब्रह्मणो विज्ञानेन सर्वं तत्कार्यं

जगत् चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयमितिराद्धान्त इति सर्वं मनवद्यम् ॥ २।१।१४ ॥

इति भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ।

(अथारम्भणाधिकरणम् ।)

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥२।१।१५॥

किं कारणाद्ब्रह्मणस्तत्कार्यं जगदन्यदाहोस्विदनन्यदिति संशये कारणभूताद् ब्रह्मणोऽन्यदेव जगत् । कुत ? ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजो वीर्यादिनिरवधिकनिरतिशयासंख्येयकल्याणगुणविशिष्टादानन्दमयाद्ब्रह्मणोऽज्ञत्वानीशत्वकर्मवश्यत्वदुःखित्वादिधर्मवतो जगतोऽन्यत्वावगमात् । कार्यकारणबुद्धेरेकरूपत्वाऽनुपपत्त्याऽनन्यरूपत्व निष्पत्ते । न हि मृच्छब्देन घट उच्यते घटशब्देन मृद्वा तथा न जगच्छब्देन ब्रह्मोच्यते ब्रह्मशब्देन जगद्वेति । वाच्यवाचक शब्दभेदादपि कार्यकारणयोर्भिन्नत्वमेव तस्मान्न ब्रह्मणाऽनन्यत्वं जगत इति प्राप्त आह तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इति । तयो कार्यकारणयोर्जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वमेव । यद्वा तस्मात्कारणाद् ब्रह्मण स्तत्कार्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वमेव कुतोऽवगम्यते तत्राह । आरम्भण शब्दादिभ्य इति । आरम्भणशब्द आदिर्येषां वाक्यानां तेभ्य इति विग्रह । "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञात स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० ६।१।४) "सन्मूला सोम्येमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा" (छा० ६।८।४) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।८।७) इत्यादिभ्यो वाक्येभ्य परस्माद् ब्रह्मणो जगतोऽनन्यत्वमवगम्यते । यथैकेन मृत्पिण्डेन समारब्धा घट

शरावादय कारणभूतात्तस्मान्मृत्पिण्डाद् द्रव्यान्तरत्वेन नाति रिच्यन्ते।

"वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्य" मित्यत्रा रभ्यते—आलभ्यते स्पृश्यत इत्यारम्भणम्। बाहुलकात्कर्मणि ल्युट्। वाचा—वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थ। उदकाहरणा दिव्यवहारार्थं मृदेव नामधेयान्तरसंस्थानान्तरभाग्भवति। तस्मा देवोक्त मृत्तिकेत्येव सत्यम्। मृदेव प्रमाणेनोपलभ्यते। न तु द्रव्यान्तरम्। यथैकस्मिन्नेव देवदत्तेऽवस्थाभेदैर्बालो युवा स्थविर इति बुद्धिशब्दान्तरादय कार्यविशेषाश्च दृश्यन्ते। तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्। अतो न कार्यकारणविषयाया बुद्धेरेकरूपत्वानुपपत्त्यानेक रूपत्वसिद्धि। अत एव न वाच्यवाचकशब्दभेदोऽपि।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।२) इत्यत्र सदेवासीदिति सृष्टिप्राक्काले ब्रह्माभेदप्रतिपादनमुखेन सत्का र्यवादमुक्त्वा तद्विरोध्यसत्कार्यवाद नैयायिकाभिमतं वाचारम्भणमि त्यादिना प्रतिक्षिप्तमपि कण्ठत प्रतिक्षेप्तु तन्मत "तद्धैक आहुरस देवेदमग्र आसीत्" (छा० ६।२।१) इत्यादिनोपन्यस्य "कथमसत सज्जायत" (छा० ६।२।२) इत्यादिना निराकृतम्। तदेतत्कार्याव स्थस्य कारणावस्थस्य च चिदचिद्वस्तुन स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च पर ब्रह्मशरीरत्वम्। परस्य च ब्रह्मण आत्मत्वमन्तर्यामिब्राह्मणादिषु सिद्ध स्मारितम्। अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयावस्थिते नाम रूपव्याकरणवचनाच्चिद्वस्तुशरीरक ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यम्। सदे वेदमग्र एकमेवासीदित्यादिसर्वमुपपन्नतरम्। शरीरभूतचिदचि द्वस्तुगतास्सर्वे विकाराश्चापुरुषार्था इति ब्रह्मणो निरवद्यत्व कल्याण गुणाकरत्वञ्च सुस्थितम्।

अत्रेद तत्त्वम्। चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकार ब्रह्मैव सर्वदा सर्वशब्दाभिधेयम्। तत्कदाचित्स्वस्मात्स्वशरीरतयाऽपि पृथग्व्यपदे-

शानर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम् । तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम्। तच्च कार्यावस्थमिति कारणात्परस्माद् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्च कारणावस्थायां कार्यावस्थायाञ्च श्रुतिशतसिद्धया स्वभावव्यवस्थया च गुणदोषव्यवस्था "न तु दृष्टान्तभावात्" (ब्र० सू०) इत्यत्रोक्ता बोध्येति सर्वमवदातम् ।

ये तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयणेन वर्णयन्ति न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिद्ध्यति। सत्यमिथ्यार्थयोरैक्यानुपपत्तेः। तथा सति ब्रह्मणो मिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वं वा स्यात् । तस्मादस्मदुपवर्णितप्रकारेणैवानन्यत्वं जगद्ब्रह्मणोरिति सिद्धम् ॥२।१।१५॥

भावे चोपलब्धेः ॥२।१।१६॥

कार्यकारणयोर्भावे सद्भावे सति तयोः कार्यकारणत्वोपलब्धेः कार्यस्य कारणानन्यत्वमुपपद्यते, न तु रज्जौ सर्पस्याभावात्तयोरन्यतरस्याभावे। अथवा भावे विद्यमाने मृदादौ घटादीनां सद्भावत्वोपलब्धेर्घटादीनां मृत्परिणामत्वमृद्विकारत्वोपलब्धेः। यद् यस्मिन्न विद्यते तत्तस्मान्नोत्पद्यते । यथा गोधूमाद्गोधूमा एवोत्पद्यन्ते न चणकादयः। चकाराद् भावे विद्यमाने घटादौ मृद उपलब्धेश्च मृदो घटादावन्वयात्तदधिकत्वेन तद्व्यतिरिक्तत्वाच्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां घटादिकारणत्वनिष्पत्तेः। यथा कार्याणां घटादीनां तदनन्यत्वं निष्पद्यते तथैव सृष्टेः पूर्वं भावे चिदचिच्छरीरके ब्रह्मणि जगतः सूक्ष्मरूपेण विद्यमानस्य श्रुतिभ्य उपलब्धेः। भावे विद्यमाने जगति चिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणो विद्यमानत्वस्य प्रत्यक्षतः शास्त्रतश्चोपलब्धेः ॥२।१।१६॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥२।१।१७॥

अवरस्य कार्यस्य घटादेर्घटाद्युत्पत्तेः प्राङ्मृदादौ सत्त्वान्मृदोऽनन्यत्वं यथोपलभ्यते तथा कार्यस्य जगत सृष्टेः पूर्वं ब्रह्मणि सत्त्वाच्च ब्रह्मानन्यत्वं निष्पद्यते ॥२।१।१७॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद् युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥२।१।१८॥

यच्च कार्योत्पत्तेः प्राक् कारणे सद्भाव कार्यस्याभिहितस्तदसत् "असदेवेदमग्र आसीत्" (छा० ६।२।१) "असद्वा इदमग्र आसीत्" (श० ब्रा० ६।१।१) इत्यादिनोत्पत्तेः प्रागसत्त्वव्यपदेशादिति चेन्न। आसीदिति क्रियायास्तत्सत्त्वबोधकत्वेनासदिति पदस्य नामरूपरहितवस्तुपरत्वावगमात्। शिखाध्वस्ते 'शिखी ध्वस्त' इतिवन्नामरूपासत्त्वे वस्तुनोऽप्यसत्त्वव्यपदेशस्योपपत्तेः।

एतदेव स्फुटयति। धर्मान्तरेणेति। व्याकृतनामरूपधर्मापेक्षया ह्यव्याकृतनामरूपत्वस्य धर्मान्तरत्वात्। तेन धर्मान्तरेणाव्याकृत नामरूपत्वेनास्यासदिति व्यपदेशस्यासन्नामरूपवस्तुपरत्वोपपत्तेः। न ह्यसदितिशब्दस्यात्यन्तासत्त्वबाधकत्वमुपपद्यते। अपि त्वव्याकृतनामरूपवस्तुपरत्वमेव। कुत इदमवगम्यते? वाक्यशेषात्। "तस्मादसत सज्जायत" (छा० ६।२।१) "ततो वै सदजायत" "तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै० २।७।) इति वाक्यशेषेऽसच्छब्दाभिहितस्य वस्तुन एव सच्छब्देनाभिधानात्। तत एव च सृष्टथभिधानात्। नह्यत्यन्तासत सत्त्व शक्यं वक्तुम्। नह्यत्यन्ततुच्छादसत सृष्टिः सम्भवतीति प्रकृतेऽसत्पदेनाव्याकृतनामरूपात्मिका व्यपदेशानर्हा सूक्ष्मावस्थैवाभिधायते।

युक्तिस्तावद् "तस्मादसतः सज्जायत" (छा० ६।१।१) इत्य-

सच्छब्दोऽव्याकृतनामरूपवस्तुपर सत एव सदुत्पत्तेर्दर्शनात् । असत सदुत्पत्तौ कोद्रवादिभ्यो गोधूमचणकादीनामपि कदाचिदु त्पत्ति स्यात् । सर्वेषु सर्वाभावस्य सत्त्वात् । तस्मादसत सदुत्पत्ते रसम्भवादसच्छब्दोऽसन्नामरूपसद्वस्तुपर एव । शब्दान्तराच्च "स देव सोम्येदमग्र आसी"दिति सच्छब्देनापक्रमाच्च सदेवासीन् । तत एव च जगदुत्पत्तेरिति ॥ २।१।१८ ॥

पटनच्च ॥२।१।१९॥

यथा कारणभूतास्तन्तव एव पट इत्यभिधा लभन्ते । तत्र नाम रूपावस्थाविशेषस्यैव भेदो न तु वस्तुतो भेद । एव सूक्ष्मचिद चिच्छरीर ब्रह्मैव स्थूलचिदचिच्छरीरक जगदित्युच्यते । अत्रापि नामरूपावस्थाविशेषस्यैन भेदो वस्तुतस्त्वभेद इति जगतो ब्रह्मा नन्यत्वमेव ॥ २।१।१९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥२।१।२०॥

यथा वायुरिति त्रिवृत्कृतो वायुरेक एव स्थानविशेषमास्थाय प्राणापानादिसज्ञा लभमान कार्यान्तराणि विधत्ते । तथैव सूक्ष्म चिदचिच्छरीर ब्रह्मापीह स्थूलचिदचिच्छरीर भवज्जगदित्याख्या लभत इति जगतो ब्रह्मानन्यत्व सिद्धम् ॥ २।१।२० ॥

इत्यारम्भणाधिकरणम् ।

(*अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ।*)

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२।१।२१॥

इतरस्य जीवस्यारम्भणशब्देन "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्त्वम सीत्यादि"भिर्ब्रह्माभेदेन तदनन्यत्वव्यपदेशात् । ब्रह्मणश्च ' यतो वा

इमानि" (तै० ।३।१।) इति नामरूपव्याकरणपूर्विकायाः सृष्टे श्रवणात् । जगत्सर्गे जीवस्य दुःखित्वजरामरणादिब्रह्मधर्मरहितत्व-दर्शनाद्, ब्रह्मणि स्वानन्यस्य जीवस्य हिताकरणादि हितस्य वाञ्छितस्याकरणम् । आदिपदेनावाञ्छितस्यादुःखजरामरणादेः करण चेतिदोषस्य प्रसक्ति स्यादतो ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं जगत-स्तदनन्यत्वं च न सम्भवतीति ॥ २।१।२१ ॥

सिद्धान्तयति—

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् ॥२।१।२२॥

तुशब्द पूर्वपक्षव्यावर्तक । जन्मजरामरणादिदुःखराशेर्जीवादधिकमर्थान्तरभूतम्ब्रह्म । कस्मात् ? भेदनिर्देशात् । "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" (श्वे० ६।९) "स कारण करणाधिपाधिप" (श्वे० ६।९) "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (श्वे० ६।१) "पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा" "तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मु० ३।१।१।) "यस्यात्मा शरीरम्" (छ० ३।७।२२) इत्येवमादिभि सर्वज्ञत्वेशत्वतत्पतित्वतत्स्रष्टृत्वाकर्मवश्यत्वतत्से-व्यत्वादिधर्मैरज्ञत्वादिधर्मवतः प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणो भेदेन निर्देशात् । व्याप्यत्वेनाल्पदेशवर्तिन प्रत्यगात्मनो व्यापकत्वेनाधिक-देशवर्तिन परमात्मन आधिक्यनिर्देशाच्च । तथा च तत्वमस्यादि-श्रुतयो जीवस्य ब्रह्मव्याप्यत्वेन तदपृथक्सिद्धेस्तदभिन्नसत्ताकत्वाद नन्यत्व ज्ञापयन्ति । ज्ञाज्ञावित्येवमाद्या श्रुतयो जीवब्रह्मणो स्वरूप भेदं बोधयन्ति । एवञ्च जीवपरयोर्भेदस्य श्रुतिशतसिद्धत्वाज्जीवानां प्राक्तनकर्मानुगुण्येन ब्रह्म तद्विलक्षणा सृष्टिं करोति । तथा- [illegible] सुखदुःखादिभाक्त्व जीवानामिति न कथमपि [illegible] । न वा तस्य तदनन्यत्वविरोधो न च स्वरूप-[illegible] सम्भव[illegible] ।

परैर्भेदश्रुतीनामौपाधिकत्वमभेदवादिनीनान्तु पारमार्थिकत्वमित्युच्यते । तदयुक्तम् । तथा सति हिताकरणादिदोषस्यानिवार्यत्वं स्यात् । अभेदश्रुतीनां पारमार्थिकत्वं भेदश्रुतीनान्त्वौपाधिकत्वमित्युक्तौ प्रमाणाभावश्च ।

एवञ्च "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" (ब्र सू २।१) इत्यनेन जगतो ब्रह्मोपादानत्वं तेन तदनन्यत्वमुपपाद्य तत्र केवलस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं चिदचिद्विशिष्टस्य वेत्याशङ्कानिवृत्तये केवलस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे जगद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिमभिधायाधिकन्तु भेदनिर्देशादिति चिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं स्फुटीकृतम् । ततश्च तत्त्वमस्यादिश्रुतीनां ब्रह्मणो जगदुपादानकारणत्वबोधनेन साफल्याद् भेदश्रुतीनां केवलस्य तस्य जगत्कारणत्वे दोषनिदर्शनेन चिदचिद्विशिष्टस्यैव ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं स्फुटीकरणत्वेन सार्थक्यादुभयविधश्रुतीनां सार्थक्यं निष्पद्यते । जीवब्रह्मणोर्भेदस्य वास्तविकत्वेन लौकिकवैदिकव्यवहाराणां कर्मज्ञानभक्तियोगप्रतिपादकश्रुतीनामर्थपञ्चकबोधकानां सर्वेषां वेदान्तानां वेदोपबृंहणीभूतस्मृतीतिहासपुराणादीनाञ्च सर्वेषां सार्थक्यमुपपद्यतेतराम् । जीवस्वरूपस्य काल्पनिकत्वे तु सर्वमिदमसङ्गतं स्यात् । तस्माद्वेदैकप्रमाणे सर्वेषां वेदान्तानां सार्थक्यनिष्पत्तयेऽवश्यं ब्रह्मणा भिन्नस्य जीवस्वरूपस्य वास्तवत्वमङ्गीकर्तव्यमिति ॥ २।१।२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२।१।२३॥

यथा पृथिवीविकाराणामश्मनां वज्रवैडूर्येन्द्रनीलपद्मरागादीनां पृथिव्यैक्यमुपपद्यते । यथा काष्ठभेदानां तृणादीनामचिद्विशेषाणामचिदैक्यञ्चोपपद्यते न तु निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणसागरब्रह्मस्वरूपेणैक्यम् । तथा चेतनस्यापि कर्मपरतन्त्रत्वाज्ज्ञत्वानी

शत्वनियम्यत्वादिधर्मकस्यापहतपाप्मत्वसर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियामकत्वादिधर्मविशिष्टेन ब्रह्मस्वरूपेणैक्यानुपपत्तिरवगन्तव्येति । "अयमात्मा ब्रह्म" तत्त्वमसीत्यादिसामानाधिकरण्यनिर्देशस्तु "यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिश्रुतिभिर्जीवस्य ब्रह्मशरीरत्वेन ब्रह्मप्रकारत्वावगमार्थं इति सर्वं समञ्जसम् ॥२।१।२३॥

इति सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ।

अथोपसंहारदर्शनाधिकरणम् ।

उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्धि ॥२।१।२४॥

लोके कुलालादेर्दण्डचक्राद्युपसंहारदर्शनादुपादानस्य मृदः स्व भिन्नकुलालाद्युपसंहर्तृदर्शनाद्वाऽसहायस्य ब्रह्मणो न जगत्कर्तृत्वं तदुपादानत्वञ्चोपपद्यत इतिप्राप्त आह "इति चेन्न, क्षीरवद्धी"ति । यथा क्षीरमसहायं दध्याकारेण परिणमते तद्वच्चिदचिच्छरीरं ब्रह्मापि जगदाकारेण परिणमते । दृष्टान्तभूतस्य क्षीरस्य त्रिवृत्कृतत्वेन त्र्यात्मकत्वान्न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विरोध । श्रुतिरपिजगत्सृष्टौ निरपेक्षत्वमेव ब्रह्मणोऽभिधत्ते "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप" (श्वे० ६।९।) इति । अत्र यथाक्षीरस्य दध्याकारेण परिणामेऽपिश्रयणातञ्चनादियोगाऽपेक्षितस्तथा ब्रह्मापि प्रकृतियोगमाश्रित्य जगज्जनयतीति दृष्टान्तसाम्यम् ॥२।१।२४॥

देवादिवदपि लोके ॥२।१।२५॥

यथा देवादय स्वे स्वे लोके स्वसंकल्पमात्रेणैव वस्तूनि सृजन्ति । तथा परमात्मापि स्वसंकल्पमात्रेण सर्वं जगदुत्पादयतीति ॥२।१।२५॥

इत्युपसंहारदर्शनाधिकरणम् ।

अथ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२।१।२६॥

ननु ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं न सम्भवति । कुत ? तस्य सावयवत्वे कृत्स्नस्य दुग्धस्य दध्याकारेण परिणामवत्कृत्स्नस्य ब्रह्मणो जगदाकारेण परिणामप्रसक्तेः । ततश्च तस्य कार्यातिरिक्तत्वानुपपत्तेः । चिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मण कारणत्वकर्मत्वपक्षेऽपि शरीरांशस्यापि तस्य कार्यत्वप्रसङ्गः । तस्य निरवयवत्वपक्षे निष्कलमित्यादि निरवयवत्वशब्दकोपप्रसक्तेरिति न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमिति पूर्वपक्षः ॥२।१।२६॥

सिद्धान्तयति—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२।१।२७॥

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । नैव कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति । कुतोऽवगम्यते ? श्रुतेः । 'एतावानस्य महिमा ततोज्यायाश्च पूरुषः" (यजु०) "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" (यजु०) इत्येव कृत्स्नस्य जगतस्तत्पादमात्रत्वश्रवणात् । ब्रह्मणो जगद्व्यतिरिक्तत्रिपादत्वेनाधिक्यश्रवणाच्च । "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति गीतास्मृतेश्च । ननु दुग्धदध्यादिन्यायेन श्रुतेर्बाधितत्वान्न तदुक्तमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह शब्दमूलत्वादिति । 'नैषा तर्केण मतिरापनेया" (क० १।२।९) इति श्रुतेस्तर्काप्रतिष्ठानादित्यादिन्यायाच्च 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३।९।२६) इति तस्योपनिषन्मात्रगम्यत्वस्यैवाभिधानात् । "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति च ब्रह्मणो वेदमनधिगतवतोऽज्ञेयत्वबोधनेन तस्य वैदिकप्र

माणकत्वं निष्पद्यते । तथा च सावयवनिरवयवत्ववादिभिर्वचनैरपि न विरोधो ब्रह्मणो जगदुपादानत्वस्येति ॥२।१।२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२।१।२८॥

विचित्राश्च यथाग्न्येकदेशस्यानेकप्रकारवस्तुकरणेनानेकधा शक्तिर्दृश्यते । यथा जलैकदेशस्यानेकप्रकारवस्तुपिण्डीकरणेनानेकधा शक्तिरवगम्यते । एवं ब्रह्मण्यपि विचित्रसृष्टिरचनाहेतुभूता विचित्रा शक्तयः सन्ति । तथा च "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्य-ज्ञानगोचराः । यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः । भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता" (वि० पु० अ० १ अ० ३।२।३) इति विष्णुपुराणवचनादवगम्यते । एवञ्च सूक्ष्मचिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मणोऽपि विचित्रजगद्रचनोपपद्यते ॥२।१।२८॥

इतश्च ब्रह्मण एव जगत्कर्तृत्वम् ।

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २।१।२९ ॥

साङ्ख्यपक्षेपि प्रधानस्य सावयवत्वे निरवयवत्वे च कृत्स्नप्रस-क्त्यादिदोषप्रसक्तेश्च ॥ २।१।२९ ॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥२।१।३०॥

पूर्वं परादेवता सर्वशक्तियुक्तेत्यभिहितम् । तस्याश्च सर्वशक्तियुक्तत्वमिदानीमनेन दर्शयति । सर्वोपेता सर्वशक्तियुक्ता परादेवता कुतः ? तद्दर्शनात् । "सर्वकर्मा सर्वगन्धः" "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" (श्वे० ६।८।) इत्येवमादिश्रुतिषु तस्याः सर्वशक्तियोगः स्पष्टमभिधीयते ॥ २।१।३० ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥२।१।३१॥

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते" (श्वे० ६।८) इति ब्रह्मणः करणरहितत्वश्रवणान्न जगत्कारणत्वमुपपद्यत इति चेत्तदुक्तम् । यद

त्रोत्तर वक्तव्यं तत्पूर्वमेवोक्तम् "विलक्षणत्वात्" "देवादिवदपि लोके" "श्रुतेश्च शब्दमूलत्वात्" इत्यादिषु। "स कारण करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप" (श्वे० ६।९।) "प्रधानक्षेत्रज्ञनियामकस्य च 'स कारण' मिति सर्वकारणत्वश्रवणात्"। "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यत" इति तु विलक्षणविविधशक्तेस्तस्य करणाधीना जगद्रचना नास्तीति ज्ञाप्यते। अन्यथा "स कारण कारणाधिपाधिप" इति श्रौतवाक्येन सम विरोध स्यादेकस्याऽप्रामाण्य वेति यथोक्तमेव मन्तव्यमिति ॥ २।१।३१ ॥

इति कृत्स्नप्रसक्त्याधिकरणम् ।

(*अथ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ।*)

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥२।१।३२॥

स्वत एवावाप्तसमस्तकामस्य ब्रह्मणो जगत्सृष्ट्यादिव्यापारो न सम्भवति। कुत ? सृष्ट्यादिव्यापारस्य प्रयोजनवत्त्वात्। प्रयोजनमन्तरेण प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्ते ॥ २।१।३२ ॥

सिद्धान्तमाह—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥२।१।३३॥

यथा राजादेर्लोके कन्दुकादिक्रीडाविशेषा केवल लीलारूपा एवोपलभ्यन्ते तथाऽवाप्तसमस्तकामस्यापि ब्रह्मणो जगत्सृष्ट्यादयो व्यापारा लीलाकैवल्यमेव। केवलमेव कैवल्यम्। लीलामात्रमिति भावः ॥ २।१।३३ ॥

ब्रह्मणो लीलार्थमपि जगत्सृष्ट्यादिक न सम्भवति, देवमनुष्यपशुपक्षिकृमिकीटादिविषमसृष्ट्या तत्रैव वैषम्यप्रसक्ते.। सर्वसंहर्तृत्वेन च नैर्घृण्यप्रसक्तेरित्याशङ्क्याह—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥२।१।३४॥

ब्रह्मणो विषमसृष्टिजगत्संहारप्रयोजके वैषम्यनैर्घृण्ये न स्याताम्। कुतः? सापेक्षत्वात्। जीवानां पूर्वकर्मसापेक्षत्वात्। परमेश्वरो जीवकृतपूर्वशुभाशुभकर्मानुसारेण देवमनुष्यादिरूपां विषमां सृष्टिं तत्संहारञ्च करोति। अतस्तत्तत्कर्मैव तत्तद्वैषम्ये तत्संहारे च हेतुर्न परमेश्वरः। तथा हि दर्शयति। पूर्वार्जितकर्मानुसारेण शुभामशुभाञ्च सृष्टिं दर्शयति श्रुति। "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" (बृ० ४।४।५) इति न चात्र कर्मैव देवमनुष्यादिसृष्टिहेतुश्चेत्तर्हि किमीश्वरेणेति वाच्यम्। बीजे सत्यपि पर्जन्यमन्तरेणाङ्कुरोत्पत्तिर्यथा न भवति तथा कर्मसु सत्स्वपि परमात्मानमन्तरेण न देवमनुष्याद्याकारा जगत्सृष्टिरुपपद्यत इति ॥२।१।३४॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥२।१।३५॥

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) इत्यादिना सृष्टेः पूर्वं कर्माविभागनिश्चयान्न तदानीं कर्मास्तीत्यतस्तत्सापेक्षा विषमा सृष्टिर्नोपपद्यते। अथेश्वरस्यैव तत्तत्कर्मणोऽपि कर्तृत्वमभ्युपेयत इतिचेत्तत्तत्कर्मोत्पादनहेतुका तत्र वैषम्यनैर्घृण्यापत्तिस्तदवस्थैवेति चेन्न, जीवानां कर्मणाञ्चानादित्वाद्बीजवृक्षवत् कर्मणां देवमनुष्यादीनाञ्च हेतुहेतुमद्भावस्यानादित्वावगमात्। कुतः? संसारस्यानादित्वमित्यत आह–उपपद्यते चाप्युपलभ्यते चेति। अकस्मादेव सृष्टिस्वीकारे पूर्वसृष्टिसादृश्यानुपपत्तिः। मुक्तस्यापि पुनः सृष्टिप्रसङ्गो दुर्निवारः। तस्माज्जगतोऽनादित्वमभ्युपेयम्। श्रुतिस्मृत्योरप्यस्यानादित्वमुपलभ्यते। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते" (श्वे०

४।५।) इति प्रकृतिपुरुषयोरजत्वश्रुते "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्युत्तरसृष्टे पूर्वसृष्टिसादृश्यश्रवणाच्च जगतोऽनादित्व सिद्धम् ।

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।" (गी०) इति प्रकृति पुरुषयोस्तत्संसर्गरूपससारस्य चानादित्वस्मरणात् ॥२।१।३५॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥२।१।३६॥

प्रधानकारणताया येषा धर्माणामनुपपत्तिरुक्ता तेषा कारण त्वोपपादकानां धर्माणा समेषामेव पूर्वोक्तानामनुक्तानामप्यनवधि कनिरतिशयासङ्ख्येयज्ञानशक्त्यादिगुणविशिष्टे ब्रह्मण्युपपत्तेश्च ब्रह्मैव जगत्कारणमितिनिरवद्यम् ॥२।१।३६॥

इति प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तसगुणपुरुषनत्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्याकविन्दु श्रीपीठसत्याचक
श्रीमद्रामानन्दाद्याचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
सङ्क्षिप्तसारे द्वितीयाध्यायस्य
प्रथम पाद ॥ १ ॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य सङ्क्षिप्तसारे

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ।

समतीतेन ग्रन्थेन साङ्ख्यादिकल्पितानर्थनिरासेन वेदान्तवाक्यानां परमपुरुषे ब्रह्मणि समन्वयः प्रदर्शितः । अथ मुमुक्षूणां सम्यग्ब्रह्मस्वरूपावगमाय साङ्ख्यादिमतदूषणप्रधानो द्वितीयपाद आरभ्यते—

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥२।२।१॥

पूर्वं वेदान्तानां प्रधानपरत्वनिरासेन ब्रह्मपरत्वमेव दृढीकृतमिह तु वेदविरुद्धानां प्रधानसाधकयुक्तीनां मृषात्वमुच्यत इति न पौनरुक्त्यम् । तत्र साङ्ख्याभिमतः केवलमचेतनं प्रधानं जगतः कारणमिति वादः किं सद्युक्तिमूल आहोस्विदसद्युक्तिक इति संशयः । किं युक्तम् ? सद्युक्तिमूल इति । तथा हि गुणत्रयात्मकं जगत्प्रधानोपादानकमेव स्यात् । जगतः सुखदुःखमोहमयत्वात् । सुखादीनाञ्च सत्त्वादिगुणानां कार्यत्वात् । यद्यन्मयं तत्तदुपादानकमेव लोके दृष्टम् । यथा मृण्मयो घटो मृदुपादानक एवेति । एवञ्च सुखदुःखमोहात्मकत्वेन दृश्यमानं सर्वं जगत्सत्त्वादिगुणत्रयात्मकमेवेति सद्युक्तिकः प्रधानकारणवाद इति प्राप्त आह । रचनानुपपत्तेश्च नानुमानमिति । अनुमानमनुमानसिद्धं प्रधानं न जगतः कारणम् । कुतः ? रचनानुपपत्तेः । अचेतनस्य प्रधानस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वाभावेन स्रष्टव्यज्ञानतद्रचनाशक्त्यसिद्ध्या विचित्रजगद्रचनानु

पपत्तेः। चकारात्प्रधानस्याचेतनत्वेन जीवैर्जन्मान्तरानुष्ठितयोः पुण्य पापयोस्तद्गतबहुत्वाल्पत्वयोश्च ज्ञानमेव न स्यात्। तदभावे च सृष्टि-वैषम्यमपि दुःशकम्। आकस्मिकविषमसृष्टौ च सम्पन्नयोर्वैषम्य-नैर्घृण्ययोः प्रधान एवापत्तिः स्यात्। अतोऽचेतनस्य प्रधानस्य सर्वज्ञब्रह्मान्तरेण नोपपद्यते जगदुपादानत्वम् ॥२।२।१॥

* प्रवृत्तेश्च ॥२।२।२॥

अनुपपत्तेरित्यनुवर्तते। सत्त्वादीनां साम्यावस्था प्रधानमित्यु-च्यते। तत्साम्यावस्थास्पन्दनानन्तरमेव गुणा अङ्गाङ्गिभावमासाद्य कार्यं जनयन्तीति सांख्यसमये प्रधानस्वतन्त्रकारणत्वे स चानुपपन्नः। लोके चेतनानधिष्ठितस्याचेतनस्य प्रवृत्त्यदर्शनात्, चेतनानधिष्ठि-तस्य प्रधानस्य विचित्रजगद्रचनानुरूपाया साम्यावस्थास्पन्दन-रूपाया प्रवृत्तेरनुपपत्तेश्च न प्रधानं स्वातन्त्र्येण कारणम् ॥२।२।२॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥२।२।३॥

वत्सपानार्थं स्वयमेव क्षीरस्य प्रवृत्तिदर्शनाज्जलस्य स्वयमेव प्रस्रवणदर्शनाच्च प्रधानस्यापि स्वयमेव तद्वत्प्रवृत्तिरुपपद्यत इति चेत् परिहरति तत्रापीति। तत्रापि परमात्मन एव प्रेरकत्वश्रवणात्। "योऽप्सु तिष्ठन् यस्यापः शरीरम् योऽपोऽन्तरो यमयति" (बृ० ३।८।४।) "यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।१५) इत्यादिश्रुतयः परमपुरुषस्यैव तत्र तत्र नियामक-त्वमभिदधते ॥ २।२।३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥२।२।४॥

"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानादिति" सांख्यवचनात् "तद्धेदं तर्ह्य-व्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति श्रुतेश्चाव्याकृतनाम-

* इदं सूत्रं श्रीभाष्ये नास्ति। विद्यते च निम्बार्कभाष्ये शाङ्करभाष्ये च।

रूपस्य कृत्स्नस्य प्रधानस्य व्याकृतनामरूपात्मकव्यक्तशब्दवाच्यतया द्रूपत्वावगमात्स्वतन्त्रस्य प्रधानस्य कारणत्वे तस्य कार्यव्यतिरेकेणानवस्थितेरवस्थितेरभावप्रसङ्गात्। ननु ज्ञशब्दवाच्यस्य पुरुषस्य कार्यव्यतिरेकेण कारणतयाऽवस्थितिरस्त्वित्याशङ्क्याह "अनपेक्षत्वात्" "न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" (सा० का०) इति साङ्ख्ये पुरुषस्य कारणत्वकार्यत्वयोरुभयोर्निषेधेन प्रधानस्य कार्यरचनायां चेतनसहकारित्वानपेक्षत्वादनभ्युपगमादित्यर्थः । तस्मान्न प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कारणत्वमुपपद्यते। ब्रह्मणः कारणत्वे तु "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" इत्येवमादिश्रुतिभ्यः "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति स्मृतेश्च ब्रह्मणः पादांशमात्रेण जगदुपादानत्वावगमादवशिष्टस्य कार्यव्यतिरेकेणावस्थितेर्नोक्तदोषावकाश इति ॥२।२।४॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥२।२।५॥

यथा धेन्वादिभक्षितं तृणादिकं स्वयमेव क्षीराकारेण परिणमते तथा प्रधानमपि स्वयं जगदाकारेण परिणमते इति चेन्न। तत्र तृणादेः क्षीराकारपरिणामे परमेश्वरस्य हेतुत्वात् । अन्यथा बलीवर्दादिभुक्तस्यापि तृणादेः क्षीराकारेण परिणामः स्यादित्याह अन्यत्राभावाच्चेति। अन्यत्रानडुहादौ भुक्तस्य तृणादेः क्षीराकारेण परिणामाभावात् गोमयाद्याकारेण परिणामस्य दर्शनाच्च ॥२।२।५॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥२।२।६॥

प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि प्रयोजनाभावान्न तत्प्रवृत्तिरुपपद्यत इत्यर्थः । तथा हि, प्रधानस्य प्रवृत्तिः स्वार्था वा पुरुषस्य भोगार्था वा तन्मोक्षार्था वा ? नाद्यः । प्रधानस्याचेतनत्वेनापेक्षाभावात्। न द्वितीयः । भोग्यानामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। नापि

तृतीय । भोगाभावप्रसङ्गात् । प्रधानस्याप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च । तदेव प्रयोजनाभावात्तत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्न प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कारणत्वम् ॥२।२।६॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥२।२।७॥

अचेतनमपि प्रधानं चेतनः पुरुषो निष्क्रियोऽपि स्वसन्निधानमात्रेण सर्गादौ प्रवर्तयति यथा सचक्षुः पङ्गुः पुरुषोऽन्धमपङ्गुम्प्रवर्तयति । यथा वायस्कान्ताश्मा स्वसन्निधानमात्रेणाय प्रवर्तयति तद्वदिति चेत् परिहरति । तथापीति । तथापि दोषसद्भावात् । तथा हि प्रधानस्य पुरुषप्रवर्त्यत्वे तत्स्वातन्त्र्यहानि । पुरुषस्य प्रवर्तकत्वे तस्यौदासीन्याकर्तृत्वयोर्भङ्ग । तस्य स्वव्यापारमन्तरेण प्रवर्तकत्वानुपपत्ते । अयस्कान्तस्याय सान्निध्यव्यापारस्तु कादाचित्कत्वेनानित्य इति दृष्टान्तासिद्धे । प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यत्वेन तत्ससर्गस्यापि नित्यत्वात्सृष्टे सार्वदिकत्वेन मोक्षाभावप्रसङ्ग ॥२।२।७॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥२।२।८॥

गुणत्रयसाम्यावस्था हि प्रकृति तस्या कूटस्थत्वपक्षे गुणानामङ्गाङ्गिभावानुपपत्ते सृष्टिप्रवृत्त्यभाव । कुत ? गुणानामचेतनत्वेन कूटस्थतयाऽन्योन्यनिरपेक्षत्वेन तत्साम्यावस्थाप्रच्युतेरभावात् । कथञ्चित् तेषा प्रच्युतिस्वीकारे कौटस्थ्यहानि । प्रकृतेर्विकारित्वे तु स्वत साम्यावस्थाया प्रच्यवस्वीकारेण सर्वदा सृष्टिप्रसङ्ग । न च पुरुषसन्निधानादेव साम्यावस्थाभङ्ग इति वाच्यम् । तस्यौदासीन्यादकर्तृत्वाच्च । सन्निधिमात्रेण कार्यसत्त्वे तु प्रकृतिपुरुषयोरुभयोरपि नित्यत्वात्सर्वदा सान्निध्ये शश्वत्सृष्टिप्रसङ्ग । तस्मात्तत्प्रच्युत्यसिद्ध्यातदङ्गाङ्गिभावानुपपत्ते सृष्ट्यभावाद्यनेकदोषापत्त्या न प्रधानस्य जगत्कारणत्वमुपपद्यते ॥२।२।८॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥२॥२॥९॥

इदं जगत्त्रिगुणात्मककारणकं भवितुमर्हति, त्रिगुणमयत्वात्। यद् यन्मयं भवति तत् तस्य कार्यं भवति। यथा मृण्मयं घटादिकं मृदः कार्यं भवतीत्यन्यथानुमितौ जगत्सृष्टेर्गुणानामङ्गाङ्गिभावं विनानुपपत्त्या तदङ्गाङ्गिसम्भवाज्जगदुत्पत्तिः सम्भवतीति चेन्न। कुतः? ज्ञशक्तिवियोगात्। गुणानां ज्ञानशक्तिसंयोगरहितत्वात्। एतदुक्तम्भवति। गुणानां स्वतः साम्यावस्थातः प्रच्यवो निमित्तान्तरेण वा। न तत्राद्यः। सर्वदा वैषम्यप्रसङ्गात् साम्यावस्थाया एवाभावप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। निमित्तान्तरस्य तदानीमसत्त्वात्। तस्मान्न प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण कारणत्वम् ॥२।२।९॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥२।२।१०॥

सांख्या हि प्रकृतेः परार्थत्वेन पुरुषो द्रष्टाभोक्ताधिष्ठाता चेत्याहुः। पुनः पुरुषश्चैतन्यमात्रवपुर्नित्यो निर्विकारो न द्रष्टा न भोक्ता न कर्तेति चाहुः। पुनस्तस्यैव चैतन्यमात्रवपुषो निष्क्रियस्य नित्यस्य निर्विकारस्येतरेतराध्यासकृतप्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तद्विवेकरूपो मोक्षश्चेति तथा परस्परविरुद्धभाषणात्, तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रासर्गं क्वचिच्चाहङ्कारात् तत्सर्गं क्वचिदेकादशेन्द्रियाणि क्वचित्त्वगिन्द्रिये ज्ञानेन्द्रियाण्यन्तर्भाव्यैकं त्वगिन्द्रियं पञ्चकर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति सप्तेन्द्रियाण्याहुरित्येवमन्योन्यप्रतिषेधात्तेषां दर्शनमसमञ्जसम् ॥ २।२।१० ॥

इति रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ।

(अथ महद्दीर्घाधिकरणम् ।)

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥२।२।११॥

एवं प्राधानिकवादं समालोच्य परमाणुकारणवादं समालोच्यते । तत्रायं संशयः । किम्परमाणुकारणवादस्य सामञ्जस्यमाहोस्विदसामञ्जस्यम् ? तत्र सामञ्जस्यमिति पूर्वः पक्षः । कुतः ? अवयवेभ्योऽवयव्युत्पत्त्यङ्गीकारात् । सर्षपमेरुपर्वतादिवैषम्यस्याल्पावयवबह्ववयवकृतत्वदर्शनाच्चावयवाल्पत्वकाष्ठा परमाणुरिति परमाणुसिद्धिः । ते च परमाणवो द्व्यणुकाद्युत्पादनक्रमेणाखिलं ब्रह्माण्डं जनयन्तीति प्राप्ते सिद्धान्तमाह महद्दीर्घवदिति । असमञ्जसमित्यनुवर्तते । वाशब्दश्चार्थकः । ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घवत् त्र्यणुकद्व्यणुकोत्पत्तिवदन्यत्सर्वं च तदभ्युपगतमसमञ्जसम् । तत्र काणादा द्वयोः परमाण्वोः संयोगात् द्व्यणुकं जायते त्रयाणां द्व्यणुकानां संयोगात् त्र्यणुकमुत्पद्यते । एवं चतुरणुकादिक्रमपि ज्ञेयम् । तत्र परिमण्डलात् द्व्यणुकमणु जायते परिमण्डलगतं पारिमाण्डल्यन्तु न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यपरिमाणञ्जनयति । किन्तु परमाणुसमवेतद्वित्वसंख्यैव द्व्यणुकेऽणुत्वमारभते । एवं द्व्यणुकगतह्रस्वाणुत्वे परिमाणे त्र्यणुके स्वसमानजातीये ह्रस्वत्वाणुत्वे नारभेते अपि तु द्व्यणुकगतत्रित्वसंख्यैव महत्त्वदीर्घत्वे आरभत इति वदन्ति ।

तदेतदसमञ्जसम् । यथा कारणभूता अवयवाः संयुज्यमाना अवयविनं कार्यरूपं महान्तं जनयन्ति तथाऽवयवगते ह्रस्वत्वाणुत्वे परिमाणे संयुज्यमाने अवयविनि महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणे किन्न जनयतः । यथा चावयवानां बहुत्वे तदवयविकार्यं बृहज्जायते तथावयवपरिमाणबहुत्वेऽवयविपरिमाणमपि महद्दीर्घं वा जायताम् । त्रित्वसंख्यायास्त्र्यणुकगतमहत्परिमाणकारणत्वकल्पनस्यान्याय्यत्वाच्च ।

किञ्च जगत्कारणत्वेन स्वीकृतानां परमाणूनामपि जडत्वेन चेतनाधिष्ठितिमन्तरेण कार्योत्पादकत्वानुपपत्तेः। परमाणुसमूहभूतानां पृथिव्यादीनाञ्च "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।१) इत्येवमादिसृष्टिवाक्येषु परमात्मनः एवोत्पत्तेः श्रवणाच्च परमाणुकारणवादस्य स्पष्टमसामञ्जस्यं श्रुत्यमूलकत्वञ्च ॥२।१।११॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥२।२।१२॥

सृष्टेः पूर्वं निश्चलयोः परमाण्वोः कर्मणान्योन्यसंयोगेन द्व्यणुकाद्युत्पत्तिं वदन्ति वैशेषिकाः। तत्कर्मादृष्टकारितम्। तददृष्टमणुगतं जीवगतं वा ? नाद्यः पक्षः। अणोरचेतनत्वेन कर्मकर्तृत्वानुपपत्त्या दृष्टस्य तद्गतत्वानुपपत्तेः। द्वितीये, जीवगतादृष्टस्य तन्नामरूपव्याकृतिद्वारा तत्पुण्यपापकर्मफलसुखदुःखभोगहेतुत्वश्रवणाददृष्टपरमाण्वादिकर्मकारयितृत्वानुपपत्तेरित्युभयथापि न कर्म। कर्माभावात्तदभावो द्व्यणुकाद्युत्पत्तिक्रमेण जगत्सृष्ट्यभावः ॥२।२।१२॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥२।२।१३॥

तदभावः इत्यनुषज्यते। तस्य परमाणुकारणवादस्याभाव इत्यर्थः। असम्भव इति यावत्। कुतः ? समवायस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाभावेभ्यः पृथक्पदार्थत्वेन वैशेषिकैरङ्गीकारात्। कार्यकारणयोः समवायसम्बन्धत्वस्वीकाराच्च। साम्यादनवस्थितेः। कारणकार्याभ्यां परमाणुद्व्यणुकाभ्यां समवायिभ्यामत्यन्तभिन्नः समवायः केन सम्बन्धेन समवायिभ्यां परमाणुद्व्यणुकाभ्यां सम्बध्येत। भिन्नत्वसामान्यात्। समवायिभ्यामसम्बद्धस्य सम्बन्धत्वानुपपत्तेः। ततश्च समवायस्यापि समवायिभ्यां भिन्नत्वसामान्यात् सम्बन्धान्तरेण तत्सम्बन्धत्वानुपपत्तेः। स समवायः समवायान्तरेण

समवायिभ्यां सम्बध्यत इत्यवश्य वक्तव्यं ततश्च सोपि समवाय केन सम्बध्यत इत्यपेक्षाया समवायान्तरेण सोपि समवायान्तरेणे त्यन्ताभावेनानवस्थारूपदोषप्रसक्ते । कार्यकारणयो स्वाभाविक स्वरूपसम्बन्धत्वाङ्गीकारे समवायस्य लोपप्रसङ्गात् । ततश्च समवायासिद्ध्या समवायित्वासिद्धेर्द्व्यणुकाद्युत्पत्त्यभावेन जगद्रच-नासिद्धे परमाणुकारणवादस्यासिद्धि ॥२।२।१३॥

नित्यमेव च भावात् ॥२।२।१४॥

समवायो नित्य इतिचेत्तर्हि समवायिनो परमाणुद्व्यणुकयोर्नि त्यत्व विना समवायस्य नित्यत्वानुपपत्ते । समवायिनो परमाणु द्व्यणुकयोर्द्वयोरपि नित्यमेव भावात्तयो कार्यकारणभावासिद्धे परमाणुकारणवादासिद्धि ॥२।२।१४॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥२।२।१५॥

वैशेषिका हि परमाणूनामणुत्व नित्यत्त्व रूपस्पर्शादिमत्वञ्च मन्यन्ते । तेषाञ्च परस्परविरुद्धत्वात्तन्मतमसङ्गतम् । कुत ? रूप-स्पर्शादिमत्वविरोधेन परमाणूनामणुत्वनित्यत्वयोर्विपर्यय । अणु त्वस्य नित्यत्वस्य विपर्यय स्थूलत्वमनित्यत्वञ्चेति बोध्यम् । तथा हि जगत्कारणत्वेन स्वीकृताना परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्यय स्थूलत्व-मनित्यत्वञ्च भवितुमर्हति । तेषा रूपादिमत्वात् । यद्यद्रूपादिमत् तत्तत्स्थूलमनित्यञ्च लोके दृष्टम् । रूपादिमत पटादे स्थूलत्वानि त्यत्वयोर्दर्शनात् । तस्मान्न परमाणुकारणवादस्य सामञ्जस्यम् । २।२।१५॥

उभयथा च दोषात् ॥२।२।१६॥

परमाणूना रूपादिमत्त्वपक्षे तत्र स्थूलत्वानित्यत्वप्रसक्ति । तेषां रूपादिरहितत्वपक्षे रूपादिमता त्र्यणुकादीना पृथिव्यादीनाञ्च

तत्कार्यत्वासिद्धिः। अपरपरमाणुगुणानां रूपादीनां पृथिव्यादिषु दर्शनात्। कार्यगुणस्य कारणगुणपूर्वकत्वमिति हि तन्नयस्तथा चोभयथा दोषादनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥२।२।१६॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥२।२।१७॥

सांख्यतन्त्रस्य सत्कार्यत्वाद्यंशेन शिष्टैर्मन्वादिभिः परिगृहीतत्वात् परमाणुकारणवादस्य तु केनचिदप्यंशेन कैश्चिदपि शिष्टैरपरिगृहीतत्वादनुपपन्नत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षा कार्या परमाणुकारणवादे मुमुक्षुभिरिति ॥२।२।१७॥

इति महद्दीर्घाधिकरणम् ।

अथ समुदायाधिकरणम् ।

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥२।२।१८॥

वैशेषिका आत्मनः स्थायित्वं मन्यन्ते देहादेराशुतरविनाशित्वं चेत्यतोऽर्धवैनाशिकाः। सर्वक्षणिकत्ववादिनो बुद्धमुनिशिष्यास्तु वैभाषिक-सौत्रान्तिक-विज्ञानवादि-सर्वशून्यवाद्याख्याः पूर्णवैनाशिकाः। तत्र वैभाषिका ज्ञानं तद्भिन्नपदार्थाश्च सर्वे क्षणिकाः सत्याः प्रत्यक्षग्राह्याश्चेति मन्यन्ते। सौत्रान्तिकाः सर्वे पदार्थाः क्षणिका अनुमेयाश्चेति मन्यन्ते। विज्ञानवादिनः (योगाचाराः) सर्वे पदार्था विज्ञाने कल्पिता इति मन्यन्ते। शून्यवादिनः (माध्यमिकाः) सर्वं ✽ शून्यमिति मन्यन्ते। एते पूर्णवैनाशिका

✽ न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ इति वचनानुसारेण निर्वचनीयार्थकोहि शून्यशब्दः। परमतत्त्वस्य वाङ्मनसयोरगोचरतया तत्र शून्यशब्द व्यवहारः।

उच्यन्ते । अर्धवैनाशिकमतं निरस्य पूर्णवैनाशिकमतनिरा समुपक्रमते । सौगतमते पृथिव्यादिबाह्यसमुदायः परमाणुहेतुकः । आध्यात्मिकसमुदायः पञ्चस्कन्धहेतुकः । रूपवेदना संज्ञासंस्कार भेदेन स्कन्धाः पञ्च । तेषु विज्ञानस्कन्धश्चित्तमित्यात्मेत्युच्यते । अन्ये स्कन्धाश्चित्तप्रभवत्वाच्चैत्ता इत्युच्यन्ते । एवं च स्कन्ध पञ्चकाज्जगज्जायते । उक्ताभ्यामुभाभ्यां समुदायाभ्यां जगदुत्पद्यते इति तन्मतनिष्कर्षः । तन्निराक्रियते "समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः" इति । परमाणुहेतुके पृथिव्यादिभूतात्मके बाह्य-समुदाये, स्कन्धहेतुके शरीरेन्द्रियविषयरूपाध्यात्मिकसमुदाये चेत्युभयहेतुकेऽपि समुदाये तदप्राप्तिस्तस्य जगदात्मकं समुदायस्या-प्राप्तिः । परमाणूनां स्कन्धानां चाचेतनत्वेन चेतनपरमात्मप्रेरणां विना तत्समुदायत्वानुपपत्तेः । तत्समुदायकर्तुश्चेतनस्यानभ्युपगमाच्च । एवं च सर्वकारणानां परमाणूनामचेतनत्वेन परस्परसंहति हेतुकव्यापारानुपपत्तेस्तेषां क्षणविनाशित्वेन संघातानुपपत्तेश्च न कथञ्चिदपि तेभ्यस्तत्समुदायात्मकं जगदुत्पत्तिरुपपद्यते ॥२।२।१८॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघात-
भावानिमित्तत्वात् ॥२।२।१९॥

कार्यं प्रत्ययते ऽप्राप्नोतीति व्युत्पत्त्या प्रत्ययशब्दः कारण वाचकः । अविद्या संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो वेदनेत्येवं जातीयकानामविद्यादीनामितरेतरप्रत्ययत्वादितरेतरकार णत्वाद् घटीयन्त्रवत् सततमावर्तमानानामविद्यादीनामर्थान्निमित्त मात्रेण संघात उपपद्यते । एतदुक्तं भवति । क्षणिकेष्वपि सर्वेषु भावेषु येयमविद्याऽस्थिरेषु स्थिरत्वबुद्धिरूपा तया चेतदुपपन्नं स्यादेवेति चेन्न, नह्यविद्यया समुदायः शक्यते समुत्पादयितुम् । तस्याः संघातभावस्यानिमित्तत्वात् । विपरीतार्थग्राहिकयाऽविद्यया

नहि वास्तविकं कार्यं शक्यते जनयितुम् । शुक्तिरजतादिषु तथाऽदर्शनात् ॥२।२।१९॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२।२।२०॥

घटादौ कार्ये कारणस्य मृदादेर्विद्यमानत्वं दृश्यते न तु तन्नाशः । तन्नाशे तस्य घटादिकारणत्वं नोपपद्येत । भवद्भिस्तूत्तरस्य कार्यस्योत्पादे उत्पत्तिकाले पूर्वस्य कारणस्य मृदादेर्निरोधान्नाशाङ्गीकारान्मृदाद्यभावे घटाद्युत्पत्त्यभावप्रसङ्गात् । कारणानां मृदादीनां विनाशक्षण एव तद्रूपाणां घटादीनां विनाशप्रसङ्गादित्यर्थः । कारणस्य पूर्वक्षणे विनाशात् तत्क्षण एव तद्विकारभूतस्य कार्यस्य नाशाच्च कार्यकारणयोरुभयोरभावे शून्यस्यैवावशेषाद्वृथैवाविद्यासंस्कारादिद्वारा जगदुत्पत्तिकल्पना ॥२।२।२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२।२।२१॥

असति कारणे कार्योत्पत्त्यङ्गीकारेऽविद्यासंस्कारादीनां कारणत्वं कार्यत्वकल्पनारूपायाः प्रतिज्ञाया उपरोधः स्यात् । अन्यथा कार्योत्पत्तिकालपर्यन्तं कारणं तिष्ठतीत्यङ्गीकारे कार्यकारणयोर्यौगपद्यम् एकस्मिन्काले स्थितिप्रसङ्गश्च । कार्योत्पत्तिपूर्वक्षणे कारणस्य विद्यमानात्कार्योत्पादनकालस्य द्वित्रिक्षणत्वोपपत्तेः क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिः स्यादित्युभयतः पाशरज्जुः ॥२।२।२१॥

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२।२।२२॥

वैनाशिका भावानां बुद्धिपूर्वकमबुद्धिपूर्वकं विनाशमाकाशं चेति त्रयमप्यवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यं निर्हेतुकं तुच्छं मन्यन्ते । तत्र सन्तं घटमसन्तं करोमीत्याकारिका बुद्धिः प्रतिसंख्येत्युच्यते । प्रतिकूला संख्या प्रतिसंख्या । संख्या ख्यातिः । तत्पूर्वको निरोधः पदार्थनाशः प्रतिसंख्यानिरोधः । अतत्पूर्वको निरोधोऽप्रतिसंख्या

निरोध.। आवरणाभावमात्रमाकाशमिति वदन्ति। तयोर्द्वयोर्निरोधयो. सन्तानिषु घटादिषु सन्ताने मृदादौ घटादिकारणे वाप्राप्तिप्राप्त्यसभव.। तयो कार्यकारणयोर्निरन्वयविनाशासम्भव। कुत? अविच्छेदात्। उत्पत्तिविनाशधर्मभागिनो मृदादिद्रव्यस्याविच्छेदात्। किं च सन्तानिनां घटादीना क्षणिकत्वाद् बुद्धिपूर्वको नाशो नोपपद्यते। तदभ्युपगतोबुद्धिपूर्वकोपि समूलनाशो नोपपद्यते। मूलस्य मृदादे' प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। तस्मादुक्तनिरोधयोरसिद्धि ॥२।२।२२॥

उभयथा च दोषात् ॥२।२।२३॥

बुद्धिपूर्वकमबुद्धिपूर्वक च भावाना नाशस्यावस्तुत्वनिरुपाख्यत्वनिर्हेतुकत्वतुच्छत्वस्वीकारे घटादेर्वस्तुतस्तत्पूर्वकनाशासम्भवात्। भावविनाशस्यावस्तुत्वे तुच्छत्वे शशश्रृङ्गस्य कालत्रयेप्यभाववद्भावनाशस्यापि कालत्रये सत्यत्वानुपपत्त्या भावनाशाभावप्रसङ्गात्। तत्पूर्वकभावनाशस्य वस्तुत्वादिस्वीकारे तदवस्तुत्वनिरुपाख्यत्वनिर्हेतुकत्वतुच्छत्ववादस्य हानिप्रसङ्गादित्युभयथापि दोषादसङ्गतं सौगतमतमित्यर्थ ॥२।२।२३॥

आकाशे चाविशेषात् ॥२।२।२४॥

आत्मन आकाशः संभूत इति श्रुतेराकाशस्याप्यात्मजन्यत्वेन तज्जन्यपृथिव्यादिवद् वस्तुत्वरूपादिमत्त्वाबाधितत्वप्रतीतेरविशेषान्न तस्यापि निरुपाख्यत्व तुच्छत्व चेत्यर्थः ॥२।२।२४॥

अनुस्मृतेश्च ॥२।२।२५॥

पुन. क्षणिकत्वनिराश एव युक्त्यन्तर दर्शयति। अनु दर्शनादनन्तर स्मृतिरनुस्मृतिस्तस्या अनुस्मृतेश्च बलात्समर्तुरात्मनःक्षणिकत्वं नोपपद्यते। अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणानुपपत्तेः ॥२।२।२५॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२।२।२६॥

पूर्वस्य क्षणिकत्वेन विनष्टत्वात्तदभावान्निरुपाख्यात्कार्योत्पत्तिर्न सम्भवति। कुत ? असत शशविषाणादे कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वात्। अथवा दृष्टत्वादितिच्छेद। सत एव मृदादे घटादिकार्योत्पत्त दृष्टत्वादित्यर्थ ॥२।२।२६॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२।२।२७॥

एवमसतोऽभावाद्भावोत्पत्त्यङ्गीकारे केषाञ्चिदुदासीनाना तूष्णीमुपविष्टाना लौकिकवैदिकव्यापारेषु कृषियज्ञादिषु प्रवृत्ति रहितानामपि स्वाभीष्टस्यैहिकामुष्मिकस्य सर्वार्थस्य सिद्धि स्यात्त स्माद्बाह्यार्थस्य क्षणिकत्वानुमेयत्ववादिनोर्वैभाषिकसौत्रान्तिकयो र्मतस्य भ्रान्त्यैकमूलत्वादसामञ्जस्यमिति ॥२।२।२७॥

इति समुदायाधिकरणम्।

अथोपलब्ध्यधिकरणम्।

नाभाव उपलब्धेः ॥२।२।२८॥

निरुक्तेनाधिकरणेन बाह्यार्थक्षणिकत्ववादिमत निरस्य विज्ञाना तिरिक्त किञ्चिन्नास्तीतिविज्ञानवादिनो योगाचारस्य मतमपाक्रि यते। तद्योगाचारमत समीचीनयुक्तिमूलमाहोस्विद्भ्रान्तिमूलमिति सशये समीचीन युक्तिमूलमिति पूर्व पक्ष। कुत ? बाह्यार्थास्तित्व वादिनापि तत्तद्ज्ञानेनैव विषयव्यवस्था तत्पार्थक्यञ्चाभ्युपेयम्। तथा चावश्यस्वीकरणीयविज्ञानेनैवेष्टसिद्धावर्थाङ्गीकारस्यायुक्तत्वात्। घटपटादयोऽर्थाश्च विज्ञानस्यैवाकारभेदा। वासनावशाज्ज्ञानस्यैव तथा सन्तान। नीलपीताद्याकाराणामपोहरूपत्वाद्विज्ञान एवाहि

तत्संस्कारत्वेनाखिलविषयकवित्तेरुपपत्तेस्तदतिरिक्तपदार्थसद्भावस्यानुपपत्ते । इति प्राप्तेऽभिधीयते । नाभाव उपलब्धेरिति । विज्ञानातिरिक्तानामर्थानामभावो नोपपद्यते । कुत ? उपलब्धे । घटपटादिकमहं जानामीति घटादिविषयकज्ञानकर्तृणां पुरुषाणां तज्ज्ञेयभूतानां घटपटादीनामर्थानां च विज्ञानात्करणभूतात्पृथक्त्वेनोपलब्धे । न च विज्ञानाकारेण पदार्थानां भानानुपपत्तिरिति वाच्यम् । घटादिसारूप्यं प्राप्तस्य विज्ञानस्य तत्स्वरूपाकारेणैव भासमानत्वात् । अन्यथा घटादिपदार्थसद्भावं विना तत्तदाकारेण तत्तद्भानानुपपत्ते । किञ्च यदि विज्ञानातिरिक्त कश्चित्पदार्थ एव न स्यात्तर्हि कस्य किमर्थं विज्ञानं नीलाद्याकारतामुपयातीति वक्तव्यम्। नहि विज्ञानमेव स्वयं स्वार्थं तत्तद्रूपतामुपैति । प्रयोजनाभावात् ॥२।२।२८॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२॥२॥२९॥

स्वप्नज्ञानदृष्टान्तेन जागरितज्ञानस्य निरालम्बनत्वं न शक्यते वक्तुम् । कुत ? वैधर्म्यात् । स्वप्नादिज्ञानस्य मनःकल्पनामात्रत्वेन बाधितविषयत्वाज्जागरितज्ञानस्य तु प्रत्यक्षप्रमाणजन्यत्वेनाबाधितविषयत्वादित्युभयोर्ज्ञानयोर्वैधर्म्यात् । चकाराद्दृष्टान्तभूतस्वप्नप्रत्ययोऽपि न सर्वथा मिथ्याभूत कश्चित्तस्यापि साफल्यदर्शनात् ॥२।२।२९॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥२।२।३०॥

बाह्यार्थानां घटादीनामभावे केवलस्यार्थविहीनस्य ज्ञानस्य भावो नोपपद्यते । कुत ? अनुपलब्धे । प्रत्यक्षसिद्धस्य विषयस्याभावेऽप्रत्यक्षस्य विषयिणो ज्ञानस्याप्यनुपलब्धे । विषयिणो विषयपदार्थनिरूपितत्वेनैकस्याभावेऽपरस्याप्यभावत्वनिष्पत्तेर्न ज्ञानोपलब्धि स्यादिति ॥२।२।३०॥

क्षणिकत्वाच्च ॥२।२।३१॥

आलय विज्ञानस्यापि क्षणिकत्वाभ्युपगमात् क्षणान्तरे तस्यापि विनाशान्न तद्भावः। आलयविज्ञानस्य भावः स्थितिर्नास्तीत्यर्थो नोपपद्यत इत्यर्थः ॥२।२।३१॥

इत्युपलब्ध्यधिकरणम् ।

अथ सर्वथानुपपत्त्याधिकरणम् ।

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥२।२।३२॥

दर्शनमित्यस्य स्थाने 'पश्यना' स्थानमिति वक्तव्ये 'तिष्ठना' इति चापशब्दप्रयोगाद् ग्रन्थतोनुपपन्नमुक्तप्रकारेणार्थतोऽप्यनुपपन्न- मिति सर्वथानुपपत्तेर्दूरतोनादरणीयमिदं सर्वथा वेदबाह्यं सौगत- मतमिति ॥२।२।३२॥

इति सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ।

(*अथैकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ।*)

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥२।२।३३॥

सौगतसमयनिरासानन्तर विवसनानामार्हतानां मतमपाक्रियते तत्र दिगम्बरमतं सद्युक्तिमूलमाहोस्विदसद्युक्तिकमिति संशये सद्युक्तिकमिति पूर्वः पक्षः। तथा हि जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबंध- मोक्षाख्याः सप्त पदार्था आर्हतमतसिद्धाः। तत्र जीवः कायपरि- माणकश्चेतनो भोक्ता। अजीवो भोग्यवर्गः। विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्ति- रास्रवः। संवृणोतीन्द्रियचापल्यमिति संवरो यमनियमादिः। निर्जर-

स्तपस्तप्तशिलारोहणादिरूपम् । बन्धपदेन तद्धेतुभूतं कर्मोच्यते । मोक्षः कर्मोच्छित्तिः । एवमणुव्यतिरिक्तद्रव्याणामस्तिकायपदेन ग्रहणम् । तेषां च पञ्चभेदाः जीवधर्माधर्मपुद्गलाकाशास्तिकाया इत्येतेषामत्रान्तरानन्तभेदा आर्हतदर्शने प्रदर्शिताः । तेषां सर्वेषां सप्तभङ्गीन्यायेन व्यवस्थितिः क्रियते । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यम्, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमिति तत्स्वरूपम्। एकस्यैव पदार्थस्य कथञ्चिदवस्थाभेदेन देशादिभेदेन च सत्वं तस्यैव च प्रकारान्तरेणासत्वम् । एवमेव सर्वत्रानैकान्त्येन पर्यवस्थानमिति । अत्रोच्यते—नैकस्मिन्नसम्भवादिति । न युक्तोऽनेकान्तवादो जैनानामिति । कुतः ? एकस्मिन् वस्तुनि नित्यत्वानित्यत्वसत्वासत्त्ववक्तव्यत्वावक्तव्यत्वादीनां परस्परविरुद्धानां धर्माणामसम्भवात् । तस्मादसङ्गतमयुक्तञ्च जैनदर्शनम् ॥२।२।३३॥

एवं चात्माकात्स्न्र्यम् ॥२।२।३४॥

यथैषां मते विरुद्धधर्मावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि न सम्भवति । एवमात्मनोऽकात्स्न्र्यस्याप्यसम्भवः । आत्मनो देहपरिमाणत्वे कर्मवशान्मनुष्यात्मनो मशकादिक्षुद्रजन्तुशरीरे कृत्स्नस्य प्रवेशानुपपत्तेः । अकात्स्न्र्यमपरिपूर्णत्वं प्रसज्यते तदानीमल्पपरिमाणत्वात् । अल्पशरीरकमशकाद्यात्मनश्च गजादिकृत्स्नशरीरप्रवेशानुपपत्तेश्चासङ्गतमार्हतमतम् ॥२।२।३४॥

न च पर्य्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥२।२।३५॥

न चैवं पर्यायपदवाच्यसंकोचविकाराश्रयतयात्मनोऽवस्थाभेदाङ्गीकारेणापि विरोधपरिहारः । आत्मनः संकोचविकासधर्मवत्त्वे तत्र विकारित्वादिदोषप्रसङ्गात् । विकारित्वे सत्यनित्यत्वापत्त्या तद्बन्धमोक्षाभ्युपगमस्य बाधात् ॥२।२।३५॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥२।२।३६॥

अन्त्यं मोक्षावस्थस्यात्मनो यत्परिमाण, तस्यैव स्वाभाविकस्य नित्यस्य बद्धमोक्षावस्थायामप्यवस्थित्युपपत्तेरित्यात्मतत्परिमाणयोरुभयोरुभयावस्थायामपि नित्यत्वादविशेषान्न्यूनाधिकभावानुपपत्तेर्नात्मनः शरीरपरिमाणकत्वमुपपद्यते । तस्मादसमञ्जसमेव विवसनदर्शनम् ॥२।२।३६॥

इत्येकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ।

अथ पत्यधिकरणम् ।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥२।२।३७॥

'नैकस्मिन्नसंभवात्' इति सूत्रान्तेत्यनुवर्तते । पत्युः पशुपतेर्मतं नादरणीयम् । कुत ? वेदविरुद्धाचारबोधकत्वेनासामञ्जस्यात् । वेदविरुद्धाचरण तु निमित्तोपादानभेदाभिधानं पशुपतेर्निमित्तकारणत्वाभिधानं मुद्रिकाषट्कधारणं भगासनस्थात्मध्यानं कपालपात्रभोजनं शवभस्मस्नानं सुराकुम्भस्थापनं तदाधारदेवपूजादिकं ज्ञेयम् ॥२।२।३७॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥२।२।३८॥

कुतो वेदविरुद्धानि तद्वचनानीत्याह-सम्बन्धानुपपत्तेश्च । वेदवाक्यैः पशुपतिवाक्यानां सम्बन्धानुपपत्ते' ॥२।२।३८॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥२।२।३९॥

सशरीराणां कुलालादीनामधिष्ठानमवलम्ब्यानुमानादीश्वरस्य प्रधानाधिष्ठानत्वमुच्यते । न च पशुपतेर्निमित्तभूतस्य कुलालादिदृष्टान्तेन प्रधानाधिष्ठानत्वमुपपद्यते । कुलालस्य सशरीरत्वाच्च-

दीयमतानुमितस्येश्वरस्याशरीरत्वाद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यात् ॥२।२।३९॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥२।२।४०॥

भोक्तृ. क्षेत्रज्ञस्याशरीरस्यैव करणकलेवराद्यधिष्ठानत्ववदीश्वरस्याप्यशरीरस्य प्रधानाधिष्ठानत्वमुपपद्यत इति चेन्न, भोगादिभ्य । न जीवदृष्टान्तेनेश्वरस्य प्रधानाधिष्ठितित्वमुपपद्यते । जीव इव पशुपतावपि पुण्यपापफलभोगापत्ते । अदृष्टभोगार्थमेव करणकलेवराद्यधिष्ठानत्व जीवस्य । त्वदीयमतसिद्धेश्वरस्यापि तथात्वापत्तेर्न प्रधानाधिष्ठानत्वमुपपद्यते ॥२।२।४०॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥२।२।४१॥

वाशब्दश्चार्थे । पशुपते पुण्यपापरूपादृष्टवशात्प्रधानाधिष्ठानत्वस्वीकारे जीववदन्तवत्त्व सृष्टिसंहाराद्यास्पदत्वमसर्वज्ञता च स्यादित्यसमञ्जसमेवेद मतम् । शैवागमे वेदाविरोधिनामपि कियता धर्माणामुपलब्धिरस्ति तथापि निमित्तोपादानभेदशवभस्मस्नान भगस्थात्मध्यानादीना वेदविरुद्धाना धर्माणा तद्दर्शने बाहुल्याद् सामञ्जस्य प्रदर्शितमितिसिद्धम् ॥२।२।४१॥

इति पत्यधिकरणम् ।

अथोत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ।

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥२।२।४२॥

कपिलादितन्त्राप्रमाणत्ववद्भगवत्प्रणीते पञ्चरात्रेऽप्यप्रामाण्यमाशङ्क्य निराकरोति । "वासुदेवात्परमात्मन सङ्कर्षणाख्यो जीव

उत्पद्यते, तस्मात्प्रद्युम्नाख्यं मनो जायते, तस्मादनिरुद्धाख्योऽहङ्कारो जायते" इति पञ्चरात्रप्रक्रिया। तत्र जीवस्योत्पत्तिरभिधीयते। तस्माज्जीवोत्पत्ते "न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादिजीवानादित्वबोधिश्रुतिविरोधेनासम्भवात् ॥२।२।४२॥

न च कर्तुः करणम् ॥२।२।४३॥

लोके कर्तुर्देवदत्तादेः सकाशात्करणस्य कुठारादेरुत्पत्त्यदर्शनाज्जीवात्सङ्कर्षणात्करणस्य मनस उत्पत्तिर्न सम्भवति। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति परमात्मन एव मनस उत्पत्ति श्रवणात्। तस्माच्छ्रुतिविरुद्धार्थे नैषां पाञ्चरात्रकवचसां तात्पर्यं न वा तन्त्रस्याप्रामाण्यम् ॥२।२।४३॥

कुत्र तर्ह्येतेषां वाक्यानां तात्पर्यमित्यत्राह—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥२।२।४४॥

वाशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते। विज्ञानं च तदादि च विज्ञानादि परं ब्रह्म। सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां परब्रह्मभावे सति 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति श्रुतेः। 'सङ्कर्षणोऽहं प्रद्युम्नोऽनिरुद्धोऽहं सनातनः। एक एव चतुर्धाऽगात्" इत्येवमादिगोपालतापिनीयोपनिषच्छ्रुतिभ्यश्च स्वेच्छावतारस्यैवात्राभिधानात्तदप्रतिषेधः। तत्प्रामाण्यस्य प्रतिषेधो नोपपद्यत इत्यर्थः ॥२।२।४४॥

विप्रतिषेधाच्च ॥२।२।४५॥

अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया।
त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते ॥
व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च।
स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः ॥

इत्यस्मिन्नपि तन्त्रे जीवोत्पत्तिप्रतिषेधात्। तुल्यबलवद्विरोधो

विप्रतिषेधः। विप्रतिषेधे परं कार्यमिति वचनाच्छ्रुतेः स्मृतितः प्रबलत्वात् पञ्चरात्रस्मृतेः श्रुत्यनुसारेण नेतव्यत्वात् संकर्षणादीनां स्वेच्छयैवात्राविर्भावत्वेनोत्पत्त्यसंभवाद्वेदाविरुद्धत्वेन प्रामाण्यमेवास्य मतस्येति ॥२।२।४५॥

इत्युत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपाठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य सक्षिप्तसारे

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अथ वियदधिकरणम् ।

श्रुतिविरुद्धत्वेन परपक्षाणा भ्रममूलकत्वेनाप्रामाण्यमभिधाय श्रुतीनामपि परस्परविरुद्धत्वेनाप्रामाण्यशङ्का स्यादिति तदपाकरणार्थं पश्चात्तन पादद्वयमारभ्यते। तत्रादौ सृष्ट्यादिवाक्यानाम विरोध प्रतिपादयितुमाकाशमधिकृत्य पूर्वपक्षयति पञ्चभि सूत्रै —

न वियदश्रुतेः ॥२।३।१॥

आकाश उत्पद्यत न वति सशये नोत्पद्यत एवाकाश । कुत ? । अश्रुते । श्रुतावुत्पत्तेरश्रुते । ' छान्दोग्ये सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेय" "तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६।२।३।) इति सृष्टिवाक्य गगनस्योत्पत्तिर्न श्रूयते ॥२।३।१॥

अस्ति तु ॥२।३।२॥

तुशब्द पूर्वपक्षव्यावर्त्तक । अस्त्येवाकाशस्योत्पत्ति । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत " (तै २।१।) इति श्रुते । नचास्या स्वरवेणोत्पत्तिमाकाशस्याभिदधत्या श्रुतेरप्रामाण्य शक्यमुपकल्पयितुम् । नह्यस्ति परस्पर विरोधो येनैकस्या अप्रामाण्य स्यात् । छान्दाग्ये तु तेज आरभ्य सृष्टिरुपन्यस्यते। तत प्रागाकाशस्य तैत्तिरीयश्रुतिसम्मता सृष्टिरवगन्तु शक्यैवेति न कश्चिद्विरोध ॥२।३।२॥

भूय आशङ्कते—

गौण्यसम्भवात् ॥२।३।३॥

यदुक्त "तस्माद्वा एतस्मादात्मन" इति श्रुत्याकाशस्योत्पत्तिरवगम्यत इति तदयुक्तम् तस्या श्रुतेर्गौणत्वात् । कुत ? "तत्तेजोऽ

सृजत" (छा. ६।२।३।) इत्यन्यत्र तेजस एव प्रथमसृष्टिः श्रूयते । तदानुगुण्येन वियदुत्पत्तिश्रुतिर्गौण्येव ॥२।३।३॥

शब्दाच्च ॥२।३।४॥

"वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" (बृ० ४।३।३) इति श्रुतिशब्दाच्चाकाशस्यामृतत्वमुच्यते। तस्मान्न वियदुत्पत्तिः सम्भवति ॥२।३।४॥

ननु "तस्माद्वा एतस्मादात्मन" इति श्रुतौ श्रूयमाणस्य सम्भूतपदस्यैकस्यैवाकाशे गौणत्वमग्न्यादौ च प्राधान्यमिति कथं संगच्छत इत्याशङ्कायामाह—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥२।३।५॥

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै. २।१) इत्यत्रैकस्यैवाकाशाद्वायुः वायोरग्निरिति सर्वत्रानुषक्तस्य सम्भूतपदस्याकाशे गौणत्वेऽपि वाय्वादौ मुख्यत्वं स्यादेव । ब्रह्मशब्दवत् । यथा ब्रह्मशब्दस्य "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै० ३।१) इत्यादिष्वन्नादिषु गौणत्वं "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै. ३।६।) इत्यत्र च मुख्यत्वम् । तथा प्रकृते सम्भूतपदस्यापि मुख्यत्व गौणत्वञ्च सम्भवति ॥ २।३।५ ॥

सिद्धान्तयति—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥२।३।६॥

"येनाश्रुतं श्रुतम्भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इति च्छान्दोग्यादिष्वेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा प्रतिपादिता । तस्याश्चाहानिराकाशस्य ब्रह्मकार्यत्वेनैव भवति । कारणभूतस्यैकस्य ब्रह्मण एव नित्यत्वेन तदव्यतिरेकात् ब्रह्मकार्यभूतानामाकाशादीनामिति । छान्दोग्याद्युपनिषत्सु वियदादीनामुत्पत्तिर्दृश्यते । "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) इति सृष्टेः

प्रागेकत्वमभिधाय "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" (छा० ६।८।७) इत्यादिशब्देभ्यश्च ब्रह्मात्मकत्वेनाव्यतिरेकं कार्यभूतेष्वाकाशादिषु प्रतीयते। तेजस उत्पत्तिर्नाकाशोत्पत्तिं प्रतिषेधति ॥ २।३।६ ॥

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ॥२।३।७॥

तु शब्दश्चार्थे। यद्यपि छान्दोग्ये "तत्तेजोऽसृजत" इत्यत्राकाशस्योत्पत्तिर्न स्पष्टमभिहिता तथापि "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" (छा० ८।६) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्याकारादेः सर्वस्य ब्रह्मविकारत्ववचनेन नभसो ब्रह्मणो विभाग उत्पत्तिरभिहितैवेत्यवगन्तव्यम्। लोकवत्। यथा लोके मृदो विभागो मृद उत्पन्नस्तथा प्रकृतेऽपीति ॥ २।३।७ ॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ २।३।८ ॥

एतेन ब्रह्मणो वियदुत्पत्तिरिति व्याख्यानेन वायुरपि वियदन्तर्गतादाकाशभावमापन्नाद्ब्रह्मणः सम्भूत इति वायुरप्युत्पत्तिमत्तया व्याख्यातः। वायोरुत्पत्तिप्रतिषेधस्तद्विषयकामृतत्ववचनश्चापेक्षिकम्। वायोर्नित्यत्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया हानिः स्यात्। वायोः पृथग्व्याख्यानन्तूत्तरार्थम् ॥ २।३।८ ॥

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥२।३।९॥

तु शब्दोऽवधारणार्थकः। सतः सदा विद्यमानस्य परमकारणस्य परस्य ब्रह्मण उत्पत्त्यसम्भवः। कुतः? अनुपपत्तेः। ब्रह्मणः कारणत्वान्वेषणे तस्यापि कारणमिति स्यादनवस्था। अपहतपाप्मत्वादिगुणकस्य तस्य जन्महेतुकपुण्यपापाभावेनोत्पत्त्यनुपपत्तेः। "न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वे० ६।९) इति स्फुटतज्जनकत्वनिषेधाच्चतज्जन्मानुपपत्तेरिति ॥ २।३।९ ॥

इति वियदधिकरणम्।

(*अथ तेजोऽधिकरणम् ।*)

तेजोऽतस्तथाह्याह ॥२।३।१०॥

छान्दोग्ये ब्रह्मणस्तेजस उत्पत्ति श्रूयते। तैत्तिरीये तु वायो स्तदुत्पत्तिरित्युभयोर्वाक्ययोरस्ति परस्पर विरोधो न वेति सशये न ह्येकेन पदार्थेन युगपद् द्वाभ्या शक्यमुत्पत्तुमित्यस्ति विरोध इति प्राप्त आह—तेजोऽतस्तथा ह्याहेति। अतो वायो सकाशात्तेज उत्पद्यते। तथा ह्याह श्रुति "वायोरग्नि" (तै० २।१) अचेतना द्वायोस्तत्सजातीयस्याचेतनस्य तेजस उत्पत्ति सम्भवति न तु विजातीयाच्चेतनाद्ब्रह्मण। तस्माद्वायोस्तदुत्पत्तेर्मुख्यत्वाद्ब्रह्मणस्तदुत्प त्तेश्च गौणत्वान्नास्ति विरोध इति पूर्वपक्षाद्यसूत्रम् ॥ २।३।१० ॥

आपः ॥२।३।११॥

अतस्तथा ह्याहेत्यनुवर्तते। "तदपोऽसृजत" (छा ६।२।३) इत्यादि छान्दोग्यवाक्यस्य "अग्नेराप" (तै २।१) इति तैत्तिरीय वाक्येन विरोधोऽस्ति न वेति सशय। पूर्वपक्षस्तु अतस्तेजस एवाप उत्पद्यन्ते हि यस्मात्तथा तेजसोऽपामुत्पत्तिमग्नेराप इति श्रुतिराहेति ॥२।३।११॥

पृथिवी ॥२।३।१२॥

अत्राप्यतस्तथाह्याहेत्यनुवर्तते। अत अद्भ्य पृथिवी जायते हि यस्मात्तथा पृथिव्या अद्भ्य उत्पत्ति "ता अन्नमसृजन्त"(छा.६।२।३) इति श्रुतिराहेति ॥२।३।१२॥

अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥२।३।१३॥

पूर्वसूत्रमनुवर्तते। "ता अन्नमसृजन्त" (छा. ६।२।३) इत्या दावन्नशब्देन पृथिव्या ग्रहण कुत इतिचेत्तदाह—अधिकारेत्यादि। तदन्नम् पृथिव्येव। कुत ? अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्य। 'तत्तेजो

ऽसृजत" इति महाभूतसृष्ट्यधिकारात् "यदग्ने रोहित रूप तेजस स्तद्रूप यच्छुक्ल तदपा यत्कृष्ण तदन्नस्य" इति रूपकथनादन्नशब्दे नाप्तेजसो सजातीयाया पृथिव्या एवाभिधानमुच्यते । तथा तैत्तिरीये समानप्रकरणे "अद्भ्य पृथिवी" (तै २।१) इत्यद्भ्य पृथिव्या एवोत्पत्ति रभिधीयते । तथा चादनीयजातस्य पृथिवीविकारतया कार्यमभिद धानोऽयमन्नशब्द कारणभूताम्भुवमेवाभिधत्त इति ॥२।३।१३॥

तदेव केवलेभ्यस्तेज आदिभ्य एवाद्यादिसृष्टिरिति पूर्वपक्षिते सिद्धान्तयति—

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥२।३।१५॥

तुशब्द पूर्वपक्षव्यावर्तक । तदभिध्यानकर्ता परमात्मैव तेजो बन्नादीना सर्वेषा सृष्टिकर्त्ता । तदभिध्यानमीक्षण बहुस्यामिति सकल्प एव । अयमाशय "तदैक्षत बहु स्याम्प्रजायेय" (छा ६।२।३) इति सकल्प्य 'तत्तेजोऽसृजत" एव "तत्तेज ऐक्षत बहु स्याम्प्रजायेयेति तदपोऽसृजत" 'ता आप ऐक्षन्त बह्वय स्याम प्रजायेमहि" (छा ६।२।४) इत्यात्मनो बहुभवनसकल्परूपेक्षणस्य तेज प्रभृतिशरीरत्वेनात्मसृष्टिकरणसामर्थ्यस्य च परमात्मन एव सम्भवात् । तेजआदीनामचेतनाना तदसम्भवात् । तथा च तज आदीनामबाद्युत्पादकत्वानुपपत्ति । परमात्मनस्तु ' य पृथिव्या तिष्ठन्नि"त्यारभ्य "य आकाशे तिष्ठन् यस्याकाश शरीर य आकाशमन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।१२) इत्येवमाद्यन्तर्यामिश्रुति सिद्धाकाशादिसर्वशरीरस्य सत्यसकल्पस्य विचित्रसृष्टिरचनाशक्ति मत सर्वज्ञस्याकाशवायुतेजोऽबाद्युत्पादकत्वोपपत्ते । स एव पर मात्माकाशादिशरीर ईक्षणपूर्वकमाकाशादीनामुत्पादक इति सिद्धम् ॥२।३।१४॥

इति तेजोऽधिकरणम् ।

अथ विपर्ययाधिकरणम् ।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥२।३।१५॥

तुशब्दोऽवधारणे । अव्यक्तमहदहङ्काराकाशवायुतेजआदिक्रमाद्विपर्ययेण 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥' इति यः सर्वेषां कार्याणां ब्रह्मानन्तर्यरूपः क्रमः स तत्तद्रूपाद्ब्रह्मणस्तत्तत्कार्योत्पत्तेरेवोपपद्यते । ब्रह्मणः परम्परया सर्वकारणत्वे तु सर्वेषां कार्याणां ब्रह्मानन्तर्यरूपः क्रमः एतस्माज्जायते प्राण इत्यादिश्रुत्युक्त उपरुध्यते ॥२।३।१५॥

इति विपर्ययाधिकरणम् ।

अन्तराविज्ञानाधिकरणम् ।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥२।३।१६॥

"एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० २।१) इत्यात्मन आकाशादुत्पत्तिक्रमस्य "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मु० २।१।३) इत्युक्तेनात्मन इन्द्रियाद्युत्पत्तिक्रमेण विरोधोऽस्ति नवेति संशयेऽस्ति विरोध इत्याह—अन्तरेति । विज्ञायतेऽनेनेतिव्युत्पत्त्या विज्ञानशब्देन बुद्धीन्द्रियाणि गृहीतानि स्युः । सर्वेन्द्रियाणि चेतिश्रुत्यनुसारात् । संशयात्मकान्मनसो निश्चयात्मिकाया बुद्धेर्भेदाद्बुद्धेरपि ग्रहणम् ।

तत्रात्मन इन्द्रियाणामुत्पत्तिस्तदनन्तरमाकाशवायुज्योतिराद्युत्पत्तिरित्यात्मनो भूतानाञ्चान्तराल इन्द्रियाणामुत्पत्तौ "एतस्माज्जायते प्राण" (मु० २।१।३) इतीदं वाक्यमेव लिङ्गं ज्ञापकम् । तस्माल्लि

ह्मादात्मन इन्द्रियप्राणबुद्धिमनांसि समुत्पद्यन्ते । तेभ्यो भूतानीत्य नेन क्रमेणात्मन आकाश सम्भूत इति साक्षादात्मन आकाशाद्यु त्पत्तिक्रमस्य विरोधोस्तीति चेन्न । कुत ? अविशेषात् ' यस्य पृथिवी शरीर" "यस्याप शरीरम्" इत्याद्यन्तर्यामिश्रुतिभ्य सर्वेषा भूते न्द्रियादीना परमात्मशरीरत्वावगमात् । शरीरवाचकशब्दाना शरीरिणि पर्य्यवसानमिति सिद्धान्तात् । एवञ्च भूतेन्द्रियादि पदाना भूतेन्द्रियादिशरीरकब्रह्माभिधायकत्वात्सर्वेषामपि साक्षाद्ब्र ह्मण स्त्पत्तरविशेषात् । ब्रह्मणोऽन्यस्मादुत्पत्तिस्वीकारे तस्य ब्रह्मा नन्यत्वानुपपत्त्या कारणात्कार्यस्य व्यतिरेकत्वनिष्पत्ते कारणैक ज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानप्रतिज्ञाया हानि स्यात् । तस्मादुक्त एवार्थोऽवगन्तव्यइति ॥२।३।१६॥

तत्तद्वस्तुवाचकत्वेन शब्दाना ब्रह्मणि कथ मुख्यवृत्त्या प्रवृ त्तिरित्याह—

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्त-
द्भावभावित्वात् ॥२।३।१७॥

तुशब्द शङ्काव्यावर्तक । चराचरवस्तुव्यपाश्रयस्तद्व्यपदेशस्त द्वाचक शब्दो ब्रह्मण्यभाक्तो मुख्य एव स्यात् । कुत ? तद्भावभा वित्वात् । चराचराणा तदन्तर्गताना तेज प्रभृतीना ब्रह्मशरीरतया ब्रह्मभावेन भावितत्वात् । ब्रह्मण शरीरितया मुख्यत्वात् । चराचरस्य तच्छरीरतया तदीयत्वेन गौणत्वात् । तथा च यस्य भावेन यो भावितो भवति स तस्माद् गौण एव भवति । यथा शिष्य पुत्रत्वेन पश्यतीत्यत्र पुत्रभावेन भावितो दृष्ट शिष्यो गौण एव पुत्रस्तु मुख्य । एव चराचराणा ब्रह्मभावभावितत्वाद् ब्रह्मणि मुख्यत्वोप पत्त । चराचराणा गौणत्वम् । तथाचैकस्यैव शब्दस्य मुख्यया वृत्त्या

ब्रह्माभिधायकत्वम्। गौण्या च वृत्त्या चराचरबोधकत्वमिति न कश्चिद्विरोध इति ॥२।३।१७॥

इत्यन्तराविज्ञानाधिकरणम् ।

अथात्माधिकरणम् ।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥२।३।१८॥

आकाशस्योत्पत्तिरिव जीवस्यापि ब्रह्मण उत्पत्तिरस्ति न वा? किं युक्तम्? अस्तीत्येव। कुत? 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।' (छा. ६।२।२) इति सृष्टे प्राक्काल एकत्वनिश्चयात्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च तथा सत्येवोपपत्ते। एव प्राप्ते समाधीयते—नात्माऽश्रुते। न जीवात्मोत्पद्यते। कुत अश्रुते। तथाऽश्रवणात्। न तादृशी काचिदपि श्रुतिरस्ति यत्र जीवोत्पत्ति श्रुता भवेत्। प्रत्युत श्रुतिभ्यो नित्यत्वमेवावगम्यते। तथाहि—"अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते" (का २।१८।) "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (का० २।१८) "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" (श्वे० १।९) "नित्यो नित्याना चेतनश्चेतनानाम्" (श्वे० ६।१३) इत्याद्यनेकश्रुतिभ्य आत्मनो नित्यत्वमेवावगम्यते।

यत्तु "एव वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोबाह्य कृत्स्न प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" (बृ० ४।५।१३।) इत्यनया श्रुत्याऽऽत्मनो विनाश श्रूयत इति। तन्न। उत्तरवाक्यशेषे "न प्रेत्य सज्ञास्ति" (बृ० ४।५।१३) इति सज्ञामात्रस्यैव विनाशोऽभिहितो न जीवस्वरूपस्य। अत एव "न वा अरेऽह माह ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्म्मा" (बृ० ४।५।१४) इति श्रुत्या स्पष्टमेवात्मनोऽविनाशित्वमनुच्छित्तिधर्मत्वमभिहितम्।

तस्मान्नात्मन उत्पत्तिमत्त्वम् । कथं तर्ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाया उपपत्तिरिति चेदुच्यते । आकाशादिवज्जीवस्यापि कार्यत्वात्कार्यस्य कारणव्यतिरेकत्वेन कारणानन्यत्वात्कारणज्ञानेन कार्यज्ञानमुपपद्यते । कार्यत्वं नाम कस्यचिद्द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिः । ज्ञान सङ्कोचविकासलक्षणं जीवस्यावस्थान्तरं भवत्येव ॥२।३।१८॥

इत्यात्माधिकरणम् ।

अथ ज्ञाधिकरणम् ।

ज्ञोऽत एव ॥२।३।१९॥

इदानीं जीवस्वरूपं निरूप्यते । किं कपिलाभिमतं चिन्मात्रमेवात्मनः स्वरूपमथवा कणादाभिमतं पाषाणकल्पमचित्स्वरूपमागन्तुकचैतन्यगुणमुत ज्ञातृत्वमेवास्य स्वरूपमिति संशये किं युक्तम् ? चिन्मात्रस्वरूपमिति । कुतः ? "यो विज्ञाने तिष्ठन् यस्य विज्ञानं शरीरम्" इत्यन्तर्यामिश्रुतेरात्मनो विज्ञानस्वरूपत्वावगमात् । अथवाचेतनमागन्तुकचैतन्यगुणमस्य स्वरूपम् । "न प्रेत्य सञ्ज्ञास्ति" इति मुक्तस्य चैतन्यप्रतिषेधात् । एवं प्राप्तेऽभिधीयते "ज्ञोऽत एव" इति । तोभ्य इति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । अयमात्मा जानातीति ज्ञः, ज्ञातृस्वरूप एव न ज्ञानमात्रस्वरूपो नापि जडस्वरूपः ताभ्यः श्रुतिभ्यः । 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" "मनसैवैतान् कामान् पश्यन् रमते ।" 'एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता" इत्यादिश्रुतिभ्यो बद्धमुक्तोभयावस्थात्मनो ज्ञातृत्वस्वरूपस्यावगमात् । 'यो विज्ञाने तिष्ठन्" "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यादौ ज्ञानमात्रव्यपदेशस्तु ज्ञानस्य प्रधानगुणत्वात्स्वरूपानुसम्बन्धित्वेन स्वरूपनिरूपकगुणत्वाद् ज्ञानवत्स्वयं प्रकाशकत्वाद्वोपपद्यते ॥ ॥२।३।१९॥

आत्मन सर्वगतत्व निराकरोति—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥२।३।२०॥

ताभ्य इत्यनुवर्तते । नायमात्मा सर्वगत किन्त्वणुरेव । उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् । आत्मोत्क्रान्तितद्गतितदागतिश्रुतिभ्य इत्यर्थ । "तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति" (बृ ६।४।२) ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (कौषा १।२।) "तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ ६।४।२) इत्यादि गत्यागत्युत्क्रान्तिश्रुतिभ्य आत्मन सर्वगतत्व नोपपद्यते किन्त्वणुत्वमेव । सर्वगतस्य विभो गतिश्चागतिश्च नोपपद्यत । तस्मादात्मनोऽणुत्वमेव ॥२।३।२०॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२।३।२१॥

चाऽवधारणार्थे । देहस्यात्मसकाशादपाकरणरूपाया देहात्मवियोगरूपाया उत्क्रान्तित्वस्वीकारे स्यात्कथञ्चिदियमुत्क्रान्ति । अथवा देहस्वामित्वनिवृत्तिरेवोत्क्रान्ति । सा च विभुत्वेऽप्यात्मन सम्भवति। उत्तरयोर्गत्यागत्योस्तु न कथञ्चिदपि सम्भव । स्वात्मना सम्बद्धत्वादणुरेवात्मा ॥२।३।२१॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२।३।२२॥

"स वा एष महानज आत्मा" (बृ ६।४।२५) इति महत्त्व श्रुतेर्न जीवोऽणुरिति चेन्न, इतराधिकारात् । जीवादितरस्य परमेश्वरस्य तत्राधिकारात् । उपक्रमे प्रस्तुतेपि जीवे "यस्यानुवित्त प्रतिबुद्ध आत्मा" (बृ ६।४।१३) इति मध्ये परमात्मप्रस्तावात् तस्यैवेद महत्त्वमुपदिश्यते । न जीवात्मन ॥२।३।२२॥

स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च ॥२।३।२३॥

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राण पञ्चधा

सविवेश" (मु० ३।१।९।) स्वम्याणुत्वस्य वाचको योऽणुशब्द आत्म पदसामानाधिकरण्येन निर्दिष्टस्तस्मादुन्मानाच्च सर्वेभ्य स्थूलपरिमाणेभ्य उद्धृत्य मानमुन्मानमत्यन्तापकृष्टपरिमाणमितियावत्तस्मात्। "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते" (श्वे० ५।९।) "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट" (श्वे० ५।८।) इत्याराग्रमात्रान्मानाच्च जीवोऽणुरेव ॥ २।३।२३॥

नन्वात्मनोऽणुत्वे देहव्यापिसुखाद्यनुभवविरोध इत्याशङ्का मतान्तरेण परिहरति—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२।३।२४॥

यथा चन्दनविन्दु शरीरैकदेशस्थ शरीरव्यापि सुखं जनयति तथाऽणुर्जीवोऽपि देहव्यापि सुखादिकमनुभवतीत्यविरोध ॥२।३।२४॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमा- द्धृदि हि ॥२।३।२५॥

ननु चन्दनविन्दोर्देशविशेषेऽवस्थितिर्दृश्यते। आत्मनस्त्वणुत्वेन काप्यवस्थितिर्नोपलभ्यत इति चेन्न। अभ्युपगमात्। जीवाणुत्वस्य श्रुत्याभ्युपगमात्। "योऽय विज्ञानमय प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति" (बृ० ६।३।७) "हृदि ह्ययमात्मा तत्रैकशतं नाडीनाम्" (प्र० ३।६।) इत्यल्पपरिमाणे हृदि जीवस्यावस्थित्यभ्युपगमवचनेनाणुत्वमिति ॥ २।३।२५ ॥

इदानीं स्वमतमाह—

गुणाद्वाऽलोकवत् ॥२।३।२६॥

वाशब्देन मतान्तर व्यवच्छिद्यते। स्वमते तु जीवात्माऽणुहृत्स्थोऽपि स्वगुणेन ज्ञानेन कृत्स्नं देह व्याप्यावस्थित। आलोकवत्। व्यापिप्रभागुणकप्रदीपवत्। यथाल्पोऽपि गृहैकदेशस्थो

दीप प्रभात्मकेन व्यापकेन स्वगुणेन कृत्स्नं गृहं प्रकाशयति। तद्वदात्माऽपि ज्ञानेन कृत्स्नं देहं व्याप्य तद्वेदनादिकं जानाति। ॥२।३।२६॥

ननु गुणस्य गुणिव्यतिरिक्तदेशेऽवस्थानादर्शनाद्विज्ञानं यज्ञं तनुत इत्यादौ च ज्ञानस्यैवात्मस्वरूपत्वश्रवणात् कथं ज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तगुणत्वं कथं वा देशान्तरे व्याप्यावस्थानमित्याशङ्कायामाह—

व्यतिरेको गन्धवत्तथा च दर्शयति ॥२।३।२७॥

पुष्पपेटिकातो दूरस्थस्यापि पुंसः पुष्पात्मकपृथिवीगुणस्य गन्धस्य व्यतिरेकेण देशान्तर उपलम्भदर्शनाज्ज्ञानस्यापि तद्गुण्यामव्यतिरेकत्वं निष्पद्यते। ननु 'विज्ञानं यज्ञं तनुते" (तै० २।५।१) इतिश्रुतिविरोधेनोक्तयुक्त्या ज्ञानस्यात्मव्यतिरेकत्वं नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह—"तथा च दर्शयति"। आत्मनो हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वञ्चाभिधाय "आ लोमभ्य आ नखेभ्यः" इति ज्ञानगुणेनात्मनः सर्वदेहव्यापित्वं दर्शयति श्रुतिस्तस्मान्न श्रुतिविरोधः। ॥ २।३।२७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥२।३।२८॥

"न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० ६।३।३०) इति विज्ञातुरात्मनो विज्ञातेर्ज्ञानगुणस्य विपरिलोपो विनाशो न विद्यते। इति ज्ञातुरात्मनस्तद्गुणभूतस्य ज्ञानस्य पृथग्व्यपदेशात्। किञ्च "प्रज्ञया शरीरं समारुह्य" (कौषी० ३।६।) इत्यात्मनः कर्तृत्वेन ज्ञानस्य करणत्वेन च पृथगुपदेशाद् व्यापिज्ञानगुणद्वारास्य जीवस्य शरीरव्याप्तिरवगम्यते ॥२।३।२८॥

तर्हि "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इति विज्ञानस्वरूप आत्मेत्युपदेशः कथमुपपद्यतामित्यत्राह—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२।३।२९॥

तुशब्दः पक्षव्यावर्तकः । आत्मनो विज्ञानगुणसारत्वाद्धि ज्ञानमितिव्यपदेशः । विज्ञानमेवास्य सारभूतो गुण इति । प्राज्ञवत् । "यः सर्वज्ञः ससर्ववित्" (मु० १।१।९।) इति सर्वज्ञातृत्वेन श्रुतः प्राज्ञो ज्ञानगुणसारत्वात् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इतिज्ञानशब्देन व्यपदिश्यते । यथा च "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" (तै०।२।९।) "स एको ब्रह्मण आनन्दः" इत्यानन्दगुणवत्त्वेन श्रुतस्य प्राज्ञस्यानन्दगुणसारत्वादानन्दादिपदेन व्यपदेशस्तद्वदिति॥२।३।२९॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥२।३।३०॥

विज्ञानस्य यावदात्मस्वरूपभावित्वेन तत्स्वरूपनिरूपणधर्मत्वाद्विज्ञानशब्देनात्मव्यपदेशे न दोषः । खण्डादिषु तथा दर्शनात् । खण्डादयो यावत्स्वरूपभाविगोत्वादिधर्मवत्त्वेन गौरितिशब्देन व्यपदिश्यन्ते । एवमत्रापि जीवस्य विज्ञानपदेन व्यपदेशः । ज्ञानवदात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वेन विज्ञानव्यपदेशो न दोषायेति चकारेण समुच्चयः ॥२।३।३०॥

ननु सुषुप्त्यादिषु ज्ञानस्यानुपलब्धेः कथं यावदात्मभावित्वं न स्वरूपानुबन्धित्वमित्याशङ्क्याह—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥२।३।३१॥

तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । यथा बाल्ये पुंस्त्वादेः सत एव यौवनेऽभिव्यक्तिः । एवं सुषुप्त्यादिष्वपि सत एव ज्ञानस्यानभिव्यक्तस्य जागरितादिष्वभिव्यक्तिसम्भवात् स्वरूपानुबन्धिधर्मत्वोपपत्तिरिति न दोषः ॥२।३।३१॥

एवमात्मनो ज्ञातृत्वमणुत्वञ्चाभिधाय पक्षान्तरे दोष दर्शयति–

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरानियमो वाऽन्यथा ॥२।३।३२॥

अन्यथा ज्ञानमात्रात्मस्वरूपस्वीकारे सर्वगतत्वपक्षे च उपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्द्वयोर्नित्यत्वप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वा स्यात् । तत्र ज्ञानात्मपक्षे ज्ञानस्य स्वप्रकाशस्वभावत्वात्प्रकाशपर्य्यायोपलब्धे नित्यत्वप्रसङ्ग । स्वप्रकाशे ज्ञाने विद्यमाने सत्यप्रकाशपर्याया अनुपलब्धेर्वक्तुमयोग्यत्वाज्ज्ञानमेवानुपलब्धेरपिहेतुरिति चेत्तर्हि ज्ञानस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्ग । अथोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्विरुद्धकार्ययोर्युगपज्जननायोगाज्ज्ञानोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरन्यतरहेतु स्थाप्यते तदाऽन्यतरनियम स्यात् । एवमात्मन सर्वगतत्वपक्षे । यथा ज्ञानात्मवादिनस्तथैव हेतुचन्यज्ञानवादिनोऽपि समानो दोष । तथा हि सर्वेषामात्मना सर्वगतत्वे सर्वस्याप्यात्मन सर्वसयोगात्तदुपलब्धेर्नित्यत्वप्रसङ्ग । सर्वगतस्य विद्यमानत्वे तदनुपलब्धेरनुपपत्ते । सर्वगतत्वमेवानुपलब्धेरपि हेतुरिति चेत्सर्वगतत्वस्य सर्वदा वर्तमानत्वात्सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्ध्यो प्रसङ्ग । अथ युगपद्विरुद्धकार्यजननायोगात्सर्वगतोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरन्यतरहेतुस्थापनेऽन्यतरनियम स्यादित्युभयपक्षेऽपि समान एवोक्तदोषप्रसङ्ग । करणायत्तोपलब्धेरपि सर्वेषामात्मना सर्वगतत्वन सर्वं करणै सर्वदा संयुक्तत्वात्सर्वदा तदुपलब्ध्यनुपलब्ध्यादिप्रसङ्ग समान ।अदृष्टोत्पत्ति हेतोरपि सर्वसाधारणत्वादुक्तदोष समान । अस्माकन्तु स्वकीय हृत्पुण्डरीकेऽत्रस्थितत्वादात्मनस्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यवस्था सिद्धेर्नोक्त दोषप्रसङ्ग ॥२।३।३२॥

इति ज्ञाधिकरणम् ।

अथ कर्त्रधिकरणम्

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥२।३।३३॥

आत्मनो ज्ञातृत्ववत्कर्तृत्वमप्यस्ति न वेति संशये नास्तीति पूर्वं पक्षः। कुतः? "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते" (का० २।१९।) इत्यादिभिरात्मनो हननक्रियाकर्तृत्वं प्रतिषिध्य "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" (गी० ३।२७) "नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति" (गी० १४।१९।) इति प्रकृतिगुणानामेव कर्तृत्वप्रतिपादनात्। तस्मात्स्वगुणद्वारा प्रकृतेरेव कर्तृत्वं नात्मनः। इति प्राप्तेऽभिधीयते—कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादिति। आत्मैव कर्ता न गुणाः। अचेतनानां गुणानां कर्तृत्वासम्भवात्। कुतः आत्मैव कर्ता? शास्त्रार्थवत्त्वात्। 'यजेत' 'उपासीत' इत्येवमादीनां स्वर्गमोक्षादिफलसाधनेषु प्रवर्तकानां शास्त्राणामर्थवत्त्वात्। शास्त्रस्य तत्तत्प्राप्त्युपायज्ञानजननद्वारा तत्तदनुष्ठाने प्रवर्तकत्वम्। तत्तु चेतनस्य जीवस्यैव तत्तदुपायज्ञानं तदनुष्ठानञ्च सम्भवति नत्वचेतनस्य प्रधानस्य। अतस्तत्तत्फलभोक्तुश्चेतनस्यैव तत्तत्प्राप्तिसाधनकर्तृत्वेन तदुपदेष्टॄणां शास्त्राणामर्थवत्त्वम्। तस्माच्चेतनो जीव एव कर्त्ता नत्वचेतनं प्रधानम्।

यत्तु—हन्ता चेन्मन्यते हतमित्यादिभिरकर्तृत्वमेवात्मनोऽभिहितम्। तच्चात्मनो नित्यतया हन्तव्याभावादुपपद्यते। प्रकृतेः क्रियमाणानीत्यादिकं तु सांसारिकप्रवृत्तिषु जीवस्य कर्तृत्वं सत्त्वादिगुणसंसर्गकृतम्। न स्वरूपप्रयुक्तमनस्तदेवास्य जन्ममरणहेतुर्भवतीत्यभिहितं तत्रैवोक्तम्। "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" (गी० १३।२१।) अतो विवेकी गुणसंसर्गकृतकर्मस्वासक्तिं विहाय तत्राहंबुद्धिपरित्यागपूर्वकं तत्तत्कर्म कुर्वन्नपि तज्जन्यपुण्यपापाभ्यां न

लिप्यते ततो न बध्यत इत्याह "तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयो । गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते । यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥" (गी०) तस्माज्जीव कर्ता ॥२।३।३३॥

उपादानाद्विहारोपदेशाच्च ॥२।३।३४॥

इतश्चात्मन एव कर्तृत्वम् । "तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय" (बृ० ४।१।१७) "एवमेवैष एतान् गृहीत्वा" (बृ० ४।१।१८।) इत्यात्मनो ग्रहणशक्त्युपादानत्वश्रवणादकर्तुरुपादानायोगात्तस्यैव कर्तृत्वम् । तथा तत्रैव "स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते" (बृ० ४।१।८।) इति विहारोपदेशाच्चात्मन कर्तृत्वम् ॥२।३।३४॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥२।३।३५॥

इतश्चजीवस्यैव कर्तृत्वम् । "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" (तै० २।५।१) इति लौकिकवैदिकक्रियायां विज्ञानशब्दवाच्यस्यात्मन कर्तृत्वव्यपदेशाज्जीव कर्त्ता । विज्ञानशब्देन बुद्धेर्व्यपदेश इति चेन्न । निर्देशविपर्यय स्यात् । विज्ञानमिति कर्तृत्वेन व्यपदेशो न स्यात् । स्याच्चेद्विज्ञानेनेति करणत्वेन । बुद्धे करणत्वात् ॥२।३।३५॥

उपलब्धिवदनियमः ॥२।३।३६॥

प्रधानस्य कर्तृत्वे तस्य सर्वपुरुषसाधारणत्वादात्मनश्च सर्वगतत्वेन सर्वत्र सन्निधानाच्च सर्वाणि कर्माणि प्रधानकृतानि सर्वेषां भोगाय स्युरिति पूर्वोक्तोपलब्धिवदनियम स्यात् ॥२।३।३६॥

शक्तिविपर्ययात् ॥२।३।३७॥

इतश्चात्मन एव कर्तृत्वम् । प्रकृतिकार्यभूताया बुद्धे कर्तृत्वे कर्तुरेव भोक्तृत्वमितिनियमाद्भोक्तृत्वमपि तस्या एव स्यात् । ततश्चात्मनो

भोक्तृत्वशक्तेर्विपर्ययो हानिः स्यात् तथा नत्यात्माभ्युपगमो निष्प्रमाणकः स्यात् ॥२।३।३७॥

समाध्यभावाच्च ॥२।३।३८॥

"यथा दीपो निवातस्थ" इतिवचनान्निवातस्थ दीपवन्निश्चलात्माकारवृत्तिः समाधिशब्देनाभिधीयते । आत्मनोऽकर्तृत्वे तस्य समाधेरभावप्रसङ्गात् । समाधिशब्दः श्रवणमनननिदिध्यासनानामुपलक्षकः समाधेर्जीवमोक्षार्थोपदेशात् । अचेतनाया कर्तृत्वे तदन्यस्यात्मनो मोक्षानुपपत्तेः ॥२।३।३८॥

ननु आत्मनः कर्तृत्वे सर्वदा कर्तृत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—

यथा च तक्षोभयथा ॥२।३।३९॥

करणकलेवरादिसम्पन्नोऽपि स यदेच्छति तदा करोति । अन्यदा न करोतीत्येव रूपा व्यवस्था स्वीयेच्छाया सत्तासत्ताभ्यां सम्भवत्येव । यथा वाश्यादिसाधनसन्निधानेऽपि तक्षा स्वकीयेच्छामनुसृत्य करोति न करोति च । अचेतनात्मिकाया बुद्धेस्तु भोगादीच्छाया अभावान्न स्याद्व्यवस्था । अतश्चात्मन एव कर्तृत्वं न प्रकृतेः ॥२।३।३९॥

इति कर्त्रधिकरणम् ।

(अथ परायत्ताधिकरणम्)

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥२।३।४०॥

किमिदं जीवस्य कर्तृत्वं जीवायत्तं स्वतन्त्रमेवाहोस्वित्परमात्मायत्तमिति सन्देहः । किं युक्तम् ? स्वातन्त्र्येण जीवायत्तमेव । कुतः ? यो हि स्वबुद्ध्या शुभमशुभं वा कर्म करोति स एव तत्फलमश्नुते ।

परमात्मायत्तकर्तृत्वे तु तत्फलभोक्तृत्वमपि परमात्मन एव स्यान्न तु जीवस्य। 'फलं प्रयोक्तरीति' न्यायात्। परमात्मायत्तकर्तृत्वे विधिनिषेधशास्त्राणां वैयर्थ्यमप्यनिवार्यं स्यात्। तस्माज्जीवस्यैव कर्तृत्वम्। इति प्राप्तेऽभिधीयते–परात्तु तच्छ्रुतेरिति। तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्यर्थः। तत् कर्तृत्वं जीवस्य परात्–जीवान्तर्यामिणः परमात्मन एव भवति। कुतः ? तच्छ्रुतेः। तस्य जीवकर्तृत्वस्य परमात्मायत्तत्वश्रुतेः–"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" (तै आ. ३।११।१०।) "य आत्मानमन्तरो यमयति" (बृ० ३।७।२२) "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति" इति। तस्माज्जीवकर्तृत्वं परमपुरुषायत्तमेव ॥२।३।४०॥

अथैवं जीवकर्तृत्वस्य परमात्मन आयत्तत्वे तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातां जीवस्य तु विधिप्रतिषेधयोर्नैरर्थक्यमित्यत आह—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः ॥२।३।४१॥

तुशब्दः शङ्कानिवर्तकः। जीवेन स्वबुद्धया कृतं शुभाशुभप्रयत्नमपेक्ष्यान्तर्यामी परमात्मा तादृशीमेव जीवप्रयत्नानुगुणां स्वकीयामनुमतिं प्रदाय जीवं प्रवर्तयति। सर्वेष्वपि शुभाऽशुभकर्मसु परमपुरुषानुमतिमन्तरेणास्य जीवस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। कुतः ? विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः। 'यजेत' 'उपासीत' 'न हन्तव्यः' इत्येवमादीनां विहितप्रतिषिद्धवाक्यानामवैयर्थ्यादिभ्यः। तथा च तत्तत्कर्मसु जीवः परमात्मसहाय एव प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा तेभ्यो विदधाति। तेन च स्वयमेव विधिप्रतिषेधयोग्यो भवति न परमात्मा। जीवकृतप्रयत्नानुगुणप्रवर्तने फलप्रदाने च न परमात्मनोऽपि वैषम्यनैर्घृण्ये इति। यः परमपुरुषाराधन

कुर्वन् स्वयं तु निर्ममः कर्मानुतिष्ठति तं तत्कर्मण्यभिरुचिं जनयन् सद्बुद्धिप्रदानद्वारा परमात्मैव प्रेरयति । यश्च स्वयमभिमानवान् हिंसादिरूपनिषिद्धकर्माण्याचरति तञ्च तथा भूतेष्वेव कर्मसु प्रीतिमुत्पादयन् तत्रैव प्रवर्तयतीतिभावः । तथा च न परमात्मनो दोषलेशोऽपि न वा विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणामपि वैयर्थ्यमिति सर्वं निरवद्यम् ॥२।३।४१॥

इति परायत्ताधिकरणम् ।

अथांशाधिकरणम् ।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥२।३।४२॥

प्रागुपदिष्टब्रह्मानन्यत्वसिद्धय एव जीवस्य तदंशत्वमिदानीं प्रतिपादयति । तत्राऽयं जीवो ब्रह्मणोऽत्यन्तभिन्न उतोपहितं ब्रह्मैवाहोस्विद्ब्रह्मांश एवेति संशयः । किं युक्तम् ? अत्यन्तभिन्न इति । कथमवगम्यते । "पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा" (श्वे०१।६) "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति" (श्वे० ४।६) "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" (श्वे. १।९) इत्यादिषु भेदस्यैव श्रवणात् । अथवा तत्त्वमस्यादिश्रुतिविरोधेनात्यन्तभेदानुपपत्तेरुपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मैवाल्पदेशवृत्तित्वेनाद्यः प्राणधारणत्वेन च जीव इति व्यपदिश्यते । परमार्थतस्तु न ब्रह्मणोतिरिक्तो जीवः । इत्येवम्प्राप्तेऽभिधीयते । अंशो नानाव्यपदेशादिति । अयं जीवो ब्रह्मांश एव । कुतः ? नानात्वव्यपदेशादेकत्वव्यपदेशाच्च । "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (श्वे. ६।१३) "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" (बृ. ३।७।२२) " पतिं विश्वस्यात्मेश्व-

रम्" इत्येवमादिश्रुतिभिर्जीवेश्वरयोरुभयोर्नित्यत्वेन, जीवकामविधातृत्वेन तयो शरीरशरीरित्वेनोपास्योपासकत्वेन नियम्यनियन्तृत्वेन भृत्यस्वामित्वेन सृज्यस्रष्टृत्वेन रक्ष्यरक्षकत्वेन च जीवपरमात्मनोर्नानात्वेनव्यपदेशात् । तत्त्वमस्यादिभिश्चैकत्वेन व्यपदेशात् । अपहतपाप्मनोऽविद्याप्रत्यनीकस्य निरवद्यनिरञ्जनस्य मायाधीशस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्ते. सर्वदैकरसज्ञानस्यापाधिसम्बन्धकृतजीवत्वानुपपत्ते । अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके । एकेशाखिन आथर्वणिकास्तथाऽमनन्ति "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेवेमे कितव" (ब्र. सू.) इति ब्रह्मणो दाशकितवादित्वाध्ययनेन तस्य सर्वजीवव्यापित्वेन सर्वाऽभेद ज्ञापयन्ति । ' सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व " (गी० ११) इति च सर्वव्यापकत्वेन ब्रह्मण सर्वाभेदस्य स्मरणात् । न च ' एकोऽहं बहु स्याम" इत्येकस्यैव ब्रह्मणो बहुभवनत्वश्रुतेर्ब्रह्मण एव जीवभावाऽवगमात्सर्वथा तयोरभेदन जीवस्य ब्रह्मांशत्वव्यपदेश इति वाच्यम् । केवलब्रह्मणो बहुभवनसंकल्पपूर्वकजगत्कारणत्वाङ्गीकारे ब्रह्मणि विकारित्वसुखदु खभोक्तृत्वादिदोषाणामापत्ते । सृष्टेर्वैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माच्चिदचिद्वस्तुशरीरकस्यैव ब्रह्मणा जगत्कारणत्वम् । तथा सति विकारित्वादिदोषाणामचिदंशे पर्यवसानात्सुखदु खभोक्तृत्वादीनाञ्च चिदंशे जीवे पर्यवसानाद्ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिद्धे । न वा सृष्टेर्वैयर्थ्यम् । जीवभुक्तिमुक्त्यर्थकत्वेन सार्थक्यात् । तस्माज्जीवब्रह्मणो स्वरूपत. स्वभावतश्च भेदान्नानात्वव्यपदेशस्तयोर्व्याप्यव्यापकत्वेन जीवस्य ब्रह्मणोऽपार्थक्यात्तद्व्यतिरेकादनानात्वव्यपदेश इत्युभयविधव्यपदेशापपत्तये ब्रह्मांऽशोऽयं जीव इत्युपपन्नतरम् । सूत्रेंऽश इत्येकवचनं जात्यभिप्रायेण ॥२।३।४२॥

मन्त्रवर्णाच्च ॥२।३।४३॥

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि" (पु. सू.)

इतिमन्त्रवर्णाश्च ब्रह्मांशा जीवाः । मन्त्रे पादशब्दो ह्यंशवाची ॥२।३।४३॥

अपि स्मर्यते ॥२।३।४४॥

स्मर्यतेपीत्यन्वयः । "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः ।" (गी० १५।७) इति स्मर्यतेऽपीत्यर्थः ॥२।३।४४॥

जीवस्य ब्रह्मांशतया ब्रह्मैकदेशत्वेन जीवदोषाणां ब्रह्मणि प्रसक्तिमाशङ्क्याह—

प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ॥२।३।४५॥

तुशब्दः शङ्कानिवर्तकः । प्रकाशादिवज्जीवो ब्रह्मांशः । यथा सूर्यादेः भारूपप्रकाशवान् सूर्यादिरिति विशेषणत्वेनापृथक् सूर्यादीनामंश इत्यभिधीयते । यथा च देहिनो देवमनुष्यादिर्देहोंऽशः । तद्वदेकवस्त्वेकदेशस्य तद्वस्तुनोंशत्वव्यवहारः । विशिष्टस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव । एवं जीवस्य परमात्मशरीरत्वेन विशेषणत्वात्परमात्मनोंऽश एव जीवः । अस्ति च शास्त्रीयो व्यवहारो विशेषणे 'विशेष्यांऽशोयम्' इति । जीवपरमात्मनोः स्वरूपस्वभावयोर्भेदान्न जीवदोषाणां परमात्मनि प्रसक्तिरित्याह—नैवं परः इति । यथा स्वभावो जीवस्तथा स्वभावो न परमात्मेत्यर्थः । यथा प्रभायाः प्रभावानर्थान्तरभूतस्तथा प्रकृतेऽप्यंशांशिभावः । तथा चेममेव भेदमवलम्ब्य भेदश्रुतीनाम्प्रवृत्तिः । जीवपरमात्मनो व्याप्यव्यापकत्वेन जीवस्य परमात्मनोऽपृथक्सिद्धतयाऽपृथक्सिद्धविशेषणानां विशेष्यपर्यन्तत्वं स्वीकृत्य 'तत्त्वमसि' इत्याद्यभेदश्रुतीनामपि मुख्यार्थत्वेनैव सार्थक्यमिति ॥२।३।४५॥

स्मरन्ति च ॥२।३।४६॥

स्मरन्ति चांशिनः परमात्मनोंशभूतजीवगतदोषाणामप्रसक्तिम् । व्यासादयः "तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ।

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा" (वि० पु०) "कर्मात्मा-त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते" इत्यादिना । चशब्देन "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (श्वे० ४।६) इत्यादि श्रुतयोपि गृहीता भवन्ति ॥२।३।४६॥

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥२।३।४७॥

ननु सर्वेषां जीवानां ब्रह्मांशत्वे समाने कस्यचिद्वेदाध्ययनादि-ष्वनुज्ञा कस्यचित्परिहार इति कथमत आह—अनुज्ञेत्यादि । सर्वेषां जीवानां ब्रह्मांशत्वेनैकरूपत्वेऽपि ब्राह्मणशूद्रयो पुण्यपाप देह सम्बन्ध-हेतुकावनुज्ञापरिहारौ । यथाऽग्नेरग्निन्वेनैकरूपत्वेऽपि यज्ञीयादेरग्नेर्ग्र-हणानुज्ञा श्मशानसम्बन्धिनोऽग्नेः परिहारस्तथा ब्राह्मणस्य वैदिके ऽनुज्ञा शूद्रादेः परिहार इत्युपपद्यते ॥२।३।४७॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥२।३।४८॥

एवं ब्रह्मांशत्वेन साम्येऽप्यात्मनोऽणुत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वा-त्परस्परमसन्ततेरसम्बन्धाज्ज्ञानसुखादिधर्माणामव्यतिकरोऽसाङ्कर्य-मेवेति व्यवस्था । उपहितब्रह्मजीववादे विवर्तवादे च जीवपरयोः स्वरूपस्याभेदाज्जीवाना विभुत्वेन परस्परमभेदाच्च धर्माणां व्यति-करोऽनिवार्यं स्यात् ॥२।३।४८॥

आभास एव च ॥२।३।४९॥

नन्वज्ञाननिबन्धनोपाधिभेदान्न धर्मव्यतिकर इत्यत्राह—नित्य-स्वप्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानोपहितत्वप्रतिपादने हेतव आभासा एव स्युः । कुतः ? प्रकाशस्वरूपस्य तस्याविद्यया स्वरूपतिरोधानं स्वरूपनाश एव पर्यवस्यति । चकारात् "पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा" (श्वे० १।६) इत्यादिश्रुतिविरोधोऽपि ॥२।३।४९॥

अदृष्टानियमात् ॥२।३।५०॥

अदृष्टैस्तद्धेतुकोपाधिभिश्च देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितस्य ब्रह्मणश्छेदासम्भवात्तत्कृतानां दोषाणां ब्रह्मणि प्रसक्तिरनिवार्या ॥२।३।५०

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥२।३।५१॥

तत्तदन्तःकरणोपहितात्मप्रतिनियतादृष्टजन्मस्वभिप्रायविशेषेषु स्वीक्रियमाणेष्वपि परिच्छिन्नोपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि पदार्थस्याभावादुपाधिविशिष्टम्ब्रह्मैवेति न दोषनिर्मुक्तिः ॥२।३।५१॥

प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥२।३।५२॥

उपहितब्रह्मजीवप्रदेशादनुपहितब्रह्मप्रदेशस्य भेदान्न प्रदेशान्तरस्थस्य जीवस्य दोषाः प्रदेशान्तरस्थे ब्रह्मणि प्रसज्यन्त इति चेन्न । औपाधिकब्रह्मजीवप्रदेशानामनुपहितापरिच्छिन्नसर्वव्यापकसर्वकालसर्ववस्तुसर्वदेशगतानवच्छिन्नब्रह्मप्रदेशान्तर्भावाद् ब्रह्मणि जीवदोषप्रसक्तिरनिवार्येत्यर्थः । तस्मादस्मत्पक्ष एव सर्वदोषरहितः ॥२।३।५२॥

इत्यंशाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जाद्ब्जोत्तमकुलोत्तसगुणपुरुपतन्त्राभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकविन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे द्वितीयाध्यायस्य
तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

(*अथ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम्*)

एवमतिक्रान्ते पादे जीवस्य भोगायतनभूतस्थूलदेहोपादानाना-माकाशादिभूतानामुत्पत्त्यादिकं विचिन्त्य जीवस्वरूपं तद्धर्माश्च विचिन्तिता। अथ लिङ्गशरीरविषयकश्रुतिविरोधपरिहारेण जीवो-पकरणानामिन्द्रियाणां प्राणस्य चोत्पत्त्यादिप्रकारो विशोध्यते—

तथा प्राणाः ॥२।४।१॥

तत्र प्राणाः जीववन्नोत्पद्यन्त आहोस्विद्वियदादिवदुत्पद्यन्त इति संशय। किं युक्तम्? नोत्पद्यन्त इत्येव। कुत? "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत." (तै. २।१) इत्यादावुत्पत्तिप्रकरणे प्राणोत्पत्त्यश्रवणात्। एवमन्यत्रापि "असद्वा इदमग्र आसीत्तदाहु किं तदासीदिति ऋषयो वाव ते अग्रे सदासीत्तदाहु के ते ऋषय इति प्राणावाव ऋषय इति" (शतप० ६।१।१) इति ऋषिपदाभि-धेयप्राणानामुत्पत्ते. प्रागपि श्रूयमाणत्वात्। इति प्राप्तेऽभिधीयते— तथा प्राणा इति। वियदादिवदेव प्राणा उत्पद्यन्ते। कुत? "एत-स्माज्जायते प्राणः मन सर्वेन्द्रियाणिच" (मु. २।१।३) इति प्राणा-दीनामपि परमात्मन उत्पत्तिश्रवणात्। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐत० १।१।१) इति सृष्टे प्रागेकस्यैव ब्रह्मणोऽवस्थिते-रवधारणात्। एतस्या श्रुतेरेकवाक्यतासम्पादनार्थमृषिश्रुतेः परमात्मपरत्वेन नेतव्यत्वात्।

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राण-मभ्युज्जिहते" (छा० १।११।५) इत्यादौ प्राणशब्देन परमात्मन एव

ग्रहणात् । एवमृषिशब्दश्च परमेश्वरस्यैव वाचको नेन्द्रियादीनाम् ॥ २।४।१ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥२।४।२॥

अथैव "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै०२।१) इत्युत्पत्तिप्रकरणे प्राणानामुत्पत्त्यश्रवणादुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी स्यात् तत्राह— गौण्यसम्भवात् । गौण्या असम्भवस्तस्मात् । नहि प्राणोत्पत्तिश्रुतिर्गौणी सम्भवति । बाहुल्येन तत्र तत्र श्रवणात् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधाच्च ॥ २।४।२ ॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥२।४।३॥

इतोऽपि प्राणोत्पत्तिश्रुतिर्मुख्यैव । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (मु० २।१।३) इति श्रुतावेकमेव 'जायते' इति पदं सर्वत्रान्वेति । तत्र प्राणेष्वेव प्राक्श्रुतम् । खादिषु तु पश्चादन्वेति । न ह्येकमेवपदं सकृदुच्चरितं क्वचिद्गौणं क्वचिच्च मुख्यं स्यात् । वैरूप्यप्रसङ्गात् । तस्मात् प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्मुख्या ॥ २।४।३ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥२।४।४॥

वाच परमात्मव्यतिरिक्तस्य वागादीन्द्रियजातस्य तत्पूर्वकत्वात्-वाग्विषयभूतनामरूपात्मकाकाशादिसृष्टिपूर्वकत्वात् । "अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" (छा० ६।५।४) इति श्रुतौ मनसः प्राणस्य च वाचश्च तेजोबन्नजन्यत्वश्रवणात् । "ऋषयो वाव ते अग्रे सदासीत् प्राणा वाव ऋषयः" इति प्रलयकालीनस्य प्राणशब्दस्य वाच्यः परमात्मैव ॥ २।४।४ ॥

इति प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥

अथ सप्तगत्यधिकरणम् ।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥२।४।५॥

'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति । एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति । न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति । न रसयत इत्याहुरेकीभवति । न वदतीत्याहुरेकीभवति । न शृणोतीत्याहुरेकीभवति । न मनुत इत्याहुरेकीभवति । न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति । न विजानातीत्याहुः" इति चक्षुरादीनां सप्तानां गतेर्विशेषितत्वात् । 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्" इति श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति सप्तानामेव जीवेन सह गतेर्विशेषितत्वाच्छरीरत्यागेऽपि तेषां जीवसहचारित्वाच्छरीरत्यागानन्तरं जीवसहचारिभ्यः कर्मेन्द्रियेभ्यस्तेषां प्रधानत्वेन सप्तैवेति व्यपदेशः ॥ २।४।५ ॥

अथ सिद्धान्तः—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥२।४।६॥

तु शब्दः प्राणानां सप्तत्वनिरासार्थः । श्रोत्रादीनि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वाग्घस्तादीनि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्चेत्येकादश । बुद्ध्यहङ्कारयोरन्तःकरणभेदत्वान्नाधिकसंख्यापादकत्वम् । "तमुत्क्रान्तम्" इति श्रोत्रादीनां सप्तानामुत्क्रान्तिश्रुतेस्तानि जीवेन सह शरीरान्तर्गमनेऽपि गच्छन्ति । वाग्घस्तादीनि कर्मेन्द्रियाणि तु स्थिते—शरीरस्थिते जीवे तस्य भोगोपकरणानीत्येकादशेन्द्रियाणि । अतो नैवम्—अतः इन्द्रियाणामेकादशत्वात् सप्तैवेन्द्रियाणीति नैव वाच्यम् ॥ २।४।६॥

इति सप्तगत्यधिकरणम् ।

अथ प्राणाणुत्वाधिकरणम् ।

अणवश्च ॥२।४।७॥

"त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः" इतीन्द्रियाणामानन्त्य श्रुत्या सर्वगतत्वे प्राप्त आह—अणवश्चेति । अनूत्क्रमणश्रवणात् प्राणा अणवः । आनन्त्यश्रुतिस्तु "अथ यो ह वैतानानन्तानुपास्ते" इत्युपासनविधानादुपासनफलबाहुल्यविषया ॥२।४।७॥

इति प्राणाणुत्वाधिकरणम् ।

अथ श्रैष्ठ्याधिकरणम् ।

श्रेष्ठश्च ॥२।४।८॥

वागादीन्द्रियाणां स्वरूपस्थितेः प्रवृत्तेश्च मुख्यप्राणाधीनत्वस्य छान्दोग्यादिश्रुतिषूपदिश्यमानत्वाद्वागादिभ्यस्तस्य श्रेष्ठत्वात्, श्रेष्ठः प्राण उत्पद्यते न वेति संशये नोत्पद्यते । कुतः ? "आनीदवातम्" इत्यत्र महाप्रलये आनीदितिपदेन प्राणसंचारस्य श्रवणात्संचारवत्त प्राणस्य प्रलयेऽपि वर्तमानत्वात् । एवं प्राप्त आह—श्रेष्ठश्चेति । "एतस्माज्जायते प्राणः" इति श्रुतौ प्राणोत्पत्ति श्रवणाद् श्रेष्ठः प्राण उत्पद्यते । आनीदवातमितिश्रुतिस्तु परब्रह्मविषयिणी ॥२।४।८॥

इति श्रैष्ठ्याधिकरणम् ।

अथ वायुक्रियाधिकरणम् ।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥२।४।९॥

किमयं मुख्यः प्राणो भूतवायुरेवोत क्रियाविशेष आहोस्वित्कोऽपि विशेषमापन्नो वायुरिति संशये किं युक्तम्—भूतपरिगणितो

वायुरेवायम्। कुत ? "य प्राण स वायु" इति श्रुते। अथ वोच्छ्वासनिश्वासरूपवायुक्रियाया प्राणत्वप्रसिद्धेर्वायो क्रिया विशेष प्राण इति प्राप्त उच्यते—न वायुक्रिये इति। न वायु स्वय प्राणो न च वायो क्रिया प्राण। कुत ? पृथगुपदेशात्। एतस्मा ज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च। ख वायुर्ज्योतिराप" (मु॰ २।१३) इति वायो प्राणस्य च पृथगुपदेशान्न वायु प्राण। न च क्रिया। तस्या पृथगुपदेशासम्भवात्। अपि तु देहधारण योग्यतारूपविशेषमापन्नोवायुरेव प्राणो देहेन्द्रियधारणरूपजीवो पकारित्वाधिक्यात्। तस्य चक्षुरादिकरणै सह जीवोपकरणत्वोप देशेपि चक्षुरादिभ्य प्रधानत्वात्। तदन्वयव्यतिरेकाभ्यामपि चक्षु रादिप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्तेश्च दर्शनाच्चक्षुरादिभ्यस्तत्प्रधानत्वनिष्पत्तेर्न क्रियामात्र प्राण ॥२।४।९॥

यदि प्राणो न वायुर्न च तत्क्रिया तर्हि तेजोप्पृथिवीवद्भूता न्तरत्व स्यादित्यत्राह—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥२।४।१०॥

तुशब्दश्चोद्य व्यावर्तयति। नाय प्राणोऽग्न्यादिवत्तत्वान्तर किन्त्ववस्थान्तरमापन्नोवायुरेव चक्षुरादिवज्जीवोपकरणभूत। कुतो ऽवगम्यते ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्य। जीवोपकरणभूतैश्चक्षुरादिभिस्सह प्राणस्य शिष्टे शासनादित्यर्थ। समानजातीयानामेव सहशासनस्य योग्यत्वात् ॥२।४।१०॥

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥२।४।११॥

करण क्रिया। अकरणत्वात्प्राणस्य जीवोपकारभूतक्रियाविशेष रहितत्वाद्वायो क्रियाविशेष प्राण इति यो दोष सभाव्यते स नोप पद्यते। कुत ? प्राणस्य जीवशरीरेन्द्रियधारणरूपतदुपकारविशेष

भूतक्रियावत्त्वात्। तथा हि दर्शयति। "को न श्रेष्ठ इति तान् होवाच यस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः" (छा० ५।१।७) इत्यस्मिन् प्रकरणे प्राणस्यैव प्राणापानाद्याकारेण पञ्चधाऽवस्थितस्य शरीरेन्द्रियधारणद्वारा जीवस्योपकारकत्वाच्च-क्षुरादिवत्तत्करणत्वं दर्शयति श्रुतिः ॥२।४।११॥

प्राणापानादिविभागेन पञ्चधावस्थितस्यैकस्य प्राणस्य न केवलं देहेन्द्रियधारणमेवासाधारणं कार्यं किन्त्वन्यदपीत्याह—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥२।४।१२॥

यथा "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा" (बृ० १।५।३) इत्यादौ कामादिवृत्तिभेदैरेकमेव मनः कामादिशब्दैः श्रुत्याभिधीयते तथा प्राणोऽपि प्राणापानव्यानोदानसमानरूपेण तत्तद्वृत्तिभेदेनोच्छ्वासनि-श्वाससर्वशरीरक्रियोत्क्रान्तिरूपाणि कार्याणि भक्षिताशितादिरसानां सर्वा-ङ्गेषु समत्वेन नयनरूपं कार्यं च कुर्वन् जीवशरीरेन्द्रियाणामुपकारं कुर्वन् जीवस्योपकरणं भवति ॥२।४।१२॥

इति वायुक्रियाधिकरणम् ।

अथाणुत्वाधिकरणम् ।

अणुश्च ॥२।४।१३॥

"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतेः प्राणस्याणुत्वे निश्चिते "सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण" "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" इत्यादि श्रुतिर्न प्राणस्य महत्परिमाणत्वं बोधयति; अपितु सर्वस्य प्राणायत्तस्थितिप्रवृत्तित्वेन प्राणस्य सर्व-प्रधानत्वमित्यवगन्तव्यम् ॥२।४।१३॥

इत्यणुत्वाधिकरणम् ।

अथ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ।

ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात् ॥२।४।१४॥

अधिष्ठानमधिष्ठातृत्वम् । जीवेन सह ज्योतिरादग्न्यादयां वागादीन्द्रियाधिष्ठानं तदाधिष्ठितत्वं परमात्मायत्तमेव । कुत ? तदामननात् । आमननमाभिमुख्येन मननं सङ्कल्प इत्यर्थः । तस्य परमात्मशरीरत्वेन तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तीनां जीवस्याग्न्यादिदेवानां च परमात्मसङ्कल्पेनैवार्थतो वागादीन्द्रियाधिष्ठितत्वादरामननात् । तथा च श्रुति —य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्, य आदित्ये तिष्ठन् यस्यादित्यः शरीरम्, यश्चक्षुषि तिष्ठन् यस्य चक्षुः शरीरमित्यादि ॥२।४।१४॥

यद्येवं जीवेन सहाग्न्यादीनां देवतानामेवाधिष्ठातृत्वं तर्हि अग्न्यादीनामपि भोक्तृत्वं स्यान्न जीवस्येत्यत आह—

प्राणवता शब्दात् ॥२।४।१५॥

प्राणवता जीवेनैवेन्द्रियाणां स्वस्वामिसम्बन्धस्तेनेन्द्रियसाध्यभोगभाग् जीव एवेत्यर्थः । कुत ? शब्दात् । "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरित्यादि श्रुतेः ॥२।४।१५॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥२।४।१६॥

तस्य सर्वशरीरस्य परमात्मनः सर्वनियमनस्य नित्यत्वात्तत्सङ्कल्पादेव जीवस्याग्न्यादीनां च तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातृत्वमित्यर्थः । चकाराज्जीवस्य स्वकर्मोपार्जिते देहे कर्तृत्वस्य कर्मफलभोक्तृत्वस्य च नित्यत्वाज्जीवो भोक्ता । देहेन्द्रियाणामग्न्यादिकर्मोपार्जितत्वाभावान्न तेषामग्न्यादीनां भोक्तृत्वमस्मिञ्छरीर इत्यर्थः ॥२।४।१६॥

इति ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ।

अथेन्द्रियाधिकरणम् ।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥२।४।१७॥

किं प्राणशब्दनिर्दिष्टा ये ते सर्वं एवेन्द्रियाणि किं वा श्रेष्ठप्राण व्यतिरिक्ता ये प्राणशब्दनिर्दिष्टा त इति संशये किं युक्तम्? सर्वेषा प्राणशब्दवाच्यत्वाविशेषात्सर्वे इति प्राप्त उच्यते-अन्यत्र श्रेष्ठात्। श्रेष्ठान्मुख्यप्राणादन्यत्रान्ये ते प्राणशब्दनिर्दिष्टा वागादय इन्द्रियाण्युच्यन्ते न मुख्यप्राण इन्द्रियमित्युच्यत इत्यर्थः । कुत ? तद्व्यपदेशात्। "एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यत्र भेदेनोत्पत्तेर्व्यपदेशात् ॥२।४।१७॥

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ॥२।४।१८॥

"एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च" इति समनस्केभ्य इन्द्रियेभ्यो भेदेन प्राणोत्पत्ते श्रुते श्रवणात्। वैलक्षण्याच्च। सुषुप्तिमूर्छादाविन्द्रियाणामुपरामकालेपि निश्वासोच्छ्वासात्मकप्राण वृत्तेर्दर्शनादिन्द्रियवृत्तिभ्य प्राणवृत्तेर्वैलक्षण्याच्च। आभ्या हेतुभ्या श्रेष्ठात्प्राणात्ते प्राणशब्दनिर्दिष्टा वागादयोऽन्य इत्यर्थः ॥२।४।१८॥

इतीन्द्रियाधिकरणम् ।

अथ सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ।

सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२।४।१९॥

एवं भूतेन्द्रियप्राणाना समष्टिसृष्टिमभिधाय व्यष्टिसृष्टिरिदानीं चिन्त्यते। तत्र यदिद नामरूपव्याकरण तत्समष्टिजीवस्य हिरण्य गर्भस्यैव कर्माहोस्वित्तच्छरीरकस्य परमात्मन इति संशय । तत्र समष्टिजीवस्यैवैतत्कर्म भवितुमर्हति। कुत ? 'अनेन जीवेनाऽऽत्मना

ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६।३।२) इति जीवस्यैव तत्कर्तृत्वश्रवणात्।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्त्विति—तुशब्दो जीवकर्तृत्वनिरासार्थः। "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छा० ६।३।२) इति त्रिवृत्कुर्वत परमात्मन एव संज्ञामूर्तिक्लृप्तिनामरूपव्याकरणं कार्यं भवितुमर्हति। कुतः? उपदेशात्। "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता, अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छा० ६।३।२) इति नामरूपव्याकरणस्य च परदेवताकर्तृकत्वोपदेशात्। अत्र त्रिवृत्करणं परस्यैव ब्रह्मणो न तु हिरण्यगर्भस्य। एवञ्च तत्समानकर्तृकत्वान्नामरूपव्याकरणं परमात्मन एव कर्मेति निश्चीयते ॥२।४।१९॥

'यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवता०' इत्यादित आरभ्य "यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समासः" इत्यन्तेन तेजोबन्नानां बाह्यत्रिवृत्करणमुक्त्वा तासामेव देवतानामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम् 'यथा खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहि" इत्यादिना। एवम् "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः" इत्यादिना यत्तेजोबन्नानां परमात्मना त्रिवृत्कृतानामध्यात्मं त्रिवृत्करणं तदपि परमात्मकार्यम्। तदन्यस्य तत्कर्तुमशक्यत्वादिति ज्ञापयति—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२।४।२०॥

पुरुषेणाशितायाः व्रीहियवादिरूपाया भूमेः कार्यत्रयं शरीरे वर्तते पुरीषं मांसं मनश्चेति। तद्भौममित्युच्यते। मांसादित्यादिशब्देन पुरीषमनसी गृह्येते। एवमितरयोस्तेजसोश्च यथाशब्दं यथा श्रुत्योक्तं मूत्रं लोहितं प्राणश्चेत्यपां कार्यत्रयम्। अस्थि मज्जा वागिति तेजसः

कार्यत्रय बोध्यम् । तत्र वायु कार्यत्वेन प्रसिद्धस्य प्राणस्य जलाधीन स्थितिकत्वमात्रेण जलकार्यत्व व्यपदेश । एवमन्नभक्षणेन मनस स्वास्थ्यमात्रेण तत्कार्यत्वव्यपदेश । वाचोपि ज्ञानानुकूलत्वसाम्येन तेज कार्यत्वव्यपदेश । तत्र जीवस्यान्नजलाद्यशनपानादि कर्तृत्वेपि तत्पचनपुरीषमासादित्रिवृत्करणहेतु परमात्मैव ॥२।४।२०॥

ननु सर्वेषा पदार्थाना त्रिवृत्कृतत्वेन सर्वेपि पृथिव्यन्नजस्वरूपा । अतस्ते सर्वेपि पृथिव्यन्नेजश्शब्दैर्वक्तव्या न त्विय पृथिवी, इमा आप , इद तेज इत्याशङ्कयाह—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२।४।२१॥

तुशब्द उक्तशङ्कानिवर्तक । सर्वेषा पृथिव्यप्तेजसा त्रिवृत्करणत्वाविशेषेऽपि वैशेष्यात्स्वस्वभागाधिक्यात्तद्वाद पृथिव्यादिवाद । यत्र पृथिव्या भागाधिक्य सा पृथिवीत्युच्यत । यत्रापा भागाधिक्य ता आप इत्युच्यन्ते । यत्र तेजसो भागाधिक्य तत्तज इत्युच्यते । अभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थ ॥२।४।२१॥

इति सज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवधकायोध्यक्रबिन्दु श्रीपीठसस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्र रामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपे श्रीजानकीकृपाभाष्य
साक्षतसारे द्वितीयाध्यायस्य
चतुर्थ पाद ॥४॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यं प्रणीतस्य शारीरकमीमांसायां

श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ।

जीवोपकरणभूताना भौतिकाना पदार्थाना कर्ता परमात्मेत्युक्तम् । इदानीं देहान्तरारम्भकैर्भूतसूक्ष्मै परिष्वक्त एव जीवो लोकान्तर गच्छतीत्याह—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥३।१।१॥

किमय जीवो देहान्तरारम्भकैर्भूतसूक्ष्मैर्मुख्यप्राणादीनामाधार भूतैरसयुक्तो देहान्तरं गच्छत्याहोस्वित्सम्परिष्वक्त इति सशये । असम्परिष्वक्त एव गच्छति । देहान्तरारम्भकाणा भूतसूक्ष्माणां सर्वत्र सुलभत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते–तदन्तरप्रतिपत्तौ रहति सम्परिष्वक्त प्रश्ननिरूपणाभ्यामिति । पूर्वसूत्र (२।४।१९) मूर्तिशब्दा देह उच्यते तस्यैवात्र सूत्र तत्पदेन ग्रहणम् । तथा च देहान्तरगमने तदारम्भकैर्भूतसूक्ष्मै सम्परिष्वक्त एव जीवो रहति गच्छति । कुतश्चैतदवगम्यते ? प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । प्रश्नेन तदुत्तरेण चाव गम्यते । पञ्चाग्निविद्याया छान्दोग्ये श्रूयते "श्वेतकेतुर्हारुणेय पञ्चालानां समितिमेयाय तर्ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच" वेत्थ 'यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्तीति' (छा ५।३।१।३) इत्यादिकम् । तत्र प्रवाहणेन राज्ञाऽरुणेय श्वतकेतुम्प्रति पञ्च प्रश्ना कृता । तेष्वन्तिम प्रश्न "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुष वचसो भवन्ति" इति । अस्य च प्रतिवचन "असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्" (छा० ५।४।१) इत्यादिना

कृतम्। तत्र हि द्युलोकपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषारूपास्वग्निषु श्रद्धा सामवर्षान्नरेतसामाहुती समुपवर्ण्योक्त 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति" (छा० ५।९।१) इति। इत्थं पूर्वोदितासु सर्वास्वप्याहुतिषु सूक्ष्मरूपेणानुवर्तमानानां श्रद्धापदव्यपदेश्यानामेवापां पुरुषशब्दबोध्यत्वमभिहितम्। एवञ्चाभ्यां प्रकृतप्रश्नप्रतिवचनाभ्यामबादिभूतसम्परिष्वक्तो जीवो रंहति देहान्तरमुपयातीत्यवगम्यते ॥३।१।१॥

ननूक्तप्रश्ननिरूपणाभ्यामद्भिः परिष्वक्तो जीवो गच्छति "आप पुरुषवचसो भवन्ति" इत्यभिधानात्। परन्तु तस्याबितरभूतपरिष्वङ्गानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥३।१।२॥

तु शब्द शङ्कानिवर्तक। अपां त्रिवृत्करणश्रुत्या त्र्यात्मकत्वात्। "आप पुरुषवचस" इति च भूतान्तरसंसृष्टा आपोऽभिधीयन्ते। तत्रापां भूयस्त्वादाधिक्यात्केवलाप्शब्देनैवाभिधानमुपपद्यते ॥३।१।२॥

प्राणगतेश्च ॥३।१।३॥

"तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्त सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (बृ० ६।४।२) इति। तथा "शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" (गी०) इति स्मृतेश्च जीवोत्क्रमणकाले मुख्यप्राणसहितानामिन्द्रियाणामपि तेन सह गतिश्रवणात्स्मरणाच्चेन्द्रियाणां देहाश्रितत्वेन देहारम्भकाणां भूतसूक्ष्माणामपि गमनाद् भूतपरिष्वक्त एव जीवो रंहतीति ॥३।१।३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिचेन्न भाक्तत्वात् ॥३।१।४॥

ननु "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्च-

क्षुरादित्यम्" (बृ० ५।२।१३।) इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिषु लयस्य श्रवणात्तेषां मरणकाले जीवेन सह गतिर्नोपपद्यत इति चेन्न, "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" इति जीवेन सह वागाद्युत्क्रान्तिश्रुतिविरोधेन तेषामग्न्यादिदेवतासु लयाऽनुपपत्तेः । "यत्रास्य पुरुषस्याग्नि" मित्यादिश्रुतेर्भाक्तत्वावगमात् । तथा च नहि मृतस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानानां लोम्नां केशानाञ्चौषधिषु वनस्पतिषु च लयो दृश्यते । अतोऽग्न्यादिषु वागादिलयश्रुतेरौपचारिकत्वम् ॥३।१।४॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥३।१।५॥

प्रथमे द्युलोकाख्याग्नावपामाहुतेरश्रवणात्किन्तु "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति" (छा० ५।४।२) इति प्रथमेऽग्नौ श्रद्धाया एवाहुतेः श्रवणादापो भूतान्तरसंसृष्टा गच्छन्तीति नोपपद्यत इति चेन्न । यस्मात्ता एवापः श्रद्धाशब्दवाच्या भवन्ति । कुतः ? उपपत्तेः । "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा० ५।३।३) इति प्रश्नवाक्येपामेवाहुतेः श्रवणात् । प्रतिवचनवाक्ये श्रद्धाशब्देनाप एवोक्ता भवन्ति । "श्रद्धा वा आपः" इत्यपां श्रद्धाशब्दवाच्यत्वं श्रुत्यावगम्यते ॥३।१।५॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥३।१।६॥

ननु "देवा श्रद्धां जुह्वति" (छा० ५।४।२) इत्यादि प्राकरणिकेषु वाक्येष्वबादिभूतपरिष्वक्तस्य जीवस्य रंहणत्वं नोपपद्यते । कुतः ? प्रश्नप्रतिवचनवाक्ययोरश्रुतत्वात् । इति चेन्न । इष्टादिकारिणां प्रतीतेः । इष्टादिकारिणां जीवानां भूतपरिष्वक्तानां रंहणत्वप्रतीतेः । "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" (छा० ५।१०।३) इतीष्टादिकारिणां धूममार्गेण चन्द्रलोकप्राप्तिः श्रूयते । "एष सोमो राजा" इति तत्रस्थानां सोमराजशब्देन निर्देशात् ॥ ३।१।६॥

ननु "ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ती"ति श्रुतौ चन्द्रलोकगतानां भूतपरिष्वक्तानामिष्टादिकारिणामन्नत्वेन देवभक्ष्यत्वं श्रूयते। एतच्छ्रुतिविरोधेनेष्टादिकारिणां भूतपरिष्वक्तानां स्वकर्मफलभोगाय चन्द्रलोकं प्रति रंहणं नोपपद्यत इत्याशङ्कयाह—

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥३।१।७॥

वाशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः। जीवस्य स्वर्गसुखावाप्त्यर्थं 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिविधिवाक्यानां विरोधेनेष्टादिकारिणामन्नत्वस्य मुख्यत्वानुपपत्तेस्तेषां देवान् प्रति किङ्करभार्यादिवद्भोगोपकरणत्वमात्रेणान्नत्ववचनं भाक्तं गौणम्। तत्तेषां देवान्प्रति गुणभावेन भोग्यत्वमुपपद्यते। कुतश्चैतदिष्टादिकारिणां भोग्यत्वमत आह—अनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति। यतस्तेन प्रकारेण तेषामनात्मवित्त्वेन देवभोग्यत्वं दर्शयति श्रुतिः "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्" (बृ० ३।४।१०) इति पञ्चाग्निविद्याविदां च आत्मविदस्तेषामर्चिरादिना ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते। "तद्य इत्थं विदुः" इत्यादिना तेषामात्मज्ञानं विना ब्रह्मप्राप्त्यनुपपत्तेरात्मवित्त्वमवगम्यते। आत्मविदां स्वर्गकामनानुपपत्तेः। स्वर्गप्राप्तिकामनां विना स्वर्गप्राप्त्यनुपपत्तेर्ये धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकं गच्छन्ति तेषामनात्मवित्त्वनिष्पत्तेरनात्मविदामिष्टादिकारिणां देवान्प्रत्यन्तभावेन भोग्यत्वमात्मवित्प्रशसार्थं गौणमेव। तस्मात्स्वर्गसुखभोगार्थं सूक्ष्मभूतपरिष्वक्तो रंहतीति सिद्धम् ॥३।१।७॥

इति तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्

अथ कृतात्ययाधिकरणम् ।

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च ॥३।१।८॥

केवलमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलभोगार्थं धूमादिमार्गेण सोमलोक प्राप्तानां तत्र च भुक्तकर्मफलानां ततो निवर्तनं श्रूयते "तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" (छा० ५।१०।५) इत्यादि । तत्र संशयः । किं चन्द्रमण्डलान्निवर्तमानास्ते जीवा निरनुशया एव निवर्तन्त आहोस्वित्सानुशया इति । तत्र निरनुशया एवावरोहन्तीति पूर्वःपक्षः । प्रकृतेऽनुशयशब्द आमुष्मिकफलप्रदकर्मातिरिक्तकर्मवाचकः । श्रुतौ सम्पतन्त्यनेन स्वर्गं लोकंफलभोगायेति सम्पातोऽत्रकर्माऽभिधीयते। एवञ्च 'यावत्सम्पातमुषित्वा' इति वाक्येनाखिलकर्मणामुपभोगस्तत्रैव निश्चीयते । तथा च श्रुतिः "प्राप्यान्त कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" (बृ० ४।४।६) इति । तस्मात्सर्वकर्मफलभोगानन्तरमेवावरोहणान्निरनुशया एव निवर्तन्ते । इति प्राप्तेऽभिधीयते-कृतात्ययेऽनुशयवानिति । कृतस्य स्वर्गप्राप्तये कृतस्य पुण्यकर्मणो भोगेनात्यये नाशे सत्यनुशयवान् भुक्तशिष्टकर्मवानेव निवर्तते । चन्द्रमण्डलात्प्रत्यवरोहति । कुतोऽवगम्यते । दृष्टस्मृतिभ्याम् । दृष्टा श्रुतिः । सा च "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा" (छा० ५।१०।७।) इत्येवं रूपा । येऽत्र कर्मभूमौ रमणीयं पुण्यं कृतवन्तस्ते चन्द्रमण्डलादवरोहन्तो रमणीयां पुण्यां ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते । ये च कपूयं कुत्सितं पापं कृतवन्तस्ते कपूयां कुत्सितां श्वशूकरादियोनिमापद्यन्त इति पुण्यपापकर्मकारिणां स्वर्गात्प्रत्यव-

रूढानां प्राक्तनकर्मयोगात्पुण्यपापरूपजन्मनां प्राप्तिं दर्शयन्ती श्रुतिर्भुक्तशिष्टं कर्मास्तीति स्पष्टयति। तथा स्मृतिरपि "वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठा. प्रेत्य कर्मफलमनुभूय तत. शेषेण विशिष्ट देशजातिकुलरूपायु श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते" (गौतम०) इति। तत शेषेणत्यनेन सानुशयानामेव स्वर्गादवरोहणं वदति। "यावत्सम्पातमुषित्वा" इत्यस्य सकलकर्मभोगानन्तरं निवर्तन्त इति नार्थ'। किन्तु स्वर्गलोकभोक्तव्यानि कर्माण्यशेषेण भुक्त्वेत्याद्यर्थं। सकलकर्मफलभोगपरत्वे तु सर्वेषां कर्मणा तत्फल-भोगेन विनाशादुत्तरजन्महेत्वभावेन पुनरिह लोके प्रत्यावर्तना-ऽसम्भवात् "रमणीयां योनिमापद्येरन्" इत्यादि श्रुते 'तत: शेषेण' इत्यादिस्मृतेश्च वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। तस्मात्सानुशयानामेवावरोहण-मिति। ते च येन क्रमेणारूढास्तेनैव क्रमेणावरोहन्ति क्रमान्तरेण वेति सन्देह निरस्यन्नाह—'यथेतमनेवञ्च' आरोहणप्रकारेण तद्विपर्ययेण च निवर्तन्त इति तदर्थ। धूमरात्र्यपरपक्षषण्मास-दक्षिणायन पितृलोकाकाश चन्द्रलोकक्रमेणारोहणप्रकार.। अवरोहण-प्रकारस्तु चन्द्रमस स्थानादाकाशवायुधूमाभ्रमेघप्रवर्षादि क्रमेण। तत्रारोहणमार्गे श्रुतयोर्धूमाकाशयोरवरोहणमार्गेऽपि श्रुतत्वाद्—यथेतं यथागत गमनमार्गेण निवर्तन्त इत्यर्थ.। आरोहणमार्गे श्रुतानां रात्र्यपरपक्षषण्मास दक्षिणायनपितृलोकानामवरोहणमार्गेऽश्रवणात्। वाय्वभ्रमेघप्रवर्षाद्यधिकश्रवणाच्च। नैव यथेत न निवर्तन्ते। गतमार्ग-विपरीतमार्गेणावरोहन्तीत्यर्थ. ॥३।१।८॥

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥३।१।९॥

ननु "रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्" इति श्रुतस्य चरणपदस्यानुशयकर्मार्थकत्वमङ्गीकृत्य सानुशयानामवरोहण यदुक्तं तन्नोपपद्यते। कुत. ? चरणस्याचारात्मकस्य कर्मणो ब्राह्मणादि-

योनिप्राप्तिहेतुभूतस्यानुशयादतिरिक्तत्वादिति चेन्न। इय चरणश्रुति रनुशयकर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥३।१।९॥

आनर्थक्यमितिचेन्न तदपेक्षत्वात् ॥३।१।१०॥

ननु श्रुतस्य चरणस्यैव सदाचारदुराचारात्मकस्य ब्राह्मणादि-श्वशूकरादिसदसद्योनिप्राप्तिहेतुत्वेन श्रुतस्यानुशयकर्मोपलक्षकत्वे तस्याकिञ्चित्करत्वेनानर्थक्य स्यादिति चेन्न। तदपेक्षत्वात्। सुख साधनस्येष्टापूर्तादेः पुण्यकर्मणश्चरणपदाभिहिताचारनिर्वर्त्यत्वेना-चारापेक्षत्वात्तस्य चार्थवत्त्वादिति। "सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु" इति स्मृतेः सर्वस्य पुण्यकर्मण. आचारापेक्षत्वात्। "आचारहीनं न पुनन्ति वेदा" इत्याचारहीनस्याशुचित्वाभिधानाच्च। तस्मात्कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनमतम् ॥३।१।१०॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥३।१।११॥

तुशब्द. कार्ष्णाजिनिमतापाकरणार्थ। चरणशब्देन सुकृत दुष्कृते एवाभिधीयेते इति बादरिराचार्यो मन्यते। न हि सुकृत-दुष्कृतसाधनरूपाचारे चरणशब्दः। कुत? पुण्य कर्म करोतीति वाक्यस्थाने "धर्मं चरती"त्येवमपि प्रयुज्यते। तस्मान्मुख्य एव चरणशब्दः कर्माभिधायक'। सति मुख्यार्थे लक्षणाया अन्याय्य त्वात्। आचारोऽपि धर्मविशेष एव। तस्मात्सानुशया एव निवर्तन्त इति सिद्धम् ॥३।१।११॥

इति कृतात्ययाधिकरणम्।

अथानिष्टादिकार्याधिकरणम् ।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥३।१।१२॥

इष्टादिकारिणां चन्द्रमण्डलगमनमुपवर्णितम् । अथानिष्टादिकारिणां पापकर्मणां गतिश्चिन्त्यते । तेषां किं चन्द्रलोके गमनमस्ति न वेति संशये अस्ति चन्द्रलोके गमनम् । कुतः ? तेषामपि तत्र गमनं श्रुतमस्ति "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (कौषी० १।२) इति सर्वेषामेव चन्द्रलोके गमनमविशेषेण श्रूयते ॥३।१।१२॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥३।१।१३॥

अथैवमिष्टानिष्टकारिणोरविशेषेणैव चन्द्रलोकगमनं तर्हि कथं 'रमणीयां योनिमापद्येरन्' 'कपूयचरणा कपूयां योनिमिति पश्चात्तनवाक्ये फलभेदः' ? इति शङ्कायामाह–संयमने त्वित्यादि । तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । संयमने यमालये स्वपापानुरूपां याम्यीं यातनामनुभूयैवेतरेषामनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोक आरोहावरोहौ नान्यथा । कुतः ? तद्गतिदर्शनात् । यमलोकगतेः श्रुतौ दर्शनात् । "न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" (का० ६।२) इति । सम्यगवश्यं परः परस्तादेहपातादूर्ध्वमय्यते गम्यत इति सम्परायः परलोकस्तत्साधनभूतकर्मविशेषः साम्पराय इति ॥३।१।१३॥

स्मरन्ति च ॥३।१।१४॥

अनिष्टादिकारिणां दुष्कृतकर्मणां सर्वेषां प्राणिनां यमायत्तत्वं स्मरन्ति चर्षयः ॥३।१।१४॥

अपि च सप्त ॥३।१।१५॥

रौरवादीन् सप्त नरकानपि पापिनां फलभोगभूमित्वेन स्मरन्ति ॥३।१।१५॥

ननु सप्तसु रौरवादिषु पापफलभोगभूमिषु गच्छतां कुतो यमलोकाप्राप्तिरित्याह—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥३।१।१६॥

रौरवादिष्वपि यमव्यापारादेव गमनात्पापिनां यमवश्यत्वस्याविरोधः ॥३।१।१६॥

एवं पञ्चसूत्र्याः पूर्वपक्षमुद्भाव्य सिद्धान्तयति—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥३।१।१७॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । यदुक्तमनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोकगतिरस्तीति तन्नोपपद्यते । कथमवगम्यते । विद्याकर्मणोः फलभोगार्थत्वेन देवयानपितृयाणयोरुपयोगः । तथा हि—"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" (छा० ५।१०।१।) इत्यारभ्य "तत्पुरुषोऽमानवः । स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः" (छा० ५।१०) इत्यन्तेन विद्याया देवयानाख्यमार्गसाधनतया प्रकृतत्वात् । "अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति" (छा० ५।१०) इत्यारभ्य "आकाशाच्चन्द्रमसम्" इत्यन्तेनेष्टापूर्तादिकर्मणः पितृयाणाख्यमार्गसाधनत्वेन प्रकृतत्वात् । तत्रेष्टादिकारिणां विद्यारहितत्वेन यथाब्रह्मलोकगमनासम्भवस्तथेष्टापूर्तदत्तादिपुण्यकर्मरहितानामपि चन्द्रलोकगमनासम्भव इत्याशयः ॥३।१।१७॥

अथैवं पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति पञ्चम्या आहुतेर्देहारम्भकत्वश्रवणात् तस्याश्चन्द्रगमनपूर्वकत्वश्रवणाच्च पापिनामपि देहारम्भार्थं चन्द्रलोकगमनमवश्यमङ्गीकार्यमित्याशङ्क्याह—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥३।१।१८॥

तृतीये स्थाने उक्तानां पापिनां क्षुद्राणां जन्तूनां देहारम्भाय पञ्चमाहुत्यपेक्षा नास्ति। कुतः? तथोपलब्धेः। "वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यत ३ इति" (छा० ५।३।३) इति प्रश्नस्य प्रतिवचनम्। विद्याऽविद्यावतां देवयानपितृयाणादिक्रमेण ब्रह्मचन्द्रलोकप्राप्तिमभिधाय "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते" (छा० ५।१०।८।) इति दृश्यते। अत्र वर्णितस्य तृतीयस्थानस्य प्राप्तये न द्युलोकादिगमनापेक्षेति। अत एव न पञ्चमाहुत्यपेक्षेति निर्णयः ॥३।१।१८॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥३।१।१९॥

अपि च लोके भारतादिषु पुण्यकर्मणामपि द्रोणद्रौपदीधृष्टद्युम्नादीनां चायोनिजत्वं स्मर्यते। तस्मान्न पञ्चमाहुतेर्नियमः ॥३।१।१९॥

दर्शनाच्च ॥३।१।२०॥

किञ्च श्रुतावपि कयोश्चिदुद्भिज्जस्वेदजयोर्भूतयोः स्त्रीपुंव्यक्तिसंयोगजपञ्चमाहुतिमन्तरेणैवोत्पत्तेर्दर्शनात्पञ्चमाहुतेरनपेक्षया देहारम्भः। दर्शनं श्रुतिः "तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति" (छा० ६।३।१) इति ॥३।१।२०॥

ननु 'त्रीण्येव बीजानी'ति वचनात्कथं चतुर्थस्य स्वेदजस्यात्र ग्रहणम्? इत्यत्राह—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥३।१।२१॥

श्रुतौ "अण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति" इति तृतीयेनोद्भिज्जशब्देन संशोकजस्य स्वेदजस्यावरोधः संग्रहः। वृक्षादिकं भूमिमुद्भिद्य

जायते स्वेदजन्तु जलमित्युभयोरुद्भिज्जत्वेनाविशेषादुद्भिज्जशब्देन ग्रहणम् । तस्मादनिष्टादिकारिणां दुष्कृतशालिनां न चन्द्रलोकगमनमिति सिद्धम् ॥३।१।२१॥

इत्यनिष्टादिकार्यधिकरणम् ।

अथ साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ।

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥३।१।२२॥

एवमिष्टादिकारिणां पितृयाणेन चन्द्रमण्डलगतिस्तत्र यावत्सम्पातं समवस्थानं ततश्च सानुशयानामेवावरोहणमित्यभिहितम् । इदानीमवरोहप्रकारश्चिन्त्यते । सचेत्थं श्रूयते "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति" (छा० ५।१०।५) तत्र संशयः । किमेषामवरोहतामाकाशादिप्राप्तौ देवादिवदाकाशादिस्वरूपोपलब्धिराहोस्विदाकाशादिसाम्यमेव । तत्राकाशादिस्वरूपोपलब्धिरिति । कुतः ? श्रद्धारूपाणां यथा सोमरूपोपलब्धिस्तद्वदत्राप्यविशेषेणाकाशमारभ्य "वायुर्भूत्वा धूमो भवती"त्येवं ताद्रूप्यमेव श्रूयते । इति प्राप्तेऽभिधीयते—साभाव्यापत्तिरिति—साम्यापत्तिरित्यर्थः । कथमवगम्यते । उपपत्तेः । सोमादिषु पुण्यपापोपभोगार्थं सारूप्यमेवावश्यकम् । आकाशादिप्रतिपत्तौ तु तदुपभोगाभावात्स्वरूपोपलब्धेरनुपयोगस्तस्मादाकाशादि साम्यमेवोपयान्ति । अत्राकाशादिभावश्चाकाशादिसादृश्यापत्तिरेवेत्यवगम्यते ॥३।१।२३॥

इति साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ।

अथ नातिचिराधिकरणम् ।

नातिचिरेण विशेषात् ॥३।१।२३॥

एवमाकाशादिवर्षपर्यन्तेषु पूर्वपूर्वसादृश्यं प्राप्योत्तरोत्तरसादृश्यं प्राप्नोतीत्युक्तम् । तदाश्रित्य किं जीवश्चिरकालमेकसादृश्यमास्थायापरसादृश्यं प्राप्नोत्याहोस्विदल्पकालं वेति संशये चिरं तिष्ठत्यचिरं वेति नियमाभावाच्चिरकालमेवेति प्राप्तेऽभिधीयते—नातिचिरेणेति । अचिरकालमेवाकाशादिभावेनावतिष्ठन्ते । कुतः ? विशेषात् । व्रीह्यादिभावावाप्त्यनन्तरं विशिष्य दुर्निष्क्रमणवचनात् । "अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्" (छा० ५।१०।६) इति व्रीह्यादिभावमुपगतानां दुःखेन निष्क्रमणमुच्यते । एतेनावगम्यतेऽतः पूर्वमाकाशादिप्रतिपत्तावचिरेणैव निष्प्रपतनमिति । दुर्निष्प्रपतरमित्यत्रच्छान्दसस्तलोपः ॥३।१।२३॥

इति नातिचिराधिकरणम् ।

अथान्याधिष्ठिताधिकरणम् ।

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॥३।१।२४॥

अवरोहणवाक्ये—"त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते" (छा० ५।१०।६।) इत्यनुशयिनां जीवानां व्रीह्यादिभावेनोत्पत्तिः श्रूयते । तत्र संशयः । किं जीवानां व्रीह्यादिभावेन मुख्यजन्मोच्यत आहोस्विज्जीवान्तराधिष्ठिते व्रीह्यादावनुशयिनां तेषां सादृश्येन संसर्गमात्रमिति । किं युक्तम् ? 'जायन्त' इति वचनाद्व्रीह्यादिशरीरत्वेन सुखदुःखभाजो जायन्ते । मनुष्यो जायते । पशुर्जायत इतिवत् । एवं प्राप्तेऽभिधीयतेऽन्याधिष्ठित

इति। अन्यैर्जीवैरधिष्ठिते व्रीह्यादावनुशयिनां जीवानां संसर्गमात्रं भवति। पूर्ववत्। आकाशादिवर्षान्तसंसर्गमात्रत्ववत्। कथमव-गम्यते। अभिलापात्। इष्टापूर्तादेः कर्मणः स्वर्गसुखभोगेनैव विनष्टत्वात्तदतिरिक्तस्य भुक्तशेषस्यानुशयरूपस्य च कर्मणः कर्मान्त-राभावेन सुखादिभोक्तृत्वाऽनुपपत्त्या मुख्यजन्मत्वानुपपत्तेः। तस्मा-दाकाशादिभावापत्तिरिव व्रीह्यादिभावावाप्तिरपि तत्संसर्गरूपैव। 'जायन्त' इति च भाक्तः प्रयोगः ॥३।१।२४॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥३।१।२५॥

ननु पूर्वश्रुतमिष्टाद्यग्निष्टोमादिकर्म हिंसागर्भत्वेनाशुद्धं तत्का-रिणामनुशयिनां स्वर्गादवरोहतां व्रीह्यादिषु जन्मदुःखाद्यनुभवार्थम-स्त्विति चेन्न। शब्दात्। 'यजेत' इत्यादिविधिशब्दात्। अग्निष्टो-मादीनां श्रुतिविहितानां कर्मणां पुण्यफलवत्त्वेन न दुःखहेतुत्व-मिति ॥३।१।२५॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥३।१।२६॥

इतोऽपि संश्लेषमात्रं व्रीह्यादिषु—व्रीह्यादिभावानन्तरमनुशयिना रेतः सिञ्चतीति रेतःसिक् पुरुषस्तद्योगस्तद्भाव श्रूयते—"यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतस्सिञ्चति तद्भूय एव भवति" (छा० ।५।१०।६।) इति। यथाऽत्र तद्योगमात्रमुच्यते तथा व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादि-संश्लेषमात्रमेव ॥३।१।२६॥

नन्वेवमनुशयिनां सर्वत्र संश्लेषमात्रमुत कचिन्मुख्यमपि जन्मे-त्यत आह—

योनेः शरीरम् ॥३।१।२७॥

'यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवती' त्यनन्तरं "तद्य इह रमणीय चरणा अभ्याशो ह यत्तेरमणीयां योनिमापद्येरन्" (छा०

५।१०।७।) इत्यनुशयिनामनुशयाख्यकर्मभोगाय योनौ निषिक्ते रेतसि योनेर्योनिप्राप्तेः पश्चादेव मुख्यं जन्म सम्पद्यते । अतः पूर्वमाकाशादिषु संश्लेषमात्रमेवेति सिद्धम् ॥३।१।२७॥

इत्यन्याधिष्ठिताधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे द्वितीयाध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥ १ ॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ सन्ध्याधिकरणम् ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥३।२।१॥

स्वप्नमधिकृत्य 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान् पथ सृजते न तत्रानन्दा मुद प्रमुदो भवन्त्यथा नन्दान् मुद प्रमुद सृजते न तत्र वेशान्ता पुष्करिण्य स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्ता पुष्करिणी स्रवन्ती सृजते स हि कर्ता" (बृ० ४।३।१०) इत्येव श्रूयते। तत्र संशय । किमस्या रथादिसृष्टे कर्ता जीव आहोस्वित्परमात्मेति। किं युक्तम् ? जीव इति। कुत ? तस्यैव स्वप्नकृतत्वात्, 'स हि कर्ता' इति तस्यैव परामर्शाच्च। सूत्रार्थस्तु—सन्ध्ये जागरितसुषुप्त्यो सन्धौ भवे स्वप्ने सृष्टी रथादि सृष्टि स्वप्नद्रष्टा जीवेन कृता। हि यत स हि कर्ता स स्वप्नद्रष्टा। जीव सृष्ट कर्तेति श्रुतिराह ॥३।२।१॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥३।२।२॥

एव जीवमेव स्वप्ने कामाना निर्मातारमेके शाखिन आमनन्ति "य एष सुप्तेषु जागर्ति काम काम पुरुषो निर्मिमाण ।" (का० २।५।८) इति। एषु चक्षुरादिकरणेषु सुप्तेषु स्वव्यापाराद्उपरतेष्वित्यर्थ। अत्र कामशब्देन काम्यन्त इति कामा पुत्रादय एव निर्दिष्टा। "सर्वान् कामान् छन्दत प्रार्थयस्व" "शतायुष पुत्र पौत्रान् वृणीष्व" (का० १।१।२३) इति कामानिति कामशब्देन पुत्रादीना प्रस्तुतत्वात्। जीवस्य स्वप्न उपकरणाद्यभावेपि सत्य सङ्कल्पत्वाद्रथादीना पुत्रादीना च सृष्टिकर्तृत्वमुपपद्यते ॥३।२।२॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह—

मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३।२।३॥

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । स्वाप्नरथरथयोगाद्यर्थजातं परमात्मसृष्टमित्यर्थः । "जनकस्य कुले जाता दवमायेव निर्मिता" इत्यादाविवात्रापि मायाशब्दस्याश्चर्यार्थकत्वात् । एवञ्च स्वाप्निकानां रथादीनां स्वप्नकालमात्रावसानानां स्वप्नद्रष्टृमात्रानुभाव्यानामाश्चर्यरूपत्वमेव । अस्याश्चाश्चर्यरूपायाः सृष्टेः कर्तृत्वं परमात्मन एवोपपद्यते । तस्य सर्वदाबाधितसत्यसङ्कल्पत्वात् । न तु जीवस्य तदुपपद्यते । तस्य प्रजापतिवाक्ये आविर्भूतस्वरूपसमकाले सत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वपर्यन्तस्याविर्भावित्वश्रवणात् । संसारदशायां तत्सत्यसंकल्पत्वपर्यन्तस्य कर्मरूपाविद्यातिरोहितत्वेन कृत्स्नस्यानभिव्यक्तस्वरूपत्वाद् रथादिसृष्टेर्जीवकृतत्वं नोपपद्यते । 'कामं काम' मिति तु परमात्मनो निर्मातृत्वमभिधत्ते ॥३।२।३॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥३।२।४॥

नन्वपहतपाप्मत्वाद्या गुणा जीवस्य स्वाभाविकाश्चेत्स्युस्तर्हि कथं न सर्वदोपलभ्यन्त इत्यत्राह पराभिध्यानात्त्वित्यादि । तु शब्दः शङ्कानिवर्तकः । अस्य जीवस्यानादिपुण्यपापकर्मरूपयाऽविद्यया तिरोहितमपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वान्तगुणविशिष्टं स्वाभाविकं रूपं पराभिध्यानात्परस्य परमात्मनोऽभिध्यानात् तदेकचिन्तनलक्षणात् तत्प्रसादादभिव्यज्यते । हि यतः परमात्मनः संकल्पादेवास्य जीवस्य बन्धमोक्षौ श्रूयेते ॥३।२।४॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥३।२।५॥

सोऽपि स्वरूपतिरोभावोऽपि देहयोगात् सृष्टिकाले देवमनुष्यादिदेहात्मना परिणतप्रकृतियोगात्, वाशब्दात्प्रलयकालेऽनभि

व्यक्तनामरूपसूक्ष्मदशापन्नाचिद्योगाद्भवति। यथा भस्मयोगादग्ने प्रकाशनसामर्थ्यं तिरोभवति तद्वत्त्रापि तिरोभाव इति ॥३।२।५॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥३।२।६॥

इतश्च न स्वाप्नार्था जीवसङ्कल्परचिता। हि यत स्वाप्निकोऽर्थ इष्टानिष्टयो सूचक। "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रिय स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्न निदर्शने।" (छा० ५।२।९।) इत्यादिश्रुतेरवसीयते। तद्विद स्वप्नदृष्टार्थफलविदश्च 'अथ पुरुष कृष्ण कृष्णदतश्च पश्यति स एन हन्ति' इत्यादिना स्वाप्नार्थस्येष्टानिष्टसूचकत्वमाचक्षते। तेषा जीवसङ्कल्पकृतत्वेऽनिष्टसूचकत्व नोपपद्यते। नहि कश्चिदनुन्मत्त स्वानिष्टकारिणोऽर्थान् सृजति सृष्ट्वा च पश्यति। तस्मात्स्वाप्नसृष्टे कर्तृत्व परमात्मन एवोपपद्यते न जीवस्य ॥३।२।६॥

इति सन्ध्याधिकरणम्।

अथ तदभावाधिकरणम्।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥३।२।७॥

एवं स्वप्नावस्था विचिन्त्य सुषुप्त्यवस्थामिदानीं विचारयति। तत्र सुषुप्तिस्थानमधिकृत्य विभिन्ना श्रुतय उपलभ्यन्ते। यथा "यत्रैतत्सुप्त समस्त सम्प्रसन्न स्वप्न न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति" (छा. ८।६।३) इति। अन्यत्र "अथ यदि सुषुप्तो भवति यदि न कस्य च न वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभि प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" (बृ० २।१।१९) इति। इतरत्र "य एषोऽन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिञ्शेते" (बृ. २।१।१७) इति। अपरत्र च "यत्रै

तत्पुरुष, स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा. ६।८।१) इति । तत्र संशय । किमेषा श्रूयमाणानां नाडीपुरीतत्परमात्मनां त्रयाणां मध्ये जीवस्य यत्र कुत्रचित्सुषुप्तिरथवानाडीपुरीतत्प्रवेशानन्तरं परमात्मन्येवेति ? किं तावत्प्राप्तम् ? परस्परनिरपेक्षाणामेव वचनानां सत्त्वादेकस्य युगपदनेकसुषुप्त्यसम्भवाच्च विकल्प इति प्राप्तेऽभिधीयते—तदभाव इति । तदभाव स्वप्नाभाव सुषुप्तिर्नाडीषु पुरीतति परमात्मनि च भवतीत्यर्थ । नाड्यादीनां त्रयाणां समुच्चय एव न विकल्प । कुत ? तच्छ्रुते.। तेषा नाडीपुरीतत्परमात्मनां त्रयाणामपि सुषुप्तिस्थानत्वश्रुत । समुच्चयास्वीकारे त्रिविधसुषुप्तिबोधकश्रुतीनां सग्रहो न स्यादिति भाव । तत्र नाडीपुरीतत्प्रवेशनं विना ब्रह्मसम्पत्तेरनुपपत्तेर्नाडीपुरीतत्प्रवेशद्वारा ब्रह्मसम्पत्तिरेवात्र बोध्यते ॥३।२।७॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥३।२।८॥

यत परमात्मैव जीवस्य साक्षात् सुषुप्तिस्थानम् । अत एवास्मात्परमात्मनो जीवस्यागमन श्रूयते प्रबोधकाले "सत आगम्य न विदु सत आगच्छामह इति" (छा० ६।१०।२) ॥३।२।८॥

इति तदभावाधिकरणम् ।

अथ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्याधिकरणम्

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥३।२।९॥

य. सुषुप्त स एवोत्तिष्ठत्यन्यो वेति संशये सुषुप्तस्य सर्वोपाधिविमुक्तिपूर्वकं ब्रह्मसम्पन्नस्य मुक्तस्येव ब्रह्मण उत्थानानुपपत्तेर्न स उत्तिष्ठति । तत्र सिद्धान्तमाह—स एवत्विति । यः सुप्त स एवोत्तिष्ठतीति । कुत ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । कर्म तावद्,

यैर्यैस्य पुण्यपापात्मककर्मभिरस्य देहो निर्मितस्तै विना तदन्यस्य तत्कर्मभोगो नोपपद्यते । अन्यच्च, पूर्वदिनेऽर्द्धं कर्म कृत्वा सुप्त पुनरुत्थायावशिष्टमर्धं समापयति । स्मृतिरपि, सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थाय सुप्तमात्मानं स्मरति । "त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति" (छा० ६।१० २) इति सुप्तस्यैव प्रबोधं दर्शयति । विधिभ्यश्चापि—"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० ४।५।६) इत्येवमादयो मोक्षार्था विधय आत्मदर्शनमन्तरेण जीवस्य सुषुप्तिमात्रेण मुक्तत्वे व्यर्थतां गच्छेयुः । नह्येषामानर्थक्यं युज्यते । तस्माद्य सुप्त स एव प्रबुध्यते नान्य इति ॥३।२।९॥

इति कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ।

अथ मुग्धाधिकरणम् ।

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥३।२।१०॥

किं मूर्छा सुषुप्तिरुत मरणं मरणादर्थान्तरं वेति संशये सर्वेन्द्रियाणां मनसश्च व्यापारादर्शनान्मरणमेवेति प्राप्त आह—मुग्धेऽर्धसम्पत्तिरिति । जागरितस्वप्नयोर्ज्ञानस्य सत्त्वान्मूर्छितस्य ज्ञानाभावान्न मूर्छा जागरितस्वप्नावस्थे नापि सुषुप्तिः । मुग्धस्य निश्चलोन्मीलिते नेत्रे भयङ्करं वदनं शरीरे कम्पो निश्चला प्राणाः सर्वाङ्गे वैरूप्यं च दृश्यते । नैतानि लक्षणानि सुषुप्तौ दृश्यन्ते । मरणे प्राणोष्मणोरभावान्मूर्छाया द्वयोः सद्भावान्न मूर्छा मरणावस्था । तस्मात्परिशेषादर्धसम्पत्तिर्मुग्धावस्था पूर्वावस्थाभ्यां भिन्नैव । मुग्धस्य मरणावस्थाधर्मरहितत्वेन प्राणोष्मणोः सत्त्वादिनार्धेन धर्मेण सम्प

न्नत्वादर्धेन मरणावस्थाधर्मजातेन युक्तत्वान्मरणार्धसम्पत्तिर्मुग्धेति ॥ ३।२।१०॥

इति मुग्धाधिकरणम् ।

अथोभयलिङ्गाधिकरणम् ।

एवं वैराग्यजननाय दोषविशिष्टानां जीवावस्थानां विचारः कृतः । इदानीं जीवप्राप्यस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गतोच्यते—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥३।२।११॥

किं जीवस्य दोषाः जागरिताद्यवस्थाप्रयुक्ताः पूर्वमुपदर्शितास्ते तदन्तर्यामिणः परमात्मनोऽपि सन्त्याहो स्विन्नेति संशयः । किं युक्तम् ? सन्तीति । कुतः ? जागरितस्वप्नाद्यवस्थावति शरीरे पर मात्मनोऽप्यवस्थानात् । "यस्य पृथिवी शरीरम्" "यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्" "यस्यात्मा शरीरम्" "यस्य रेतः शरीरम्" इत्यादिषु तस्य सर्वशरीरत्वश्रवणेन रेतः शोणितादिविशिष्टतया सर्वदोषवत्त्वसम्भवात् । इति प्राप्तेऽभिधीयते—न स्थानतोऽपीति । हि यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु निर्दोषत्वसकलकल्याणगुणाकरत्वरूपो भयलिङ्गमुभयलक्षणपरं ब्रह्मावगम्यते । अतः स्थानतोऽपि पृथिव्या दीनां जीवस्य चान्तर्यामितयावस्थानतोऽपि परस्य ब्रह्मणो जीवस्येव जागरिताद्यवस्थाप्रयुक्ता दोषाः न सम्भवन्ति । अत्र श्रुतयस्तावत्- "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छा० ८।७।१) "निरवद्यं निरञ्जनम्" "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मु० १।१।९) इत्यादयो ब्रह्मणो निर्दोषत्वमुक्त्वा पुनस्तस्यैव दिव्यकल्याणगुणवत्त्वमभिदधते । स्मृतयोऽपि—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते" (गी०) ॥३।२।११॥

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥३।२।१२॥

ननु प्रजापति वाक्येन जीवस्याप्युभयलिङ्गत्वमुक्त तथापि देव-मनुष्यादिशरीरसम्बन्धरूपावस्थाभेदात्तत्तद्दोषसम्बन्धस्तथा पर-स्यापि पृथिवीजीवादिशरीरसम्बन्धित्वावस्थाभेदाद्दोषास्स्युरेवेति चेन्न । प्रत्येकमतद्वचनात् । ये परमात्मशरीरत्वेनोक्ता पृथिव्यादयो जीवश्च तेषु प्रत्येकमुपादाय दोषाऽसम्बन्धित्ववचनात् । "एष त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३।७।३) इत्यन्तर्यामिण सर्वत्रामृतत्व वचनेन तत्तत्सम्बन्धकृतदोषरहितत्वस्योक्तत्वात् । जीवस्य तु पर मात्मसंकल्पादविद्यातिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणस्य तत्कृतपुण्य-पापकर्मफलसुखदुःखभोगरूपदोषस्यावर्जनीयत्वात् ॥३।२।१२॥

अपि चैवमेके ॥३।२।१३॥

अपि च जीवपरमात्मनोरेकस्मिन्देहेऽवस्थितयोरपि परमात्मन कर्मफलाभोगित्वेन निर्दोषत्वं जीवस्य तत्फलभोगित्वेन दोषवत्त्वमेके शाखिनोऽधीयते । "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिष-स्वजाते । तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" ॥ (मु० ३।१।१) इति ॥३।२।१३॥

ननु "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा० ६।३।२।) इति श्रुत्या परमात्मनोऽपि जीवेन सह प्रविष्टत्वा-भिधानात् तत्सामान्याच्च परमात्मनोऽपि नामरूपभाक्त्वेन कर्मव-श्यता स्यादेवेत्याशङ्कायामाह—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥३।२।१४॥

देव मनुष्यादिशरीरेषु शरीरित्वेनावस्थितमपि पर ब्रह्म अरूप-वदेव पुण्यपापकर्महेतुकनामरूपरहितमेव । कुतः ? प्रधानत्वात् । जीवस्य पूर्वकृतपुण्यपापकर्मानुरूपनामरूपव्याकरणकर्तृत्वेन तदुपका-

रितया तद्भिन्नधर्मवत्त्वेन तत उत्कृष्टत्वात् । अयमभिप्रायः । परमः पुरुषः कृपया कर्मपरवशानां जीवानां भुक्तिमुक्तिसिद्ध्यर्थं तत्तत्पूर्वतनपुण्यपापकर्मानुसारेण तस्य तस्य च नामरूपात्मिकां देव-मनुष्यादिरूपां सृष्टिं विधाय स्वयं तन्नियन्तृत्वेन तत्पारवश्याभावतया सर्वदाऽतिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणतया स्वप्रकाशचित्स्वरूप एव जीवकर्मानुगुणं जीवान्प्रवर्तयन् तदन्तर्यामितयाऽवतिष्ठते । अतो जीवानां कर्मवश्यत्वं परमात्मनः कर्मवश्यताराहित्यं सम्यगुपपद्यते ॥३।२।१४॥

प्रकाशनच्चावैयर्थ्यात् ॥३।२।१५॥

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरुपासते"इत्येवमादिश्रुतीनामवैयर्थ्यात् याथार्थ्यात्प्रकाशस्वरूपं ब्रह्मत्यवगमात् । "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" "सत्यकामः" "सत्यसंकल्पः" "निरवद्यं निरञ्जनम्"इत्येवमादिश्रुतीनामवैयर्थ्यात् याथार्थ्यात्सर्वदोषरहितत्वं निखिलदिव्यगुणाकरत्वञ्च ब्रह्मस्वरूपमित्यवगमादुभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण उपपन्नमेव ॥३।२।१५॥

आह च तन्मात्रम् ॥३।२।१६॥

एवञ्च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति श्रुतिर्ज्ञानशब्देन प्रकाशमात्रं ब्रह्म स्वरूपमाह 'ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा । यः सच्चिदानन्दाद्वैतैकचिदात्माभूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः" इति श्रुतिश्च चिदेकरसप्रकाशमात्रं ब्रह्मस्वरूपमाह॥३।२।१६॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥३।२।१७॥

दर्शयति च 'पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्" "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (का० २।१।२०।) "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते"

(श्वे० ६।२।) "य सर्वज्ञस्सर्वविद् यस्य ज्ञानमय तप" (मु० १।१।९) "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" (श्वे० ६।८।) 'भीषास्माद्वात पवते भीषोदेति सूर्य" "स एको ब्रह्मण आनन्द" (तै० २।८) "निष्कल निष्क्रिय शान्त निरवद्य निरञ्जनम्" (श्वे० ६।१९) इत्येवमादिश्रुतिगण समस्तदोषरहितत्वमशेषकल्याणगुणाकरत्व च परमात्मनो वक्ति। स्मर्यते च "सर्वस्य चाह हृदि सन्निविष्टो मत्त स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च" (गी० १५।१५।) "मत्त परतर नान्यत्किञ्चि दस्ति धनञ्जय" (गी० ७।७।) "विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेका शेन स्थितो जगत्" (गी० १०।४२) "सर्वज्ञ सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञान बलर्द्धिमान्" (वि० पु० ५।१।४८) इत्येवमादिषु तस्य सर्वकल्याण गुणाकरत्व सर्वदोषरहितत्वञ्चेति न स्थानप्रयुक्ताना दोषाणा परस्मिन्नवकाश इति ॥३।२।१७॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥३।२।१८॥

यत परमात्मन पृथिव्यादिषु प्रविष्टस्याप्युभयलिङ्गत्वेन जल प्रतिबिम्बितसूर्यादिवन्न स्थानप्रयुक्तदोषप्रसङ्ग । अत एव शास्त्रेषु सूर्याकाशादीनामुपमाभि परमात्मोपमीयते। "एक एव हि भूतात्मा सर्वभूते व्यवस्थित । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्"- (याज्ञव० ३।१।४) इत्यादिषु ॥३।२।१८॥

अम्बुवद्ग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥३।२।१९॥

तु शब्दश्चोद्य दर्शयति। अम्बुवदिति सप्तम्यन्ताद्वति । अम्बु दर्पणादिष्वनवस्थित एव सूर्यो भ्रान्त्या तत्रस्थ इव दृश्यते। न तथा पृथिव्यादिषु परमात्मा भ्रान्त्या गृह्यते। किन्तु 'य पृथिव्या तिष्ठन् यस्य पृथिवीशरीरम्' इत्यादिवचनाद् वस्तुत एव स्थितो गृह्यते। अतो न तथात्वम्। सूर्यस्य जलादौ भ्रान्त्या दृश्यमानत्वात्पर-

मात्मनश्च तत्र परमार्थतः स्थितत्वान्न त्वदुक्तदृष्टान्तसाम्यमिति भावः ॥३।२।१९॥

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च ॥३।२।२०॥

चोद्यं समाधत्ते । यथा सूर्यादिप्रतिबिम्बस्य जलान्तर्भावात् जलान्तर्गतस्य जलगतवृद्धिह्रासादिभाक्त्वं न याथार्थ्यरूपेण न च तच्छैत्यादिधर्मेण कदापि सम्बन्धः । एवं पृथिवीचक्षुरादिषु लघुदीर्घस्थानेषु तदन्तर्गतत्वेन तत्तदन्तर्यामितयावस्थितस्याप्यविद्याप्रत्यनीकत्वेन सर्वदोषप्रत्यनीकतया परमात्मनोऽपरिच्छिन्नस्वरूपस्य पृथिव्यादिचक्षुरादिगतवृद्धिह्रासादिभाक्त्वं न वास्तवं न च तत्तद्गतदोषैः कदापि सम्बन्धः इत्येतावतांशेन तयोर्दृष्टान्तयोरुभयोः सामञ्जस्यात् । सिंहो माणवक इत्यादौ तथा दर्शनाच्चोपपद्यते सूर्यकादिदृष्टान्तेन परमात्मनः सर्वदोषरहितत्वम् ॥३।२।२०॥

नन्वेवम् 'अथात आदेशो नेति नेती''त्यादिनिषेधश्रुतिभिर्ब्रह्म निष्प्रपञ्चं सन्मात्रं न तस्योक्तोभयलिङ्गत्वमुपपद्यत इत्याशङ्कायामाह–

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥३।२।२१॥

अत्र "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च' (बृ० २।१।१) इत्यादिना यद्द्विविधं ब्रह्मणो रूपं प्रतिज्ञातं तस्यैव 'नेति नेति' इति प्रतिषेधे श्रुतेरुन्मत्तत्वप्रसक्त्या तत्प्रतिषेधानुपपत्तेः किन्तु प्रकृतैतावत्त्वं हि ब्रह्मणः प्रतिषेधति । यद्रूपद्वयं प्रकृतं तस्य ब्रह्मरूपस्यैतावत्त्वं तद्रूपमात्रमेव ब्रह्मरूपं नास्तीति प्रतिषेधति । इतोऽप्यधिकं ब्रह्मणो रूपमस्तीति ज्ञापनाय । यतो निषेधानन्तरं ततः पूर्वोक्ताद्रूपद्वयाद्ब्रह्मणो भूयो गुणजातं ब्रवीति । अतः प्रकृतैतावत्त्वं हि

प्रतिषेधति । ' न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेय सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्य तेषामेष सत्यम्" (बृ० २।३।६) इति । नेति नेतीति निदिष्टादेतस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्पर स्वरूपतो गुणतश्चोत्कृष्ट न ह्यस्तीत्यर्थः । तस्मादत्र नेति नेतीत्यादिना न ब्रह्मणस्सविशेषत्व निषिध्यतेऽपितु पूर्वप्रकृतेयत्तामात्रमित्युभयलिङ्गत्वमस्त्येव ब्रह्मण ॥३।२।२१॥

यस्य ब्रह्मणो 'मूर्तं चेवामूर्तञ्चे'ति द्वे रूपेऽभिहिते तद्ब्रह्म चक्षुरादीन्द्रियाऽगोचरमित्याह—

तदव्यक्तमाह हि ॥३।२।२२॥

तद्ब्रह्म प्रमाणान्तरेण न व्यज्यते । हि यत आह श्रुति —' न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिना ॥३।२।२२॥

तर्हि ब्रह्मण प्रत्यक्षाभावात्कदापि कस्यापि मोक्षो न स्यादित्याह—

अपि सराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥३।२।२३॥

सराधन सम्यगाराधन प्रीतिपूर्वक तदेकचिन्तन तस्मिन् सत्येवास्य साक्षात्कारो भवति नान्यत्रेतिप्रत्यक्षानुमानाभ्या श्रुतिस्मृतिभ्या ज्ञायत । श्रुतयस्तावद् "ज्ञानप्रसादन विशुद्धसत्वस्ततस्तु त पश्यत निष्कल ध्यायमान" (मु० ३।१।८।) "यदा पश्य पश्यते रुक्म वर्णम्" (मु० ३।१।३।) "क्षीयन्त चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावर" (मु० २।२।८।) "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुत तनु स्वाम्" (मु० ३।२।३) इत्याद्य । स्मृतयोऽपि भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेव विधोऽर्जुन । ज्ञातु द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ।" (गी० ११।५४) इत्येवमाद्या ॥३।२।२३॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥३।२।२४॥

अतोऽपि प्रकृतैयत्ताया निषेधो न मूर्तादिविशिष्टस्य। "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" (बृ० १।४।१०) इत्यादिश्रुतिषु साक्षात्कृतब्रह्मस्वरूपाणां वामदेवादीनां दर्शने प्रकाशादिवज्ज्ञानानन्दादिस्वरूपवन्मूर्तादिप्रपञ्चविशिष्टताया अपि ब्रह्मगुणत्वावैशेष्यं प्रतीयते। ज्ञानानन्दादयश्च वामदेवादीनां सराधने कर्मण्यभ्यासादेवोपलभ्यन्ते। तथैव मूर्तामूर्तादिविशिष्टत्वमप्यविशेषेण प्रतीयते ॥३।२।२४॥

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥३।२।२५॥

अतो निरुक्तैर्हेतुभिरनन्तेनासङ्ख्यातेन कल्याणगुणगणेन युक्तत्वं ब्रह्मणः सिद्धम्। तथा सत्युभयलिङ्गं ब्रह्मोपपन्नतरमेव ॥३।२।२५॥

इत्युभयलिङ्गाधिकरणम्।

(*अथाहिकुण्डलाधिकरणम्।*)

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥३।२।२६॥

"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वे० ४।९) इति भेदव्यपदेशः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" 'तत्त्वमसि' इति चाभेदव्यपदेशश्चेत्युभयव्यपदेशात्संशयः। किं ब्रह्मस्वरूपमेवाचिद्रूपेण परिणाममङ्गीक्रियतेऽथवा प्रभाप्रभावतोरिवैकजातियोगेन आहोस्विज्जीववदचितोऽपि ब्रह्मशरीरतया तद्व्याप्यतया तदपृथक्सिद्धेस्तद्विशेषणत्वेनाभेदव्यपदेश इति। किं युक्तम्? जीवस्येवाचितोपि ब्रह्मशरीरतया तद्व्याप्यत्वेन च तत्पृथक्त्वासिद्धेस्तद्विशेषणत्वेन चोभयविधव्यपदेश उपपद्यते—अहिकुण्डलवत्। यथाहिशब्दवाच्यः

शरीरविशिष्टो जीव स्वरूपत स्वभावतश्च शरीराद्विलक्षणोपि कुण्डलाकारादिभिः शरीरावस्थानविशेषैर्व्यपदिश्यते तद्वदित्यर्थ ॥३।२।२६॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥३।२।२७॥

यथा सौर तेजस्तदाश्रयश्च सूर्यस्तयोरुभयोस्तेजस्त्वात्तेजस्त्वे-नैकजातियोगादभिन्नत्वं स्वरूपतो भेदाच्च भिन्नत्वं तथाऽचिद्ब्रह्मणो-र्प्यभेदो भेदश्च। वाशब्दोहिकुण्डलदृष्टान्तारुचिद्योतक ॥३।२।२७॥

पूर्ववद्वा ॥३।२।२८॥

वाशब्द उक्तपक्षद्वयनिवर्तक । पूर्वत्रोभयव्यपदेशोपपत्त्यर्थं ब्रह्मणो निर्दोषत्वनिष्पत्त्यर्थञ्च 'अशो नानाव्यपदेशात्' (ब्र० सू०) 'प्रकाशादिवत्तु नैवं पर' (ब्र० सू०) इत्यादौ सम्यगुक्तम्। यथा जीवस्यापृथक्सिद्धविशेषणत्वेन ब्रह्मणोंऽशत्वम् तथाचिताऽप्यपृथक्सिद्धविशेषणत्वेनांशत्वमेव। तत्रोभयो. स्वरूपस्य भेदाद्भेदव्यपदेशो विशिष्टस्यैक्यादभेदव्यपदेशश्चापपद्यते ॥३।२।२८॥

प्रतिषेधाच्च ॥३।२।२९॥

"सवा एप महानज आत्माऽजरोऽमर" (बृ० ४।४।२५) 'नास्य जरयैतज्जीर्यति' (छा० ८।१।५) इत्यादिभिरचिद्धर्माणां प्रति-षेधाच्च न ब्रह्मणोपरिणामित्वभङ्ग । विशेषणभूताचित्तत्त्वस्य विकारित्वेऽपि विशेष्यांशस्य निर्विकारित्वम्। प्रतिपादित चैतत्सर्व मशो नानाव्यपदेशादित्यत्रेति तत एवावगन्तव्यम् ॥३।२।२९॥

इत्यहिकुण्डलाधिकरणम्।

अथ पराधिकरणम् ।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३।२।३०॥

इदानीमस्मादुभयलिङ्गाद्ब्रह्मणोऽपि किञ्चित्पर तत्त्व स्यादिति विचार्यते । तत्राय सशय । जगन्निमित्तोपादानकारणाद् ब्रह्मण परमपि किञ्चित्तत्वमस्ति न वेति । अतो ब्रह्मण परमपि तत्त्व मस्ति । कुत ? सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्य । "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृति " (छा ८।४।१) इति सेतुत्वेन व्यपदिष्टस्या त्मन 'एत सेतुं तीर्त्वा' (छा० ८।४।२) इति तरितव्यत्वव्यप देशात् । एन तीर्त्वा यद्वाप्स्यति तदन परमेवेत्यवगम्यते । 'चतु ष्पाद्ब्रह्म' (छा० ३।१८।२) इति श्रुतावुन्मानत्वपरिमितत्वव्यपदे शात्तत परमपरिमित तत्त्वमप्यस्तीति प्रतीयते । "अमृतस्यैप सेतु " (मु २।२।५) इत्यमृतप्रापकात्सेतुशब्दनिर्दिष्टादस्मात्पर प्राप्यभूतममृतशब्दवाच्य किमपि तत्त्वमस्तीतिप्राप्यप्रापकसम्बन्धा दवसीयते । तथा 'परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु ३।२।८) 'परात्पर यन्महतो महान्तम्' (तै १।५) इति च भेदव्यपदेशादे तेभ्यो हेतुभ्य परस्माद् ब्रह्मणाऽपि पर किञ्चिदस्तीति ज्ञायते ॥ ३।२।३० ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

सामान्यात्तु ॥३।२।३१॥

तुशब्द पूर्वपक्षनिरासार्थे 'एषा लोकानामसम्भेदाय' (छा ८।४।०) इत्युत्तरवाक्यात्प्रसिद्धसेतुर्यथा जलमर्यादाव्यवस्था पक एव ब्रह्मणोऽपि सर्वजगन्मर्यादाव्यवस्थापकत्वेन प्रसिद्धसेतु सामान्यात्सेतुत्वव्यपदेशो न तरितव्यत्वेनेति न तत किञ्चित्पर मस्ति । 'एत सेतु तीर्त्वे'ति तरतिरत्र 'मीमासाशास्त्र तीर्त्वा वेदा र्थमधिगच्छती' त्यादिवत्प्राप्त्यर्थक एव ॥३।२।३१॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥३।२।३२॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २।१) 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (का० १।१।२०) इत्यादिषु श्रुतस्यानन्तस्यापरिच्छिन्नस्यानुपमस्य जगत्कारणस्य ब्रह्मणः 'चतुष्पाद्ब्रह्म' (छा० ३।१८।२) इत्युन्मानत्वपरिमितत्वव्यपदेशो बुद्ध्यर्थ उपासनार्थ एव । पादवत् । ब्रह्मप्रतीकस्य मनसो वाक्प्राणचक्षुः श्रोत्राण्युपासनार्थं पादत्वेन व्यपदिष्टानि तद्वदित्यर्थः ॥३।२।३२॥

एवमपि स्वयमपरिच्छिन्नस्वरूपस्य ब्रह्मण. कथमुपासनार्थत्वेनाप्युन्मानसम्भव इत्याशङ्कायामाह—

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥३।२।३३॥

प्रतिपन्नदिक्पृथिव्यन्तरिक्षादिस्थानविशेषसम्बन्धित्वेनोन्मितत्वानुसन्धानं युज्यते । यथा विततस्यापि प्रकाशादेर्घटादिपरिच्छिन्नोपाध्यन्तर्गतस्य परिच्छिन्नत्वेन दर्शनं तद्वदित्यर्थः ॥३।२।३३॥

उपपत्तेश्च ॥३।२।३४॥

'अमृतस्यैष सेतुः' इतिप्राप्यप्रापकसम्बन्धव्यपदेशात्प्रापकादन्यत्प्राप्यमस्तीत्यपि न युक्तम् । "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम्" (मु० ३।२।३) इति परमात्मनः प्राप्यभूतस्य स्वप्राप्तावनन्योपायत्वश्रवणात्स्वस्यैवोपायोपेयत्वोपपत्तेरिति ॥३।२।३४॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥३।२।३५॥

यच्च 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' [मु० ३।२।८] इति भेदव्यपदेशात्ततोऽपि परमस्तीत्युक्तं तन्निरस्यति । तथाऽन्यस्य ब्रह्मणः

परस्य प्रतिषेधात्। 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति कश्चित्' (श्वे० ३।९) 'न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे० ६।८) इत्येवमादिभ्यो ब्रह्मपरस्यान्यस्य प्रतिषेधात् ॥३।२।३५॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥३।२।३६॥

अनेन 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' इत्येवमादिभिर्ब्रह्मणः किञ्चिदपि परं नास्तीति प्रतिषेधद्वारा तस्य सर्वव्यापकत्वप्रतिपादनेन सर्वगतत्वमपि सिद्धयति। कुतः ? आयामशब्दादिभ्यः। आयामशब्दोऽव्यापकत्ववाचकः। सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्यो ब्रह्मणः सर्वगतत्वं सिद्धयत्सर्वपरत्वमपि सिद्धयति ते च शब्दाः 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'' (श्वे० ३ ९) 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं यद्भूतयोनिम्'' (मु० १।१।६) ''ब्रह्मैवेदं सर्वम्'' (बृ० २।५।१) इत्यादयः ॥३।२।३६॥

इति पराधिकरणम्।

(*अथ फलाधिकरणम्*)

फलमत उपपत्तेः ॥३।२।३७॥

किं सर्वस्य जीवस्य भोगापवर्गरूपफलं यजनहवनादिरूपात्कर्मणो भवत्याहोस्वित्तत्तत्कर्मभिः समाराधितात्परस्मात्पुरुषादिति संशये कर्मण इति। कुतः ? लोके कृष्यादिकर्मकारिण एव फलसम्पत्तिदर्शनात्। कर्माननुतिष्ठतश्च तददर्शनादिति प्राप्तेऽभिधीयते फलमत इति। भोगापवर्गादिलक्षणं फलमतः परमपुरुषादेव सम्पद्यते। कुतः उपपत्तेः। क्षणप्रध्वंसिनः कर्मणोऽसम्बद्धस्याचेतनस्य च कालान्तरभाविफलप्रदत्वायोगात्। न चापूर्वकल्पनयापीष्टसिद्धिस्त

स्याप्यचेतनत्वात् । तस्मात्सर्वसमीक्षाकारिण परस्मात्पुंस एव फल भवति ॥३।२।३७ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥३।२।३८॥

सर्वं भोगापवर्गादिलक्षणं फलं परमात्मैव प्रयच्छतीति श्रूयते "स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदान" (४।४।२४) इति । ॥३।२।३८॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥३।२।३९॥

अत. श्रुत्युपपत्तिभ्यामेव "रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीया योनिमापद्येरन्" "कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्" (छा० ५।१०७) "अथ खलुक्रतुरस्मिंल्लोके भवति तथेत प्रेत्य भवति" (छा० ३।१४।१) "पुण्य पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इत्यादिषु पुण्यस्य कर्मण' पुण्यशरीरप्राप्तिहेतुत्व श्रवणात् पापकर्मणः पापशरीरहेतुत्वश्रवणात् तदतिरिक्तस्येश्वरस्या-श्रवणाच्च । कृष्यादियज्ञादिकारिणामेव तत्तत्फलप्राप्तिदर्शनात् तदकारिणां तत्तत्फलप्राप्त्यदर्शनाच्च कर्मण एव फलदातृत्वोपपत्ते-रितिश्रुत्युपपत्तिभ्यां धर्ममेव फलदातारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कर्मण क्षणिकत्वेऽप्यपूर्वद्वारा फलमिति जैमिनेर्मतम् ॥३।२।३९॥

पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥३।२।४०॥

तुशब्दः जैमिनिपक्षनिवर्तकः । पूर्वं पूर्वोक्त परमपुरुषमेव फलप्रदातारं भगवान् बादरायण आचार्यो मन्यते । कर्मणोऽपूर्वस्य वा ह्यचेतनत्वेन कर्मफलस्वरूपानभिज्ञतया तत्फलदानासमर्थत्वात्त योरन्यतरस्यापि फलदातृत्वानुपपत्ते. । कर्मादिस्वरूपतद्विनियोगसा क्षात्कारवतोपरिच्छिन्नस्य चिदात्मन. स्वप्रकाशस्वरूपस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्ते. परमपुरुषस्य तु फलदातृत्वं युक्ततरमेव । कुत. ? हेतु

व्यपदेशात् । एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमूर्ध्वं निनीषते । एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषते । इति परमपुरुषस्यैव कारयितृत्वेन कर्मसिद्धिहेतुव्यपदेशात् । तस्यैव च कर्मफलभूतोर्ध्वाधोगतिप्राप्तिहेतुव्यपदेशाच्च ॥३।२।४०॥

स्मर्यते च ॥३।२।४१॥

स्मर्यते च कर्मफलप्रदाता परमात्मैव ।

"स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।" (गी० ।७।२२।) इति । तस्मात्कर्मफलप्रदत्वं परमात्मन एवेति सिद्धम् ॥ ३।२।४१॥

इति फलाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्पन्नगुणपुरुषतरवाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकाद्योपकबिन्दु श्रीपीठस्थापक
श्रीमद्रामानन्दाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे तृतीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥२॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीतस्य शारीरकमीमांसाया श्रीजानकी कृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अथ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥३।३।१॥

किं सर्वेषु वेदान्तेषु तत्र तत्र श्रूयमाणा दहरवैश्वानरादयो विद्यास्तासां सर्वासां विद्यान्तरत्वमाहोस्विदेकविद्यात्वमेवेति संशये विद्याभेदाभावे प्रकरणान्तरे पुनस्तत्पाठस्यायुक्तत्वात्प्रकरणान्तरस्य विद्याभेदहेतुत्वावगमाद्विद्यान्तरत्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते—सर्ववेदान्तप्रत्ययमिति। सर्वेषु वेदान्तेषु प्रतीयमानमुपासनमेकमेव। कुत ? चोदनाद्यविशेषात् । चोदनाद्यभेदात् । आदिशब्देन शाखान्तराधिकरणसूत्रान्तरोक्ता अभेदहेतुभूता फलसंयोगरूपसमाख्या गृह्यन्ते । चोदनाफलसंयोगरूपसमाख्यानामविशेषादभेदादित्यर्थः । चोदना हि—'उपासीत, विद्यात्' इत्युपासनवेदनयोः पर्यायवाचित्वेनाभिन्ना । फलसंयोगोऽप्युभयत्र ब्रह्मप्राप्तिरूप एक एव । उभयत्र वैश्वानरविद्येति समाख्या चैकैव । एषां चोदनादीनां सर्वासु शाखास्वविशेषात्तत्र तत्र शाखासु निरुक्तानामेकविद्यात्वमेव ॥३।३।१॥

यत्तूक्तं प्रकरणान्तरस्य विद्याभेदहेतुत्वं तदनूद्य परिहरति—

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ॥३।३।२॥

प्रकरणान्तरात् विधेयभेदाच्च न विद्यैक्यमिति चेन्न, एकस्यामपि विद्यायां प्रकरणभेदेन रूपभेदेऽप्यनेकगुणप्रत्यभिज्ञानुरोधाद्विद्यैक्यमेव ॥३।३।२॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३।३।३॥

एवमप्याथर्वणिकानां शिरोव्रताद्यपेक्षा दृश्यतेऽन्येषाञ्च नास्तीति विद्याभेदः स्यादिति समाधीयते–शिरोव्रतं न विद्याङ्गमपि तु स्वाध्यायस्यैव यतः समाचारे वेदव्रतापदेशपरे ग्रन्थे तथात्वेन स्वाध्यायाङ्गत्वेन शिरोव्रतमपि वेदव्रतत्वेनाथर्वणिका समामनन्ति 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मु० ३।२।११) इत्यध्ययनशब्दादध्ययनस्यैवाङ्गं शिरोव्रतम्। तत्र दृष्टान्तः सववच्चेति। यथा हि सव सम्बन्धिनः सप्त होमाः सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता आथर्वणोक्तैकाग्निसम्बन्धित्वेन तत्रैवानुष्ठेया न शाखान्तरोक्तत्रेताग्निषु तथैवाधीतशब्दाच्च तदध्ययन एव शिरोव्रतस्य नियमो नान्यत्र तस्माद्विद्यैक्यं सर्वत्र ॥३।३।३॥

दर्शयति च ॥३।३।४॥

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (का० २।१५।) इति श्रुतिर्दर्शयति, सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यस्य ब्रह्मण एकत्वेन तत्प्रतिपादकवाक्योक्तानां सर्वासां वेदान्तविद्यानामेकत्वम्। एवमन्यत्रापि सर्वत्रोपास्यैकत्वात्तदुपासनानां तत्र तत्रोक्तानामप्यैक्यं बोध्यम् ॥३।३।४॥

एवं विद्यैक्यं दृढीकृत्य तत्प्रयोजनमाह—

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥३।३।५॥

चशब्दोऽवधारणार्थे। एवं सर्ववेदान्तेषु दहराद्युपासने समाने सत्यन्यत्रोक्तानामन्यत्रोपसंहारः कर्तव्यः। कुतः ? अर्थाभेदात्। गुणानां विद्याङ्गत्वेन तदुपकाररूपप्रयोजनाभेदात्। एकस्या एव विद्याया गुणान्तरापेक्षायास्तदनपेक्षायाश्चायुक्तत्वात्। गुणानां विद्योपकारित्वाच्च वेदान्तान्तरोक्तगुणानां वेदान्तान्तरेऽवश्यमुपसंहारः

कर्तव्यः। विधिशेषवत्। यथा विधिशेषाणामग्निहोत्रधर्माणामग्निहोत्रस्य सर्वत्रैक्यात्सर्वत्रोपसंहारः क्रियते तद्वदिति ॥३।३।५॥

इति सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्—

अथान्यथात्वाधिकरणम्

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥३।३।६॥

वाजसनेयके "अथ हेममासन्य प्राणमूचुस्त्व न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्" (बृ० १।३।७।) इत्युद्गीथविद्याम्नायते। तथा छान्दोग्येऽपि "अथ ह य एवाय मुख्य· प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" (छा० १।२।७।) इति प्राण स्तुवन्ति। तत्राय सशय.। किमुभयत्रापि विद्यैक्यमेवाहोस्विद्विद्याभेद इति। चोदनाद्यविशेषाद्विद्यैक्यमिति पूर्व पक्ष। सिद्धान्तस्तु—अन्यथात्व शब्दादिति। उभयत्र प्राणदृष्टयैवोद्गीथ उपासनमविशेषेण श्रुतम्—तथापि "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छा० १।१।१) "उद्गीथमाजह्रुरनेनैतानभिहनिष्याम." (छा० १।२।१।) इत्युद्गीथावयवे प्रणव एव प्राणदृष्टयोपासन छन्दोगानाम्। वाजिनान्तु समग्रोद्गीथे प्राणदृष्टयोपासनम् "हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम" (बृ० १।३।१।) इति। तथा चोभयत्र रूपभेदाद्विद्याभेद एवेति। सूत्रार्थयोजनात्वेवम्। उभयत्र प्राणस्य कर्तृकर्मत्वभेदेनान्यथात्वाद्भिन्नाकारत्वादाकारभेदेनोपास्यभेदादन्यथात्वमेव शब्दाच्च विद्यैक्यमितीमां शङ्कामपरिहरति पूर्वपक्षी—इति चेन्नेति। कुत ? अविशेषादुभयत्र विशेषाभावाद्विद्यैक्यमिति ॥३।३।६॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥३।३।७॥

न वेतिपक्षनिवर्तकौ। न ह्यत्र विद्यैक्यमुपपद्यते। कुतः ? प्रक-

रणभेदात् । रूपभेदादित्यर्थः । छान्दोग्येह्युद्गीथावयवप्रणवोपासना प्रक्रम्यते 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथेनात्ययाम' (बृ० १।३।१) इति । ततश्च रूपभेदाद्विद्याभेदोऽस्त्येवेति । परोवरीयस्त्वादिवत् । यथा समानायामपि शाखायामुद्गीथोपासने हिरण्मयपुरुषदृष्टेः परोवरीयस्त्वादिविशिष्टदृष्टिर्भिन्नैव । तथैव प्रकृतेऽपि ज्ञेयम् ॥३।३।७॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥३।३।८॥

ननु शाखाद्वये विद्यैक्यमस्ति । कुत ? संज्ञातः । उभयत्रोद्गीथविद्येति संज्ञाया एकत्वादितिचेत् न । तदुक्तम्—'न वा प्रकरणभेदात्' इति सूत्रेण सञ्ज्ञैक्यमुपपद्यते । ब्राह्मणक्षत्रियोरेकसंज्ञयोरप्येकत्वादर्शनात् । अस्ति तु तदपि । हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथ परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टोद्गीथयोः सञ्ज्ञैक्यमस्ति न विद्यैक्यम् । सूत्रस्थापिशब्देन काठकग्रन्थोक्तानां कर्मणां काठकेतिसञ्ज्ञाया एकत्वेपि तत्रोदितानां कर्मणां भिन्नत्वान्न तेषामैक्यमिति सूचित भवति ॥३।३।८॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥३।३।९॥

यथा छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके उपक्रमवाक्ये प्रणवस्योपास्यत्व तथैतरात्रपि विद्यास्वद्गीथावयवभूतप्रणवस्यैवोपास्यत्वव्याप्तेः । एव 'उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १।२।७।) इत्यादौ मध्येऽपि प्रणवविषयकोपासनमेव समञ्जसम् । उद्गीथं चोङ्कारस्य विशेषणम् ॥३।३।९॥

इत्यन्यथात्वाधिकरणम् ।

अथ सर्वाभेदाधिकरणम् ।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥३।३।१०॥

"यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च" (छा० ५।१।१।) इतिच्छन्दोगाः प्राणविद्यां समामनन्ति। वाजिनोऽप्येवम्। इत्युभयत्र समानरूपत्वाद्विद्यैक्यम्। परन्तु कौषीतकिनस्तु वसिष्ठत्वादि गुणराहित्येनेति। ततः सर्वत्र विद्यैक्यमुत नेति संशये न विद्यैक्यम। कुतः ? रूपभेदात्। एकत्र ज्यैष्ठ्यवसिष्ठत्वादिगुणैर्युक्त उपास्यतया श्रूयते। अपरत्र तु तद्रहित इत्युपास्यरूपभेदो विद्याभेदसाधक इतिप्राप्तेऽभिधीयते–सर्वाभेदादन्यत्रेमे इति। न ह्यत्रविद्याभेद अन्यत्र प्राणविद्यायामपीमे वसिष्ठत्वादयो गुणा उपास्यतया विहिता एवेति। कुत ? सर्वाभेदात्। यद्यपि कौषीतकिनां प्राणविद्यायां वसिष्ठत्वादिकं न शब्दत उक्तं तथापि वागादिगतवसिष्ठत्वादिगुणानां प्राणहेतुकत्वानुसन्धानमन्तरेण प्राणस्य ज्यैष्ठ्यादिकमप्यनुपपन्न स्यात्तस्मात्कौषीतकिना प्राणविद्यायामपि वसिष्ठत्वादिसम्बन्धवत एव प्राणस्योपास्यत्वमिति न रूपभेदोऽतो विद्यैक्यमेवेति ॥३।३।१०॥

इति सर्वाभेदाधिकरणम् ।

(अथानन्दाद्यधिकरणम् ।)

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥३।३।११॥

ब्रह्मपरासु श्रुतिषु केचिद्ब्रह्मगुणाः क्वचिच्छ्रूयन्ते क्वचिच्च केचित्। तत्र संशयः किं यत्र ये गुणाः श्रूयन्ते त एव तत्रानुसन्धेया उत सर्वे गुणाः सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति। किं युक्तम् ? नोपसंहर्तव्या इति।

कुत ? ब्रह्मगुणानामानन्त्यादपरिमितत्वेनोपसंहारासम्भवादित्येवं प्राप्त आह—आनन्दादय प्रधानस्येति। पूर्वसूत्रादभेदादित्यनुवर्तते। प्रधानस्य गुणवतो ब्रह्मण सर्वेपूपासनस्वभेदादानन्दादया गुणा सर्वत्रोपसंहर्तव्या । ब्रह्मस्वरूपनिरूपकज्ञानानन्दादिगुणानामनुसन्धान विना ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानानुपपत्ते ॥३।३।११॥

नन्वेव प्रियशिरस्त्वादीनामपि ब्रह्मगुणत्वात्सर्वत्रोपसंहार कर्तव्य इत्याह—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥३।३।१२॥

प्रियशिरस्त्वादिधर्माणा सर्वासु विद्यास्वप्राप्ति । हि यत । प्रियमोदप्रमोदानन्दा परस्परापेक्षयोपचयापचयस्वरूपा । तेषा न्यूनाधिकधर्माणामुपसंहार ब्रह्मणि तारतम्यप्रसक्त्या विकारित्वापत्ते । अतस्तेषा ब्रह्मस्वरूपविरोधिधर्माणा ब्रह्मज्ञानायोपसंहारानुपपत्तेर्नोपसंहार ॥३।३।१२॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥३।३।१३॥

उपचयापचयरूपेभ्य प्रियशिरस्त्वादिभ्य इतरे ब्रह्मस्वाभाविक गुणत्वेन सदैकरसा ज्ञानानन्दादयो ब्रह्मस्वरूपनिरूपकधर्मत्वेनार्थसामान्याद्ब्रह्मस्वरूपसमानत्वाद्ब्रह्मवद्ब्रह्मविद्यासु सर्वथानुसंधानायोपसंहर्तव्या एवेति ॥३।३।१३॥

तर्हि प्रियशिरस्त्वादित्वेन ब्रह्मणो निरूपण किमर्थमित्यत आह—

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥३।३।१४॥

प्रियशिरस्त्वादीना निरूपणस्य प्रयोजनान्तराभावादाध्यानायानुचिन्तनायोपासनासिद्ध्यर्थं तद्रूपेण ब्रह्मण पुरुषविधत्वनिरूपण कृतम् ॥३।३।१४॥

आत्मशब्दाच्च ॥३।३।१५॥

"अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" (तै० २।५) इत्यात्मशब्दादात्मनश्च शिरःपक्षपुच्छत्वाद्यसम्भवात्तस्य प्रियशिरस्त्वादिकथनमुपासकबुद्धौ सुखेनारूढार्थमिति गम्यते ॥३।३।१५॥

ननु प्राणमयादिष्वात्मशब्दस्यानात्मभूतेष्वपि प्राणादिषु प्रयोगात् 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय' इत्यात्मशब्दस्य परमात्मवाचकत्वं कुतोऽवगम्यत इत्यत आह—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥३।३।१६॥

"अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" (तै०) इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव गृहीतिर्ग्रहणम्। इतरवत्—यथेतरेण "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा" इत्यात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्। तद्वत्। कुतः ? उत्तरात्। 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्याद्युत्तरात्तदेकार्थाद्वाक्यात् ॥३।३।१६॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥३।३।१७॥

प्राक्तनेषु प्राणमयादिष्वप्यात्मशब्दस्यान्वयस्य सत्त्वात्कथमुत्तरवाक्यान्निर्णयः स्यादिति चेत् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" (तै० २।१) इति प्राक्छ्रुतस्यात्मन एव प्राणमयादिवाक्येष्ववधारणात् परमात्मन एव निर्णयः ॥३।३।१७॥

इत्यानन्दाद्यधिकरणम्।

अथ कार्याख्यानाधिकरणम्।

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥३।३।१८॥

"स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचु" इत्यपां प्राणवासस्त्वमभिधाय "तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोप

रिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्बुको ह वासो भवत्यनग्नो भवति" (छा० ५।२।२।) इतिच्छान्दोग्ये श्रूयते। तथा वाजसनेयकेऽपा प्राणवासस्त्वमुक्त्वा 'तस्माद्व विदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" (बृ० ६।१।१४।) इति श्रूयते। अत्राचमनमाचमनाप्सु प्राणवासस्त्वाध्यानं चेत्युभयं प्रतीयते। तत्रोभयविधानं वाक्यभेदापत्तेरुभयोरेकं विधेयम्। तत्किमितिसंशये "आचामेद्" इत्याचमनविधेः श्रवणादाचमनमेव प्राणविद्याङ्गत्वेन विधीयत इति प्राप्त आह—कार्याख्यानादपूर्वमिति। अप्राप्तस्य विधान एव शास्त्रस्यार्थवत्त्वादत्राचमनस्य सदाचारप्राप्तत्वादाचमनमनूद्याचमनीयानामपामप्राप्तं प्राणवासस्त्वानुसन्धानमेव विधीयते। अप्राप्तस्यैव विधाने शास्त्राणामर्थवत्त्वमिति ॥३।३।१८॥

इति कार्याख्यानाधिकरणम्

अथ समानाधिकरणम्।

समान एवं चाभेदात् ॥३।३।१९॥

बृहदारण्यके शाण्डिल्यविद्याम्नायते 'मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यम्" (बृ० ५।६।१।) इत्यादिका। तथा वाजसनेयकेऽग्निरहस्येऽपि पुनः सैव विद्याम्नाता सत्यं ब्रह्मेत्युपासीतेत्यारभ्य 'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्" इत्यादिका। अत्र संशयः किमुभयत्र विद्याभेदो न वेति। तत्र रूपभेदाद् भेद इति प्राप्तेऽभिधीयते—समान एवमिति। उभयत्र समाने सति मनोमयत्वादिके वशित्वादेश्चाधिकस्य सत्यसङ्कल्पत्वकार्यत्वेन तदन्तर्गततयोभयत्र गुणाभेदेन रूपाभेदाद्विद्यैक्यमिति ॥३।३।१९॥

इति समानाधिकरणम्।

अथ सम्बन्धाधिकरणम् ।

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥३।३।२०॥

वाजसनेयके "तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्" (बृ० ५।५।१) इति प्रक्रम्यादित्यमण्डलेऽक्षिणि च ब्रह्मण उपास्यत्वमभिधाय 'तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्' 'तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्' (बृ० ५।५।३) इति रहस्यनामनी द्वे उपनिषदावाम्नायेते। तत्र संशयः किमस्यां विद्यायामादित्यपुरुषस्याहरिति नाम्ना ध्यानमक्षिपुरुषस्याहमिति नाम्ना यथाश्रुतं ध्यानं कर्तव्यमाहोस्विन्नामद्वयस्य पुरुषद्वयेऽप्युपसंहार इति। किं युक्तम्। उभयोः स्थानयोरेकस्यैव सत्यस्य पुरुषस्योपास्यत्वाद्रूपाभेदाद्विद्यैक्यादुपसंहारः ॥३।३।२०॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

न वा विशेषात् ॥३।३।२१॥

विद्यैक्यान्नामद्वयस्य पुरुषद्वये उपसंहार इति न। कुतः? विशेषात्। उभयत्रोपास्यरूपभेदात्। आदित्यस्थानसम्बन्धिनः सत्याद्ब्रह्मणोऽक्षिस्थानसम्बन्धिनः सत्यस्य ब्रह्मण उपाधिभेदेन रूपभेदे विद्याभेदात् अहरिति, 'अहमिति नामभेदस्य रूपभेदे हेतुत्वाद्' रूपभेदेनविद्याभेदाच्च नोभयत्रोभयोर्नाम्नोरुपसंहारः ॥३।३।२१॥

दर्शयति च ॥३।३।२२॥

किञ्च विद्यान्तरे हिरण्यश्मश्रुरित्यादिनाऽऽदित्यपुरुषस्य रूपमुक्त्वा तद्रूपमक्षिपुरुषेऽतिदिदेश "तस्यैतदेवरूपं यदमुष्य रूपम्" इति। अयमतिदेश एव विद्याभेदेन गुणानुपसंहारं दर्शयति। विद्यैक्ये हि रूपादीनां स्वतः प्राप्तत्वेनातिदेशापेक्षैव न स्यात्। तस्मादत्र विद्याभेदाद् गुणोपसंहाराभाव इति ॥३।३।२२॥

इति सम्बन्धाधिकरणम् ।

(*अथ सम्भृत्यधिकरणम् ।*)

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥३।३।२३॥

तैत्तिरीयके नारायणीयानां खिलेषु च श्रूयते-"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या-सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ।" इति । अत्र संशयः। किमेषां सम्भृतिद्युव्याप्त्यादिगुणानां शाण्डिल्यादिब्रह्मविद्यासूप-संहार आहोस्वित्तद्गुणकमिदमुपासनान्तरम् ? इति । किं युक्तम्? अनारभ्याधीतत्वादेषां गुणानां सर्वासु विद्यासूपसंहार इति प्राप्तेऽभि-धीयते—सम्भृतिद्युव्याप्त्यपीति । सम्भृतिद्युव्याप्तीतिसमाहारद्वन्द्वः। शाण्डिल्यादिविद्यासुहृद्यायतनत्वमल्पस्थानत्वं ब्रह्मण श्रूयते। अत्र त्वाकाशादवीर्यत्वद्युव्याप्तित्वेन महास्थानत्व तस्य श्रूयते अतः स्थान-भेदादनारभ्याधीतानामपि तेषां शाण्डिल्यादिविद्यासु नोपसंहारः। किन्तु सम्भृत्यादिगुणविशिष्टमुपासनान्तरमेवेदमिति ॥३।३।२३॥

इति सम्भृत्यधिकरणम् ।

अथ पुरुषविद्याधिकरणम् ।

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नात् ॥३।३।२४॥

छान्दोग्ये पुरुषविद्याम्नायते "पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि" (छा० ३।१६।१) इति। तथा तैत्तिरीयकेऽपि पुरुषविद्या श्रूयते—"तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिः" (तै० ना० ५२) इत्यादि-रूपा। अत्र विद्यैक्यमुतविद्याभेद इति। किं युक्तम् ? विद्यैक्यम्। कुतः? उभयत्र पुरुषविद्येति समाख्यैक्याद्रूपफलयोरप्यैक्याच्चेति प्राप्तेऽभिधीयते–पुरुषविद्यायामपि चेति। पुरुषविद्यायामपि रूपादि-

भेदाद्विद्याभेद एव । कुत ? इतरेषामनाम्नात् । इतरशाखोक्तिाना गुणानामितरशाखायामनाम्नात् । छान्दोग्ये पुरुषस्य यज्ञत्वकल्पन पुरुषायुष त्रधा विभज्य सवनत्रयकल्पनमशिशिपादीना दीक्षात्वेन च कल्पन कृतम् । तैत्तिरीयकेत्वेव कल्पना न दृश्यते किन्तु रूपान्तरेण दृश्यते । तथा चोभयत्र कल्पनाप्रकारभेदाद्रूपभेदस्य स्पष्टत्वाद्विद्याभेद । तथा तैत्तिरीयके पुरुषविद्याया फलवत्सन्निधावफल तदङ्गम्' इतिन्यायाद्ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन ब्रह्मप्राप्तिरूपमेव फल दृश्यते । छान्दोग्येत्वायु प्राप्तिरूप फल पुरुषविद्याया इति फल सयोगभेदोऽपि विद्याभेदसाधक । एवञ्चोभयत्र विद्याभेदान्नह्येकत्र श्रुताना गुणानामन्यत्रोपसहार इति ॥३।३।२४॥

इति पुरुषविद्याधिकरणम् ।

(*अथ वेधाद्यधिकरणम् ।*)

वेधाद्यर्थभेदात् ॥३।३।२५॥

स्वस्वोपनिषदारम्भे सर्वेषा शाखिना भिन्नभिन्नमन्त्राणामाम्नान वर्तते । यथाथर्वणिकानाम्–'सर्वं प्रविध्य हृदय प्रविध्य' इत्यादिकम् । तैत्तिरीयाणा च 'शन्नो मित्र श वरुण' इत्यादिकम् । तत्र सशय । किमेषा सर्वप्रविध्यादीना मन्त्राणा विद्याङ्गत्वमाहोस्विन्नेति । कि युक्तम् । विद्याङ्गत्वम् । कुत ? विद्यासन्निधौ समाम्नानादिति प्राप्तेऽभिधीयते–वेधाद्यर्थभेदादिति । 'सर्वं प्रविध्य हृदय प्रविध्य' इत्यादिभिर्लिङ्गैरभिचाराभिधूक्ताना मन्त्राणा विनियोगाद्विद्याङ्गत्व न सम्भवति । अत एव चैते मन्त्रा न सर्वासु विद्यासूपसहार्या । 'शन्नो मित्र' इत्यादिमन्त्रस्याध्ययनाङ्गत्वम् ॥३ ३।२५॥

इति वेधाद्यधिकरणम् ।

अथ हान्यधिकरणम् ।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥३।३।२६॥

ताण्डिनामुपनिषदि श्रूयते—"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" (छा० ८।१३।१) कौषीतकिनान्तु—'तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते तस्य प्रिया ज्ञातय सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १।४) तथाथर्वणिकानाम्—'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३) इति श्रुति । अत्र क्वचित्केवलहाने श्रवणात्क्वचिद्धान्युपायनयोरुभयो· श्रवणात्सर्वविद्यासु तयोर्विकल्पेनानुष्ठानमुत समुच्चयेनेति सशये यथाश्रुत विकल्पेनेति प्राप्तेभिधीयते—हानौ तूपायनशब्दशेषत्वादिति । तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तक । हानावित्युपायन इत्यस्याप्युपलक्षक· 'तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते' 'तस्य प्रिया ज्ञातय सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १।४) इति हानिवाक्य उपायनस्यापि श्रवणात् केवले विमोचने केवले चोपायने श्रूयमाणेऽपि तयोरन्योऽन्यसमुच्चयोरभिप्रेतः । कुतः ? उपायनशब्दशेषत्वात् । उपायन शब्दस्य हानि वाक्यशेषत्वादित्यर्थ । विद्वत्यक्तपुण्यपापनिवेशस्थानयोस्तत्प्रियाप्रिययोः श्रुतत्वादुपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषत्वमुपपद्यते । एवं शाखान्तरोदितवाक्यस्य शाखान्तराम्नातवाक्यसन्दिग्धार्थप्रकाशकत्वेन तच्छेषत्वे दृष्टान्तमाह—यथा "कुशा वानस्पत्याः स्थ" इति भाल्लविनां श्रुतौ यजमानप्रार्थनायां वनस्पतित्वेन सामान्यसमित्त्वस्य विशेष "औदुम्बरा कुशा." इति शाकटायनिशाखास्थं वाक्यं प्रकाशयति "औदुम्बर्य· कुशा" इति । छन्दोदृष्टान्त.—यथा "देवासुराणा छन्दोभि स्तुवीत" इत्यत्र देवासुराणां छन्दसां पौर्वापर्य-

विशेषस्य "देवच्छन्दांसि पूर्वाणि" इति पैङ्गिश्रुत्या निर्णय । स्तुतिदृष्टान्त —यथा छन्दोगाना "हिरण्येन षोडशिन स्तोत्रमुपाकरोती"ति पात्रविशेषस्य षोडशिनो ग्रहणे तदङ्गभूतस्तोत्रकर्तव्यकालविशेषस्य "समयाविषिते सूर्ये षोडशिन स्तोत्रमुपाकरोती"ति तैत्तिरीयकवाक्यान्निर्णयो भवति । उपगानदृष्टान्त । यथा "ऋत्विज उपगायन्ती"ति शाखान्तरीयसामान्यवाक्य 'नाऽध्वर्युरुपगायेत्" इति विशेषवाक्यानुसारेणाध्वर्युव्यतिरिक्ता ऋत्विज उपगायन्तीत्येतदर्थपरत्वेन निर्णीयते । एवमिहापि शेषशेषिभावात्सर्वार्थसगतिर्बोध्या । उपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषत्वेन सिद्धात्वा गतो विकल्पो नादरणीय । तदुक्त पूर्वतन्त्रे "अपि तु वाक्यशेष स्या दन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेश स्यात्" (जै० सू०) इति ॥३।३।२६॥

इति हान्यधिकरणम् ।

अथ साम्परायाधिकरणम् ।

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥३।३।२७॥

सुकृतदुष्कृतयोर्हानञ्चच्छान्दोग्ये शरीरवियोगकाले श्रूयते- "अश्व इव रोमाणि विधूय पाप चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृत कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" (छा० ।८।१।१३) इति । एवं शाट्यायनकेऽपि "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृद साधुकृत्या द्विषन्त पापकृत्याम्" इति दायसक्रमणकाल एव सुकृतदुष्कृतहान श्रूयते तच्च देहवियोगसमय एव प्रतीयते । कौषीतकी ब्राह्मणे तु "स एत देवयान पन्थानमापद्याग्निलोक गच्छती"त्युपक्रम्य "स आगच्छति विरजा नदीं ता मनसात्येति तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते" (कौ० ५।३।४) इति देहादपसृत्याध्वनि तद्धान

माम्नायते । तत्र संशय । शरीरवियोगकाले सर्वं क्षीयते ? उतार्धं देहवियोगकालेऽर्धं च विरजातरणानन्तरमिति ? किं युक्तम् ? देहवियोगकालेऽशेषकर्मक्षये देवयानेन पथा गमनानुपपत्तेः । तदार्धं क्षीयतेऽर्धन्तु विरजातरणानन्तरमिति प्राप्तेऽभिधीयते—सा म्पराये तर्तव्याभावादिति । "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मु० २।२।८) "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति । स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" (छा० ७।२६।२) इति श्रवणात् विद्याविपाककाल एव ब्रह्मविद सुकृतदुष्कृतयो हानम् । कुत कर्मक्षय विना विरजानदीतरणानुपपत्ते । कर्मक्षय हेतोर्विद्याया सत्त्वाच्च विद्यासामर्थ्यादेव देवयानेन पथा ब्रह्मलोक गमनत्वोपपत्ते तर्तव्याभावात्—कर्मभिस्तर्तव्यपदार्थाभावात् । तथाहि अन्ये कर्मनिमित्तकसुखदु खाभावमभिदधते—"तस्य ताव देव चिरम्" इत्यादिभि । अतो जीवत एव विद्यासामर्थ्यात् प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तसर्वकर्मक्षय इति ॥३।३।२७॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥३।३।२८॥

एव विद्यासामर्थ्यात् देहवियोगकाले सर्वकर्मक्षयानन्तरमुपासको देवयानेन पथा ब्रह्म प्राप्नोतीति निश्चिते सति 'अश्व इव रोमाणि' इति श्रुते 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यस्याश्च श्रुतेरविरोधात् उभयश्रुत्यनुरोधाच्चरमश्रुतोऽपि 'तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते' इति वाक्य खण्ड एत देवयान पन्थानमापद्य' (कौषी० १।३) इति प्रथम श्रुतखण्डात् पूर्वं छन्दतो यथेष्ट योजनीय इति ॥३।३।२८॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥३।३।२९॥

अत्राशङ्कते । देहवियोगकाले विरजातरणोत्तरकाले चेत्युभयथा कर्मक्षये सत्येव देवयानगतिश्रुतेरर्थवत्त्वमुपपद्यते । अन्यथा देहोत्क्रान्तिकाले सर्वकर्मविनाशे सति सूक्ष्मशरीरस्यापि विनाशा त्स्थितिग त्यनुपपत्तावर्चिरादिगमनश्रुतेर्विरोध स्यात् ॥३।३।२९॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥३।३।३०॥

प्रदर्शिताशङ्कां परिहरति। परमपुरुषोपासकानां देहादुत्क्रमणकाले सर्वकर्मक्षयेऽपि देवयानपन्था उपपन्न एव। कुतः? तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। तल्लक्षणार्थस्तत्सजातीयार्थस्तस्योपलब्धेः। अकर्मलभ्यार्थोपलब्धेरित्यर्थः। अशेषकर्मक्षयेऽपि विद्ययाऽविर्भूतस्वरूपत्वाद्विदुषो देहसम्बन्धलक्षणार्थोपलब्धेः। 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छा० ७।२५।२) 'यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते' (छा० ८।२।१०) 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इति ब्रह्मविदाऽऽकर्मलभ्यार्थोपलब्धिश्रवणात्। तत्र दृष्टान्तः—लोकवदिति। यथा लोके राजसेवकानां प्रयत्नमन्तरेणापि पुरुषान्तरप्रयत्नाल्लभ्याति रमणीयानेकपदार्थानामुपलब्धिस्तद्वत् ॥३।३।३०॥

नचैवं ज्ञानवतां वसिष्ठादीनां कर्मफलरूपदेहान्तरसंयोगस्य पुत्रजन्ममरणादिहेतुकसुखदुःखानुभवस्य च दर्शनाद्ब्रह्मविद्या विनष्टकर्मणामपि ब्रह्मोपासकानां सुखदुःखानुभवोऽवर्जनीयः स्यादित्यत्राह—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३।३।३१॥

येषां ज्ञानिनां ब्रह्मविद्यया क्षीणकर्मणां प्रारब्धकर्मावसानकृतदेहवियोगानां शताधिकया नाड्या देहाद्विनिर्गतानामर्चिरादिना ब्रह्मलोकप्राप्तिस्तेषां हेतोरभावान्न पुण्यपापकर्महेतुकः सुखदुःखानुभवः। आधिकारिकाणां तु वसिष्ठादीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकव्यवस्थाहेतुष्वधिकारेषु ब्रह्मणा नियुक्तानां यावदधिकारमवस्थितिः तदारम्भकं कर्मापि यावदधिकारमवतिष्ठते। अतस्तेषां सुखदुःखानुभवोऽपि भवति ॥३।३।३१॥

इति साम्परायाधिकरणम्।

अथानियमाधिकरणम्

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३।३।३२॥

किमर्चिरादिना गतिर्यत्र विद्यासु श्रूयते तद्विद्यावतामेव तया गत्या ब्रह्मप्राप्तिराहोस्वित्सर्वविद्यावता ब्रह्मप्राप्तिरिति संशये यासु विद्यासु गतिराम्नायते तद्विद्यावतामेव तद्गत्या ब्रह्मप्राप्तिर्नान्येषां प्रमाणाभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते। अनियम इति। सर्वेषां सर्वविद्यावतामर्चिरादिना मार्गेणैव ब्रह्मप्राप्तिरितिसिद्धान्तात्तद्विद्यावतामेवेति नियमो नास्ति। सर्वविद्यावतां तया गमने शब्दानुमानाभ्यामविरोधः। नोचेद्विरोध इति भावः। श्रुतिस्तावद्—"य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति" (बृ० ६।२।१५।) इति। "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" (छा० ५।१०।१।) इति च स्पष्टमेव सर्वविद्यावतामर्चिरादिना गतिरभिधत्ते। तथा स्मृतिरपि-अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः (गी० ८।२४) इति सर्वेषां ब्रह्मविदामनयैव गत्या ब्रह्मप्राप्तिं द्रढयति ॥३।३।३२॥

इत्यनियमाधिकरणम् ।

अथाक्षरध्यधिकरणम् ।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥३।३।३३॥

वाजसनेयके गार्गीम्प्रति याज्ञवल्क्यस्योत्तरम् "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" (बृ०

३।८।८।) इत्यादिकं श्रूयते। एवं मुण्डकेऽपि "अथ परा यया तद-क्षरमधिगम्यते यत्तदेद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणि-पादम्" (मु० १।१।५।) इति श्रूयते। तत्र संशयः। किमेषामस्थू-लत्वादीनां गुणानां यत्र श्रुतिस्तत्रैव चिन्तनमाहोस्वित्सर्वासु ब्रह्म-विद्यासूपसंहार इति। किं युक्तम्? यत्रैतेषां श्रुतिस्तत्रैव। कुतः? प्रकरणभेदात्। विद्यान्तररूपात्मकानां गुणानां विद्यान्तररूपत्वे मा-नाभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते—अक्षरधियां त्ववरोध इति। यतः केव-लमानन्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनो व्यावृत्तिर्नोपपद्यते। प्रत्य-गात्मनोऽप्यानन्दादिगुणकत्वात्। अतोऽस्थूलत्वादिविशेषितान-न्दादिभिर्विशेषितस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनो व्यावृत्त्युपपत्तेः अस्थूल-त्वादीनामप्यानन्दादिवत्स्वप्रकाशापरिच्छिन्नचिदेकरसब्रह्मस्वरूपानु-सन्धान उपयुक्तत्वात्। अतस्तेषामप्यानन्दादिवत्सर्वासु ब्रह्मविद्या-सूपसंहारः। कुतः? सामान्यतद्भावाभ्याम्। सर्वास्वक्षरविद्या-सूपास्यभूतस्याक्षरस्य ब्रह्मणः समानत्वात्। अस्थूलत्वादीनां गुणानां ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानान्तर्भावाच्च। प्रधानानुवर्त्तित्वं हि गुणानां स्वभावः। औपसदवत्। तथा हि यजुर्वेदे "जमदग्निः पुष्टिका-मश्चतूरात्रेणायजत" "इत्युपपन्ने "जामदग्न्याहीने पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्ती"ति पुरोडाशयुक्तासूपसत्स्विष्टिपूर्वदिष्टासु पुरोडाश-प्रदानमन्त्राणामुद्गातृवेदोत्पन्नानाम् "अग्नेर्वै होत्रं वेरध्वरम्" इत्यादीनामुद्गात्रा प्रयोगे प्राप्तेऽध्वर्युकर्तृके पुरोडाशप्रदाने तेषां मन्त्राणां विनियोगाद्विनियोगविधेश्च सार्थक्यसम्पादकस्य स्वस्वरूप-मात्रबोधकोत्पत्तिविध्यपेक्षया मुख्यत्वान्मुख्यानुरोधेनाध्वर्युणैव प्रयोगो न गौणोत्पत्ति विध्यनुरोधेनोद्गात्रा प्रयोग इति। यथाध्वर्यु-कर्तृकपुरोडाशशेषाणां मन्त्राणां यत्र कुत्र श्रुतानामप्यध्वर्युणा सम्बन्ध एवमक्षरविद्यायां श्रुतानामक्षरगुणामस्थूलत्वादीनामक्षरसम्बन्धित्वा-त्सर्वाक्षरविद्यासूपसंहारः। अस्मिन्नर्थे जैमिनिसूत्रं प्रमाणयति—

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग इति ॥३।३।२३॥

तर्हि 'सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० १।१४।४) इत्येवमादीनामपि गुणानां प्रधानभूतब्रह्मगुणत्वात्सर्वत्रोपसंहारः स्यादित्यत्राह—

इयदामननात् ॥३।३।२४॥

इयदस्थूलत्वादिविशेषितानन्दादिकमेव सर्वत्रोपसंहर्तव्यम्। कुतः? आमननात्। इयद्गुणविशिष्टस्यैव ब्रह्मस्वरूपस्यामननात्। येन गुणजातेन विना प्रत्यगात्मव्यावृत्तस्य ब्रह्मस्वरूपस्यामननमनुसन्धानं नोपपद्यते तदेव सर्वत्रोपसंहृत्यानुसन्धेयम्। अन्यत्तु प्रधानानुवर्त्यपि सर्वकर्मत्वादिकम् चिन्तनीयत्वेन प्रतिविद्यमेव व्यवस्थितमिति ॥३।३।२४॥

इत्यक्षरध्यधिकरणम्।

अथान्तरत्वाधिकरणम्।

अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥३।३।२५॥

वाजसनेयके "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व" (बृ० ३।४।१) इत्युपस्तेन पृष्टस्य याज्ञवल्क्यस्योत्तरं 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ०३।४।१।) इत्यादि। 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इत्यन्तम्। एवमग्रेऽपि "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व" (बृ० ३।५।२।) इति कहोलप्रश्ने "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति" (बृ० ३।५।१।) इत्यारभ्य 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।५।१।) इत्यन्तं याज्ञवल्क्यस्योत्तरम्। तत्र किमुभयत्र विद्याभेद

उताभेद इति संशयः। किं युक्तम्? एकत्र प्राणनादिहेतुः परमात्मोक्तः। अन्यत्राशनापिपासाद्यतीतधर्मा परमात्मेत्युपास्यभेदाद्विद्याभेद इत्येकः पूर्वपक्षः। इहोभयत्रोपास्यैक्येपि न विद्यैक्यं "समिधो यजती" त्यादौ यजत्यभ्यासवत्प्रकृत आत्माभ्यासाद्विद्याया भेदनिष्पत्तेरिति द्वितीयो मुख्यः पूर्वपक्षः। तत्रादौ प्रथमं पूर्वपक्षं निरस्यति–अन्तरेति। पूर्वसूत्रादामननादित्यनुवर्तते "भूतग्रामवदि" तिश्रुत्यन्तरदृष्टान्तार्थम्। यथा "एको देवः सर्वभूतेषु गूढ" इति श्रुत्यन्तरे सर्वेषु भूतग्रामेषु सर्वान्तर एक एवात्माम्नातस्तथात्राप्युभयोर्ब्राह्मणयोरुपक्रमे "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" इति स्त्रात्मनः परमात्मनः सर्वान्तरत्वामननाद् 'अतोन्यदार्तम्' अत आत्मनोन्यदर्तियुक्तमित्युपसंहारस्य चाभेदात्। कहोलप्रश्ने "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" त्येवकारेण विद्याभेदनिरासाच्च विद्यैक्यं सिद्धतरम्। द्वितीयं मुख्यं पूर्वपक्षमनूद्य दूषयति–अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति। अन्यथा विद्ययोर्भेदानङ्गीकारे प्रतिवचनभेदस्यात्माभ्यासस्य चानुपपत्तिः। प्रतिवचनभेदस्यात्माभ्यासस्य च विद्याभेदेनैवोपपत्तिर्भवतीत्यर्थः। परिहरति–इति चेन्नेति। प्रतिवचनभेदोत्तरस्योक्तत्वात्। उपदेशवदभ्यासस्योपपत्तेश्चेत्यर्थः। यथा छान्दोग्ये "तत्त्वमसी" त्युपदेशस्य नवकृत्वो नवधाभ्यस्यमानेपि न विद्याभिद्यते। उपक्रमोपसंहारयोरविशेषात्। तथा ब्राह्मणद्वयेप्युपक्रमोपसंहारयोरविशेषान्न विद्या भिद्यते। अभ्यासस्य ब्रह्मगुणानां विशेषत्वज्ञापनद्वारा दार्ढ्यार्थत्वेन चोपपत्तेर्न विद्याभेदकत्वम् ॥३।३।३५॥

उक्तार्थं प्रकारान्तरेण द्रढयति—

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥३।३।३६॥

न ह्यत्र विद्या भिद्यते। उषस्तकहोलयोर्द्वयोरपि प्रश्नस्यैकरूप्यादेकविषयत्वे निश्चिते सत्युभयोः प्रतिवचनगतबुद्धिर्व्यतिहारः

कर्तव्य । उषस्तेनाशनायाद्यतीतत्वबुद्धि स्वजिज्ञास्यभूत उपास्ये विधेया। तथा कहोलेन प्राणनादिहेतु यथा सर्वान्तरात्मविषया स्वो पास्ये कर्तव्येति। एवमेवाचार्यस्य याज्ञवल्क्यस्य वचनानि विशि पन्ति सर्वान्तर्यामिणमेकमेवोपास्य परमात्मानम्। अत्र दृष्टान्त- इतरवत्। सद्विद्याप्रकरणे सर्वाणि प्रतिवचनानि प्रतिपाद्यपरम कारणपरमात्मविषयकाण्येव तद्वदत्रापीति ज्ञेयम् ॥३।३।३६॥

सद्विद्यायामपि कथमैक्य यतस्तत्रापि प्रश्नप्रतिवचनभेद उपल भ्यत एवेत्याह—

सैव हि सत्यादयः ॥३।३।३७॥

"सेय देवतैक्षत" इत्यादिषु सैव परा देवतैकानुवर्तते। "सन्मूला सोम्येमा" "अस्य सोम्य पुरुषस्य" इति सर्वेषु प्रति वचनेषु त एव सत्यादय संह्रियन्ते। एतदुक्त भवति—"सदेव सोम्येदमग्र"इत्युपक्रान्त यत्सर्वकारण सच्छब्दवाच्य पर ब्रह्म तद्विष याण्येव "सेय देवते' ति "सन्मूला" इति "परस्या देवतायाम्" इति "स य एषोणिमे' ति 'एतदात्म्यमि"त्ति 'तत्सत्यमि"ति "स आत्मे"ति सर्वाणि वचनानि प्रतीयन्ततो ब्रह्मण एकस्यैवोपास्यत्व तत्र निश्चीयत ॥३।३।३७॥

इत्यन्तरत्वाधिकरणम् ।

अथ कामाद्यधिकरणम् ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३।३।३८॥

छान्दोग्ये— 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्य तद्वाव विजिज्ञासि तव्यमिति" (छा०८।१।१।) इति प्रकृत्य श्रूयते "एष आत्मापहत पाप्मा विजरो विमृत्यु" (छा० ८।१।५।) इति। तथा बृहदारण्यके

"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" (बृ० ४।४।२२।) इति श्रूयते। तत्र संशयः। परस्परं गुणोपसंहारः कार्यो न वेति। किं युक्तम्? नोपसंहारः कार्य इति। कुतः? विद्याभेदात्। छान्दोग्ये अपहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टस्य दहराकाशशब्दाभिहितस्य परमात्मन उपास्यत्वम्। बृहदारण्यके तु आकाशे शयानस्य वशित्वादिगुणयुक्तस्य तस्योपास्यत्वमिति रूपभेदाद्विद्याभेद इति प्राप्तेऽभिधीयते—कामादीतरत्र तत्र चेति। नह्यत्र रूपभेदो येन विद्याभेदः स्यात्। तथा हि—सत्यकामत्वादिगुणजातमितरत्र वाजसनेयक उपसंहरणीयमेव। तत्र च—छान्दोग्य च सर्ववशित्वादिकमुपसंहर्तव्यम्। कुतः? आयतनादिभ्यः। हृदयायतनत्वसेतुत्वादीनां गुणानामुभयत्र समानत्वात् ॥३।३।३८॥

ननु 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ०।४।४।१९) इत्यादः पूर्वप्रकृतात् 'स एष नेति नेत्यात्मा (बृ० ४।५।१२) इति वक्ष्यमाणत्वात् ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य प्रतिषेध्यत्वावगमात्सर्ववशित्वसर्वेशानत्वादीनां ब्रह्मनित्यगुणत्वानुपपत्तेः। एवं सत्यकामत्वादीनामपि न पारमार्थिकत्वमतः कथं मोक्षसाधनीभूतेषूपासनेष्वनुसन्धेयत्वमित्यत आह—

आदरादलोपः ॥३।३।३९॥

प्रमाणान्तराविषयस्य श्रुत्यैकज्ञातव्यस्य वशित्वादब्रह्मनित्यगुणजातस्यादरादादरेण प्रतिपादनादलोपः। 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इति ब्रह्मदृष्ट्युपलक्षितानां ब्रह्मनित्यगुणानां विपरिलोपस्य प्रतिषेधात्। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"ति ब्रह्मस्वाभाविकगुणानां प्रतिषेधत्वानुपपत्तेश्च न तेषां विपरिलोपः। "नेह नानास्ति" इति नानात्वप्रतिषेधस्तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेनैक्यात्तद्भिन्नं किञ्चिन्नास्तीति प्रतिपाद्यते ॥३।३।३९॥

सगुणोपासनस्य 'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (छा० ८।२।१) इति सांसारिकफलत्वेन न मोक्षफलत्वमित्याशङ्कयाह—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥३।३।४०॥

उपस्थितिरुपस्थानम् । उपस्थाने ब्रह्मोपासने कर्मबन्धापगमानन्तरं ब्रह्मसम्पत्तिः स्वरूपाविर्भावश्च भवति । अतो ब्रह्मसम्पत्तेरनन्तरमेव तद्वचनात्पितृलोकादिप्राप्तिवचनान्न तस्याः सांसारिकफलत्वमपितु मोक्षफलत्वमेवेति । कुतोऽवगम्यते । एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते 'स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्रममाण' (छा० ८।१२।३।) इत्यशेषक्लेशविमुक्तस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्नस्यैव स्वेच्छाविहरणमाम्नायते ॥३।३।४०॥

इति कामाद्यधिकरणम् ।

अथ तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥३।३।४१॥

कर्माङ्गभूतोद्गीथादिषु प्राणाद्युपासनानि सन्ति । तत्र संशयः किं तानि पर्णतावत्कर्माङ्गानि नित्यकर्मवदनुष्ठेयानि गोदोहनवत्स्वतन्त्रफलसाधनान्यनित्यानीति वा ? किं युक्तम् ? उद्गीथादिगतप्राणाद्युपासनानामप्युद्गीथादिद्वारा क्रत्वङ्गत्वान्नित्यकर्मवदनुष्ठेयानीति प्राप्त आह—तन्निर्धारणानियम इति । तेषां कर्माङ्गाश्रितानां निर्धारणानां प्राणाद्युपासनानामनियमः । तस्य नित्यकर्मवदनुष्ठानाभावः । कुत ? तद्दृष्टेः । तस्योपासनानियमस्य श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः । "तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद" इति श्रुतिरनुपासक

स्यापि कर्माणि कर्तृत्वं च वदन्त्युपासनस्यानियतत्वं दर्शयति। उपासनस्य पृथक् फलश्रवणादपि पशुप्राप्तिफलकगोदोहनवन्न कर्माङ्गत्वमित्याह—पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलमिति। हि यत उपासनस्य पृथग्भूतं फलं तच्चाप्रतिबन्धरूपं फलं वीर्यवत्तरम्। वदति हि श्रुतिरुपासनस्य पृथक् फलत्वम्। तस्माद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति सिद्धम् ॥३।३।४१॥

इति तन्निर्धारणानियमाधिकरणम्।

अथ प्रदानाधिकरणम्।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥३।३।४२॥

दहरविद्यायां श्रूयते "तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्" (छा० ८।१।६।) इति। तत्र दहराकाशस्वरूपस्य परमात्मन उपासनमभिधाय तद्गुणानामप्युक्तवचनेन पृथक्तया चिन्तनं विहितम्। तत्किं गुणचिन्तने तत्तद्गुणविशिष्टतया परमात्मचिन्तनस्यावृत्तिराहोस्विन्नेति संशये एकस्यैव परमात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिसर्वगुणाश्रयत्वेन सकृदेव चिन्तनोपपत्तेर्नावृत्तिरिति प्राप्तेऽभिधीयते-प्रदानवदेवेति। सर्वगुणाश्रयस्य गुणिनः परमात्मनः स्वरूपस्यैक्येऽपि तत्तद्गुणविशिष्टाकारभेदात्सकृच्चिन्तनेन तत्तद्गुणविशिष्टतत्तदाकाराणां चिन्तनानुपपत्तेरावृत्तिः करणीयेति। तत्र दृष्टान्तः। प्रदानवदेवेति। यथा 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेत्' (यजु० २।) 'इन्द्रायाधिराजाय' 'इन्द्राय स्वराज्ञे' (य० २) इत्यत्र राजत्वादिगुणविशिष्टस्यैकस्यैवेन्द्रस्य तत्तद्गुणसम्बन्धादाकारस्य भेदात्प्रदानावृत्तिर्भवति। तदुक्तं जैमिनीये 'नाना वा देवता पृथक्त्वात्' इति ॥३।३।४२॥

इति प्रदानाधिकरणम्।

अथ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥३।३।४३॥

वाजसनेयकेऽग्निरहस्ये केचिन्मनश्चितादय साम्पादिका अग्नय श्रूयन्ते—"मनश्चितो वाक्चित प्राणचितश्चक्षुश्चित श्रोत्रचित कर्मचितोऽग्निचित" इति । तत्राथ सशय । किमेतेषामग्नीना क्रियामयत्वङ्गत्वमाहोस्विद्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवेति । तत्र कर्मप्रकरणे पठितत्वात्कर्माङ्गभूता एतेऽग्नय इति प्राप्तेऽभिधीयते—लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपीति । न हि क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमेषाम् किन्तु विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेव । कुत ? लिङ्गभूयस्त्वात् । एतस्मिन्प्रकरणे भूयासि लिङ्गान्येषा विद्यामयत्वमाविष्कुर्वन्ति 'तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इत्यादीनि । तद्धि लिङ्ग प्रकरणाद्बलीय तदपि चोक्त पूर्वकाण्डे "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण स्थानसमाख्याना समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" (जै० सू० ३।३।१३।) इति ।

'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' "यो वेद निहित गुहायाम्" "सोऽश्नुते सर्वान् कामान्" 'तस्माद्वा एतस्मात्" इत्यत्र ब्रह्मणा सह सर्वकाम प्राप्त्युपलक्षितब्रह्मानुभवफलक ब्रह्मोपासन विधीयते । तत्र सशय । ब्रह्मेत्यानुपूर्वीबोधितपरतत्त्वस्योपासन कर्तव्य रामनारायणादि शब्दबोधितपरतत्त्वस्यापीति । किं प्राप्तम् ? ब्रह्मेत्यानुपूर्वीबोधि तस्यैव परतत्त्वस्योपासन कर्तव्यम् । कुत ? लिङ्गभूयस्त्वादिति । आनन्दादीना लिङ्गाना ब्रह्मेत्येवानुपूर्वीबोधितपरतत्त्वे भूयस्त्वात् । तद्धि बलीय इति लिङ्गस्य बलीयस्त्वात् । तदपीति । लिङ्गस्य बलीय स्त्वेनैव तदपि रामेत्यानुपूर्वीबोधितमपि परतत्त्वमुपासनीयम् । तत्रापि ब्रह्मलिङ्गाना दर्शनात् । तथाहि 'रमन्त योगिनोनन्ते

सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदे नादो परं ब्रह्माभिधीयते" इत्यादि ॥३।३।४३॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानमवत् ॥३।३।४४॥

अत्र पूर्वपक्षी समाशङ्कते—

न स्वतन्त्रोऽग्निः किन्तु क्रिया—क्रियामयक्रत्वङ्ग स्यात्। 'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' इति प्रकृतस्य पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेरयं मनःसंकल्पात्मको मनश्चिताद्यग्निविकल्पः प्रकरणात्स्यात्। क्रियामयाग्निविकल्पत्वेन क्रियामयक्रत्वङ्गः स्यादित्यर्थः। विद्यारूपाणामप्येषां क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमुपपद्यत एव। तत्र दृष्टान्तः। मानसवदिति। यथा द्वादशाहे दशमेऽहन्यविवाक्ये विद्यारूपस्यापि मानसग्रहस्य क्रियायाः प्रकरणात्तदङ्गता सम्पद्यते तद्वदिहापि ॥३।३।४४॥

अतिदेशाच्च ॥३।३।४५॥

मनश्चिदादीनां 'तेषामेकैकोऽग्निस्तावान् यावानसौ पूर्वः' इति पूर्वेणेष्टिकान्वितेनाग्निना मानसाग्नीनां सादृश्यस्यातिदेशाच्च तेषां क्रियाशेषत्वं प्रतीयते ॥३।३।४५॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह—

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ॥३।३।४६॥

तुशब्दः पक्षव्यावर्तकः। विद्यैव मनश्चिदादयो विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एव न कर्माङ्गभूता इत्यर्थः। कुतः? निर्धारणात्। 'ते हैते विद्याचित एव' इति निर्धारणं विद्यामयक्रत्वङ्गतयैवैतेषां विद्यामयत्वं द्योतयति। न कर्माङ्गत्वम्। एवं विद्यामयक्रतुदर्शनाच्च विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेतेषाम्। एवकारेण कर्मप्रकरणपठितत्वेन न कर्माङ्गभूता इति निश्चयकरणाच्च। लिङ्गादपि न ते कर्माङ्गभूता इत्याह—दर्शनाच्चेति। "यत् किंचेमानि भूतानि मनसा सङ्कल्प-

यन्ति" इत्यादीना मनश्चिदाद्यग्निसातन्त्र्यज्ञापकलिङ्गानां दर्शनादपि न तेषा कर्माङ्गत्वम् ।।३।३।४६।।

ननु क्रियामयक्रतुप्रकरणावगताना मनश्चिदादीनामग्नीना क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमेव न्याय्यम् , न तु विद्यामयक्रत्वनुप्रवेशाद्विद्यारूपत्वमित्यत्राह—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।।३।३।४७।।

प्रकरणाद्धि श्रुतिलिङ्गवाक्याना बलीयस्त्वाच्छ्रुत्यादिभिर्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वेऽवगते न ततो दुर्बलेन प्रकरणेन बाध । तत्र श्रुति – 'ते हैते विद्याचित एव' इति। लिङ्गमपि 'तान् हैतानेव विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति। एव 'एव विदे चिन्वन्ति' इति वाक्यमपि। तस्मादेभि प्रमाणैर्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवैतेपामिति ।।३।३।४७।।

पृथक्फलसम्बन्धाश्रवणाद्विधिप्रत्ययाभावाच्च न विद्यामयक्रत्वमित्यत्राह—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ।।३।३।४८।।

अत्र विद्यामयक्रतुर्विधिरवश्य कल्पनीय । कुत ? 'मनसैपु ग्रहा अगृह्यन्त' इत्यादिक्रत्वनुबन्धात् पूर्वोक्तश्रुत्यादिभ्यश्च। यथा दहरविद्यादीना प्रज्ञान्तराणा क्रियामयात्पृथक्त्वम् तथात्रापि। तदुक्तमेव 'वचनानि त्वपूर्वत्वात्' इति ।।३।३।४८।।

यदप्यतिदेशात्क्रियामयक्रतुशेषताभिहिता तत्रोच्यते—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।।३।३।४९।।

नह्यतिदेशमात्रेणेष्टकाचिताग्निसादृश्यमेषा सम्भवति। केनचिदपि सामान्येनातिदेशस्योपलब्धे। यथा "स एप मृत्युर्य एप

एतस्मिन्मण्डले” इत्यादौ मृत्युवत्सर्वसंहारकारित्वमात्रेणातिदेशो न मण्डलपुरुषस्य तल्लोकापत्तिरप्यतिदिश्यते । तथात्रापि फलसामान्येनाप्यतिदेशस्योपपत्तेः ॥३।३।४९॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥३।३।५०॥

परेण च ब्राह्मणेन मनश्चिदाद्यग्न्यभिधायिन शब्दस्यापि ताद्विध्य विद्यामयप्रतिपादकत्व प्रतीयते । “अथ वात्र लोक एषोऽग्निश्चितस्तस्याप एव परिश्रिता ” इत्यादिना ‘स यो हैतदेव वेद लोकम्पृणानामेन भूतमेतत्सर्वमभिसम्पद्यते” इति पृथक्फला विद्यैव विधीयते । अथैव तर्हि बृहदारण्यक एवैषामनुबन्ध आवश्यक इत्यत आह—क्रियाप्रकरण एषामनुबन्धस्तु सम्पादनीयानामग्न्यङ्गानामत्र भूयस्त्वात्कृत । तस्माद्विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेवैतेषा मनश्चिदादीनामिति ॥३।३।५०॥

इति लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ।

अथात्मनः शरीराधिकरणम् ।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥३।३।५१॥

‘आत्मेति तूपगच्छन्ति’ (ब्र० सू० ४।१।३।) इत्यत्र प्रत्यगात्मन आत्मत्वेन परमात्मोपास्य इति वक्ष्यते । तत्र शरीरे वर्त्तमानस्य कर्मवशस्य प्रत्यगात्मन कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्ट रूपमनुसन्धेयमुत कर्मबन्धाद्विमुक्त प्रजापतिवाक्यादितापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्ट यथावत्स्वरूपमिति संशये, शरीरे वर्तमानस्य यादृश रूप तादृशेनैवरूपेण कर्मविधाविवोपासनविधावपि साधनानुष्ठानफलानुभवयो सम्भवात्तादृशमेव तद्रूपमनुसन्धेयमिति पूर्व पक्ष । सूत्रार्थस्तु—एके कर्तृत्वादिविशिष्टमेवात्मस्वरूपमनुसन्धेयमिति

मन्यन्ते । कुत ? शरीरे वर्तमानस्योपासकस्य तथाभावात् ॥ ३।३।५१॥

अत्राभिधीयते—

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥३।३।५२॥

न कर्तृत्वादिविशिष्टोऽनुसन्धेयो मुमुक्षुभिरपि तु सांसारिका दात्मनो यो व्यतिरेक कर्मबन्धविनिर्मुक्तस्वरूपाविर्भूतापहतपाप्म त्वादिगुणविशिष्ट सोऽनुसन्धेय । अस्य वास्तविक यत्स्वरूप तदे वानुसन्धेयमुपासनायामिति भाव । कुत ? तद्भावभावित्वात् । "यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेत प्रेत्य भवति" (छा० ३।१४।१) इति श्रुते । "य य वापि स्मरन् भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम् । त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित" (गी०) इति स्मृतेश्च । उपलब्धिवत् । ब्रह्मोपलब्धिवत् । यथा यथावस्थित ब्रह्मस्वरूपोपासनयुक्तस्यैव ब्रह्मस्वरूपोपलब्धिर्भवति तथा यथावस्थितमात्मस्वरूप याथात्म्यानुसन्धानपरस्यैव यथा वस्थितात्मोपलब्धिरपि भवति ॥३।३।५२॥

इत्यात्मन शरीराधिकरणम् ।

अथाङ्गावबद्धाधिकरणम् ।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥३।३।५३॥

कर्माङ्गाश्रितोपासनासूद्गीथावयवोङ्कारे प्राणदृष्टि, उक्थे पृथिवी दृष्टि, "लोकेषु पञ्चविध सामोपासीते"ति पृथिव्यग्न्यादिपु तत्तद् दृष्टि । तत्र सशय । एता उपासना किं यस्या शाखाया श्रूयन्ते तच्छाखागतोद्गीथादि ऋत्वङ्गाश्रया उत सर्वशाखागतोद्गीथा

द्याश्रया इति । कि युक्तम् ? शाखासु स्वरभेदात् प्रतिशाखमुद्गीथादीनां सम्बन्ध इति प्राप्त उच्यते—अङ्गावबद्धास्त्विति । एता अङ्गाव बद्धा उद्गीथाद्यङ्गाश्रिता उपासना न तस्या तस्या शाखाया विद्यमानोद्गीथादिष्वाश्रिता किन्तु प्रतिवेद सर्वशाखासु विद्यमानोद्गीथादिष्वाश्रिता । हिर्हेतौ यस्मादुद्गीथमुपासीतस्युद्गाथत्वजात्यविशेषस्त्व श्रुते । सर्वासु शाखासु विद्यमानानामुद्गीथादीनामुद्गीथत्वाद्यवच्छिन्नत्वेनसम्बन्ध ॥३।३।५३॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥३।३।५४॥

वाशब्दश्चार्थे यथैकैकशाखावगताना क्रत्वङ्गभूताना मन्त्रादीना सर्वशाखासु क्रतोरेकत्वेन सम्बन्धस्याविरोध, आदिपदन यथा प्रयाजा एकत्राम्नाता शाखान्तरेपि प्राप्नुवन्ति तथैकशाखा विहितानामुपासनाना शाखान्तरगतोद्गाथादिषु प्राप्तेरविराध ॥ ॥३।३।५४॥

इत्यङ्गावबद्धाधिकरणम् ।

अथ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥३।३।५५॥

वैश्वानरविद्याया द्युलोकादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिवीषु व्यस्तेषु "वैश्वानर सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि" (छा० ५।११।६) इत्यादा च समस्तस्यापि वैश्वानरस्योपास्ति श्रूयते । तत्र सन्देह । किम त्रोभयथाप्युपास्तिर्विवक्षिता उत समस्तोपास्तिरेवेति । किं युक्तम् ? व्यस्तोपास्ति । कुत ? व्यस्तोपास्तेरसकृत्प्रशसा श्रूयते । 'य प्रशस्यते स विधीयते' इति न्यायात्साक्षादपि विधिप्रत्ययश्रवणाच्चेति व्यस्तोपास्तिर्विवक्षितेति प्राप्तेऽभिधीयते—भूम्न इति । 'मूर्धा ते

व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य" (छा० ५।१२।२) इत्यादिना व्यस्तोपासनस्य निन्दया समस्तोपासनस्य दृढीकरणात्समस्तोपासनस्यैवात्र ज्यायस्त्वं प्रतिपाद्यते न व्यस्तोपास्ते। क्रतुवत्। यथा दर्शपूर्णमासादिकस्य क्रतो साङ्गप्रधानस्यैकस्यैव प्रयोगो विवक्षितो न व्यस्तानामपि प्रयाजादीनां तद्वत्। तथा हि दर्शयति समस्तोपासनस्य ज्यायस्त्वं श्रुतिः। प्राचीनशालादिभिरुक्तानि व्यस्तोपासनानि मूर्धादिपतनानिष्टफलकत्वेन विनिन्द्य वैश्वानरात्मनः स्वर्गलोकादिपृथिव्यन्तानां मूर्धादिपादान्तावयवत्वं विधाय 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" (छा० ५।१८।१) तथा 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३।) इति समस्तोपासनस्यैव फलं दर्शयति, तस्मात्समस्तोपासनस्यैव ज्यायस्त्वमिति ॥३।३।५५॥

इति भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्।

अथ शब्दादिभेदाधिकरणम्।

नाना शब्दादिभेदात् ॥३।३।५६॥

अत्र परमपुरुषप्राप्तिरूपमुक्तिफलिका वैश्वानराद्याः सर्वा विद्या अधिकृत्य विचार्यते। किमासां विद्यानामैक्यमाहोस्विन्नानात्वमिति। किं युक्तम्? विद्यादुपासीतेत्यादिविधिप्रत्ययानां पर्यायत्वात् उपास्यस्य ब्रह्मणस्तत्प्राप्तिरूपफलस्य च सर्वत्रैकत्वाद्विद्यैक्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते—नानेति। उक्ता विद्या नानैव। कुतः? उपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वेऽपि शब्दादिभेदात् ॥३।३।५६॥

इति शब्दादिभेदाधिकरणम्।

अथ विकल्पाधिकरणम् ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥३।३।५७॥

ब्रह्मप्राप्तिफलाना दहरादिविद्यानामनुष्ठाने समुच्चयो विकल्पो वेति सशये किं युक्तम् ? अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादीना स्वर्गैकफलभूयस्त्ववाञ्छया समुच्चयेनानुष्ठानदर्शनवदासामपि विद्याना ब्रह्मानुभवफलभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयेनानुष्ठान सम्भवतीति प्राप्तेऽभिधीयते–विकल्प इति । विकल्प एवानुष्ठान समाश्रयणीयो न तु समुच्चय । कुत ? अविशिष्टफलत्वात्। सर्वासां विद्यानामपरिमितज्ञानानन्दब्रह्मानुभवरूपस्यैकस्यैव फलत्वात्। तत्रैकया विद्यया ब्रह्मानुभवे सिद्धे विद्यान्तरानुष्ठानस्य व्यर्थत्वान्नानुष्ठाने समुच्चय ॥३।३।५७॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥३।३।५८॥

काम्या ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफला विद्यास्ताश्च यथेच्छ समुच्चीयेरन् विकल्पेरन्वा । कुत ? पूर्वहेत्वभावात् । दहरादिविद्यानाम परिमितानन्दब्रह्मानुभवरूपफलस्येव काम्याना विद्याना फलस्यापरिमितत्वाभावात् फलभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयोऽपि सम्भवतीति भाव ॥३।३।५८॥

इति विकल्पाधिकरणम् ।

अथ यथाश्रयभावाधिकरणम्

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥३।३।५९॥

कर्माङ्गाश्रयाणामुद्गीथोपासनादीना गोदोहनादिवदधिकारान्तरत्वेनोपादानानियम पूर्वोक्त सम्भवति नवेति सशये उच्यते–

अङ्गेष्विति । अङ्गेषूद्गीथादिष्वाश्रितानामुपासनानां यथाश्रयभाव उद्गीथादिवदङ्गभावः । गोदोहनादिवत्तस्मिन्वाक्ये फलसम्बन्धाश्रवणादङ्गभावो न विरुध्यत इत्यर्थः ॥३।३।५९॥

शिष्टेश्च ॥३।३।६०॥

शिष्टिः शासनम् विधानमिति यावत् । 'उद्गीथमुपासीत' इति यथाङ्गानां प्रतिवेदं विधानं तथा तदाश्रितानामुपासनानां विधानाविशेषाच्च तदङ्गभावो न विरुद्ध्यतेऽत उपादाने नियमः ॥३।३।६०॥

समाहारात् ॥३।३।६१॥

ऋग्वेदोक्तप्रणवस्य सामवेदोक्तोद्गीथस्य चैक्योपासन उद्गातृकृते फलमाह श्रुतिः "होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति" (छा० १।५।५) इति । अत्रोपासनस्य समाहारनियमो दृश्यते । तथा च वेदद्वयोक्तयोः प्रणवोद्गीथयोरैक्यज्ञानस्येदृशं फलं ब्रुवती श्रुतिः सर्ववेदोक्तानामप्यङ्गाश्रितोपासनानामुद्गीथादिवदङ्गभावेन समुच्चयं सूचयति ॥३।३।६१॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥३।३।६२॥

इतश्च नियमेनोपादानम् । उपासनाश्रयस्योंकारस्योपासनगुणस्य च "तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति" (छा० १।१।९।) इति साधारणश्रुतेः समाहारोऽत्र दृश्यते । तच्छब्देन प्रकृतस्य सोपासनस्य प्रणवस्यैव परामर्शात्तस्यैव च सर्वत्र संचारः तथा चोपासनस्य प्रणवसहभावनियमादुद्गीथादिवदुपासनानामपि समुच्चयेनानुष्ठानम् ॥३।३।६२॥

एवं चतुर्भिः सूत्रैरित्येवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥३।३।६३॥

वाशब्दस्त्वर्थकः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । अङ्गाश्रितोपासनानामङ्ग-

तत्समाहारस्य नियमो नास्ति । कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः । "ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति" इति यथाङ्गानां तत्सहभावः श्रूयते । तथाङ्गाश्रितोपासनानां तत्सहभावस्योद्गीथाङ्गभावस्याश्रुतेः । क्रत्वङ्गभावोहि सहभावः ॥३।३।६३॥

दर्शनाच्च ॥३।३।६४॥

अङ्गाश्रितोपासनानां समुच्चयाभावस्य श्रुतौ दर्शनाच्च न तेषां समुच्चयः । तथाहि श्रुतिः "एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति" (छा० ४।१७।१०) इति । ऋग्वेदादिविहिताङ्गलोपे व्याहृतिहोमप्रायश्चित्ताभिज्ञत्वं ब्रह्मण एव । तद्विज्ञानवता ब्रह्मणा यज्ञादिपरिपाल्यत्वं सर्वोपासनानां समुच्चये हि । इतरेषामृत्विजां न स्यात्, सर्वेषां सर्वविच्वात् । अस्ति च परिपाल्यत्व कीर्तनम् । तस्मान्न सर्वोपासनासमुच्चयः ॥३।३।६४॥

इति यथाश्रयभावाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तंसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
सङ्क्षिप्तसारे तृतीयाध्यायस्य
तृतीयः पादः ॥३॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीते शारीरकमीमांसायाः आनन्दभाष्ये

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

अथ पुरुषार्थाधिकरणम् ।

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥३।४।१॥

किं कर्मणः पुरुषार्थ आहोस्विद्विद्यात इति संशयः । किं युक्तम्? कर्मणः । कुतः ? "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" (छा० १।१।१०) इति श्रुत्या सर्वकर्मसु विद्याया विनियुक्तत्वात्तस्याः कर्माङ्गत्वावगमात् । तत्वमसीत्यादीनां का गतिरिति चेत्तानि वाक्यानि कर्मसु कर्तृभूतप्रत्यगात्मनो याथात्म्यं बोधयन्ति कर्माङ्गभूतकर्तृयाथात्म्यानुसन्धानपूर्वककर्मानुष्ठानेन समीचीनपुरुषार्थावाप्तिरिति विद्यायाः कर्माङ्गत्वावगमेन कर्तृसंस्कारत्वनिश्चयस्यात्तत्फलश्रुतेरर्थवादत्वोपपत्तेः कर्मण एव पुरुषार्थ इति प्राप्तेऽभिधीयते–पुरुषार्थोऽत इति । अतो ब्रह्मविद्यातः पुरुषार्थो ब्रह्मानुभवलक्षण । कुतः ? "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्येवमादिशब्दात् इति भगवान् बादरायणो मन्यते ॥३।४।१॥

एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥३।४।२॥

तत्वमस्यादिवाक्यज्ञातयाथात्म्यस्वरूपस्यात्मनः कर्माङ्गत्वेन कर्मकर्तृत्वेन कर्मशेषत्वात्तद्विद्याया अपि कर्तृसंस्कारत्वेन कर्तृद्वारा-कर्मशेषत्वोपपतेः । तत्र पुरुषार्थवादोऽर्थवादः । यथाऽन्येषु पर्णमयी-द्रव्ययजमानस्थाञ्जनादिसंस्कारप्रयाजादिरूपेषु द्रव्यसंस्कारकर्मस्व-पापश्लोकादिफलश्रुतिरर्थवादस्तथात्रापि पुरुषार्थश्रुतिरर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥३।४।२॥

आचारदर्शनात् ॥३।४।३॥

"जनको ह वैदेहो बहु दक्षिणेन यज्ञेनेजे" (बृ० ३।१।१) इत्यादौ ब्रह्मविदां जनकादीनामाचारदर्शनाल्लिङ्गाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥३।४।३॥

तच्छ्रुतेश्च ॥३।४।४॥

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा० १।१।१०) इति विद्यायाः कर्माङ्गत्वश्रवणात् ॥३।४।४॥

समन्वारम्भणात् ॥३।४।५॥

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" (बृ० ४।४।२) इति श्रुतिर्विद्याकर्मणोरेकपुरुषपाण्डित्य विद्यायाः कर्माङ्गत्वं च ज्ञापयति ॥३।४।५॥

तद्वतो विधानात् ॥३।४।६॥

निखिलवेदार्थविज्ञानवतः कर्मण्यधिकारः श्रुतिभिरुपदिश्यते । "आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे" (छा० ।८।१५।१) इति । अत्राध्ययनस्यार्थावबोधपर्यन्तत्वात्सर्ववेदार्थज्ञानवतः कर्मविधानादपि लिङ्गाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वम ॥३।४।६॥

नियमाच्च ॥३।४।७॥

इतोऽपि विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥ (ई० २) इति यावज्जीवं कर्माचारनियमदर्शनात्कर्मण एव पुरुषार्थो न विद्यात इति विद्यायाः कर्माङ्गत्वमेव ॥३।४।७॥

इत्येवं प्राप्ते समाधानमुच्यते—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥३।४।८॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः । न विद्यायाः कर्माङ्गत्वमपि तु विद्यात एव पुरुषार्थ इत्येवं भगवतो बादरायणस्य मतम् । कुतः ?

अधिकोपदेशात् । वेदान्तेषु कर्मकर्तुर्जीवादधिकस्याखिलोपासक-जनमनोरथपूरकस्य परब्रह्मण उपास्यतयोपदेशात् । कथमवगम्यते । तद्दर्शनात् । वेद्यतयोपदेशस्य श्रुतिषु दर्शनात् । "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (पू० सू०) "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः" (बृ० ४।४।२२) "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" (श्वे० ६।७) इति । तस्माद्ब्रह्मानुभवलक्षणस्य फलस्याविर्भावो विद्यात एवेति ॥३।४।८॥

यदुक्तमाचारदर्शनाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वमिति तत्राह—

तुल्यन्तु दर्शनम् ॥३।४।९॥

विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावेऽप्याचारदर्शनं तुल्यम् "एतद्धस्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादिका श्रुतयो विदुषः कर्माचाराभावं दर्शयन्ति । तुशब्दश्चैतस्य मतस्य प्राबल्यमुपपादयन् जनकादिज्ञानिनां कर्माचारस्य लोकसङ्ग्रहार्थत्वेनान्यथासिद्धिं दर्शयति । मुमुक्षुभिस्तु सकामस्य कर्मणो विद्याविरोधितया लोकसङ्ग्रहार्थमनुष्ठानं त्यागो वा । निष्कामस्य कर्मणस्तु विद्याङ्गत्वेनानुष्ठानमिति विवेकः ॥३।४।९॥

यच्चोक्तं श्रुतिरेव विद्यायाः कर्माङ्गत्वमवबोधयति तत्राह—

असार्वत्रिकी ॥३।४।१०॥

'यदेव विद्यया करोती'ति श्रुतिरसार्वत्रिकी सर्वविद्याविषया न भवति । किन्तु प्रकृतोद्गीथविद्यामात्रविषयता हि तस्याः । अतो न श्रुतिबलेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वं सिद्ध्यति ॥३।४।१०॥

यदपि समन्वारम्भणादित्युक्तं तत्राह—

विभागः शतवत् ॥३।४।११॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' इत्यत्रापि विद्याकर्मणोर्विभागो

ज्ञेय । विद्याहि स्वफलाय विद्यावन्त समन्वारभते, कर्म च कर्मा नुष्ठातारमिति । शतवत् । यथाऽभ्या शत दीयतामित्युक्ते विभज्य पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदेकस्मै दीयते तद्वदित्यर्थ ॥३।४।११॥

यच्चोक्त तद्वतो विधानादिति तत्रोत्तरयति—

अध्ययनमात्रवतः ॥३।४।१२॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्ये'ति वाक्य स्वाध्यायस्य फलवदर्थाव बोधित्वदर्शनेन कर्मावबोधिनश्च कर्म विधीयते न विद्यावत । मात्र पदेन विद्याया व्यावर्तनात् । न च मात्रपदेन कर्मज्ञानमपि व्या वृत्यतामिति वाच्यम् । कर्मज्ञान विना कर्मानुष्ठानासम्भवात् । ॥३।४।१२॥

यच्चोक्त नियमाच्चेति तत्राह—

नाविशेषात् ॥३।४।१३॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणी' ति नियमस्य न केवलकर्मविषयत्वमुप- पद्यते । कुत ? अविशेषात् । विद्वान् कुर्वन्निति विशेषाभावात् । अत एव "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति " (छा० ७।२६।२), अनन्यचेता सतत यो मा स्मरति नित्यश " (गी० १२।) इति श्रुतिस्मृतिभ्यो ध्रुवस्मृतिमतोऽनन्यचेतस्त्वेन नित्यश परमपुरुषस्य सातत्येन स्मरणपरस्य तन्नित्ययुक्तस्य तदेकभक्तेस्तदेकात्यर्थप्रियस्य ब्रह्मज्ञानिनो मनस क्षणमपि ब्रह्मचिन्तनव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरचिन्तनपरत्वा नुपपत्ते कर्मानुष्ठानकालालाभादिति भगवदुपासनाविरोधिकर्मणा न तस्य प्रयोजनम् । तस्मान्न विद्याया कर्माङ्गत्वम् ॥३।४।१३॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥३।४।१४॥

वाशब्दोऽवधारणार्थक । "ईशावास्यमिद सर्वम्" (ई. १) इति विद्याप्रकरणाद्ब्रह्मविद्यास्तुतय एवेय विदुष कर्मानुमति ।

सद्विद्याबलेन कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि कर्मफलेन न बध्यत इति भावः ॥३।४।१४॥

कामकारेण चैके ॥३।४।१५॥

यत एके शाखिनो ब्रह्मविद्यावतः कामकारेण गार्हस्थ्यत्याग-मामनन्ति । "एतत्पूर्व प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" (बृ० ४।४।२२।) इति विदुषः स्वेच्छया कर्मसाधनप्रजादित्यागो विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावे लिङ्गम् ॥३।४।१५॥

उपमर्दञ्च ॥३।४।१६॥

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २।२।८।) इति विद्यायाः सर्व-कर्मोपमर्दञ्च श्रूयते । दृष्टे दर्शनसमानाकारतां नीते सतीत्यर्थः तथा च ब्रह्मविद्यायाः कर्मविनाशकत्वेन तद्विरोधित्वान्न विद्यायास्त-दङ्गत्वमुपपद्यते ॥३।४।१६॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥३।४।१७॥

ऊर्ध्वरेतस्सु यतिषु विद्यायाः सत्त्वात्तेषामग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठा-नानधिकारान्नविद्या कर्माङ्गम् । ननु यत्याश्रमे किं मानमित्यत आह—शब्दे हीति । वेदे ह्यूर्ध्वरेतसामाश्रमाः श्रूयन्ते—"त्रयो धर्मस्कन्धाः" (छ० ५।१०।१) इत्यादौ तपः शब्देन वैखानसपरि-व्राजकयोर्ग्रहणम् उभयोस्तपःप्रधानत्वात् । अत्र त्रित्वेन संगृहीतानां चतुर्णामाश्रमाणां मध्ये यो ब्रह्मसंस्थः सयत्याश्रम एव ॥३।४।१७॥

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ॥३।४।१८॥

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यनेनोर्ध्वरेतसामाश्रमाणामविधानाद्ब्रह्म-संस्थत्वस्य स्तुत्यर्थं परामर्शमनुवादं जैमिनिराचार्यो मन्यते । यतो-ऽन्या श्रुतिरपवदति चाश्रमान्तरम् 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्नि-

मुद्वासयते" (यजु० १।५।२।) इत्यादिका श्रुतिराश्रमान्तरं नानुष्ठेय मित्यवगमयतीति जैमिनि ॥३।४।१८॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥३।४।१९॥

आश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयं गृहस्थाश्रमवदेवेति भगवान् बादरायणो मन्यते । कथमवगम्यत । साम्यश्रुते । अवश्यानुष्ठेयगृहस्थाश्रमसा म्यमाश्रमान्तराणामपि श्रूयते । तथाहि— 'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञो ऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।" (छा० ।२।२३।१।) इति ॥३।४।१९॥

यच्चोक्तं "त्रयो धर्मस्कन्धा" इत्यस्यानुवादकत्वं निराकृत्य विधित्वमेव तस्येत्युपपादयति—

विधिर्वा धारणवत् ॥३।४।२०॥

वाशब्दोऽवधारणार्थे । सर्वेषामाश्रमाणामस्मिन्वाक्ये विधिरेव नानुवाद । नन्वनेकाश्रमविधाने वाक्यभेद स्यादिति चेन्न । विध्यविषयाणामाश्रमाणामपूर्वविधेरावश्यकत्वेन वाक्यभेदस्येष्ट त्वात् । एकवाक्यताप्रतीतावपि तत्त्यागेनापूर्वार्थविधौ दृष्टान्तमाह– धारणवदिति । यथा "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति" इत्यत्राधोधारणेनैकवाक्यता ज्ञाताऽपि परित्यज्यत विधीयते च स्रुग्दण्डस्योपरि समिद्धारणमपूर्वार्थतया । "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" (जै० सू० ३।४।१५।) इति प्रकरणे । तथाऽत्राप्या श्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेत्यवगम्यत । वस्तुतस्त्वस्मिन् वाक्ये ज्ञानिनो विरक्तस्य भगवद्भक्तस्य विशुद्धाश्रमावस्थितत्वेन तल्लक्षण मस्मिन्वाक्ये ब्रह्मसंस्थत्वमेव विधीयत । गृहस्थाद्याश्रमाननूद्यानित्य फलत्वेन तेषामनुष्ठान आदरातिशयाभावमभिधाय ब्रह्मसंस्थत्वस्यै

वाविनाशिफलत्वेनात्र स्तूयमानत्वाद् । यत्स्तूयते तद्विधीयत इति न्यायादिति सर्वं समञ्जसम् ॥३।४।२०॥

इति पुरुषार्थाधिकरणम् ।

अथ स्तुतिमात्राधिकरणम् ।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥३।४।२१॥

उद्गीथादिविद्यासु श्रूयते "स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथ" (छा० १।१।३।) इति । तत्र किमिदं रसानां रसतमत्वादिकं कर्माङ्गोद्गीथस्तुतिमात्रमाहोस्विदुद्गीथोपासनाया गुणस्य विधानमिति संशये किं युक्तम् ? रसतमत्वादिवाक्यं सर्वमपि कर्माङ्गविधिस्तुतिमात्रम् । "इयमेव जुहूरादित्य कूर्मः स्वर्गोलोक आहवनीय" इतिवत् कर्माङ्गभूतोद्गीथादिसम्बन्धित्वेनोपादानादिति चेन्न । कुतः ? अपूर्वत्वात् । जुह्वादिविधिवदुद्गीथमुपासीतेतिप्रकरणान्तरगतस्योद्गीथादिविधेरत्रासन्निधानात् । विधिशेषत्वासम्भवेन तत्स्तुतिपरत्वानुपपत्तेः । उद्गीथाद्युपासनानां रसतमत्वादिगुणानाञ्चापूर्वत्वात् प्रमाणान्तराप्राप्तत्वाद्यागादिवद्विधेयत्वमेवेति ॥३।४।२१॥

भावशब्दाच्च ॥३।४।२२॥

"उद्गीथमुपासीत' 'सामोपासीत' इत्यादिविधिशब्दाच्चकारादपूर्वत्वाच्च विधेयत्वमेवेत्युपासनाविधानार्था एता उद्गीथाद्याः श्रुतयः ॥३।४।२२॥

इति स्तुतिमात्राधिकरणम् ।

अथ पारिप्लवार्थाधिकरणम् ।

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥३।४।२३॥

वेदान्तेषु "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासि" (कौ० ३।१।) "अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतु" (बृ० ४।५।१) इत्येवमाद्या आख्यायिका. श्रूयन्ते। ता किं पारिप्लवार्था आहोस्विन्सन्निहितविद्यास्तुत्यर्था इति सशये किं युक्तम् ? पारिप्लवार्था इति। अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृताय राज्ञे यदनेकप्रकारककथाकथन तत्पारिप्लव शब्दवाच्यं भवति। 'आख्यानानि शसती'ति समेषामाख्यानानां पारिप्लवे विनियोगात्। इति प्राप्त उच्यते–इति चेन्नेति–नैव भवितु मर्हति। कुत ? विशेषितत्वात्। 'पारिप्लवमाचक्षीतेत्युपक्रम्य 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्याद्यश्वमेधयज्ञवाक्यशेषे कासाचित्कथानां पारिप्लवशेषत्वेन विशेषितत्वात्। अत औपनिषदकथाना न पारिप्लवशेषत्वम् ॥३।४।२३॥

तर्हि किमर्था औपनिषदकथा इत्यत आह––

तथा चैकवाक्योपबन्धात् ॥३।४।२४॥

एवं रीत्या पारिप्लवार्थत्वाभावे सत्येकवाक्यतोपबन्धात्। औपनिषदाख्यायिकाना "आत्मावारे द्रष्टव्य श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य" (बृ० ४।५।६।) इत्यादिविधिनैकवाक्यत्वदर्शनाद्विद्यास्तुतिपरत्वेन विद्यासौकर्यार्थत्वावगमाद्विधिसन्निधिपठिततत्तद्विद्याशेषत्वमेवेति सिद्धम् ॥३।४।२४॥

इति पारिप्लवार्थाधिकरणम् ।

(*अथाग्नीन्धनाद्यधिकरणम्*)

पुरुषार्थोत शब्दादित्यधिकरणे विद्याया स्वातन्त्र्य प्रदर्श्य तत्प्रसङ्गेन प्राप्त विचार परिसमाप्य पुरुषार्थाधिकरणस्य फलमाह–

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥३।४।२५॥

किं ब्रह्मविद्याया स्वफलब्रह्मप्राप्तौ शेषत्वेन यज्ञादिकर्मणामपेक्षास्ति आहोस्विन्नेति सशये अस्तीति पूर्व पक्ष । कुत ? "तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन । इत्यादि श्रुतेरिति प्राप्तेऽभिधीयते—अत एवेति । ब्रह्मविद्याया स्वातन्त्र्येण ब्रह्मप्राप्तिरूपपुरुषार्थहेतुत्वादेवाग्नीन्धनादिसाध्यय ज्ञादिकर्मापेक्षा नास्ति । आदिपद कर्मसाधनभूतान्नघृतादिपरम् । विविदिषायामेव यज्ञादिकर्मणा विनियोगश्रवणात् । निष्पन्नाया ब्रह्मविद्याया प्रयोजनाभावाद्, यज्ञादीनामन्वयो नास्तीत्यर्थ । ॥३।४।२५॥

इत्यग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ।

अथ सर्वापेक्षाधिकरणम् ।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥३।४।२६॥

किं ब्रह्मविद्याया स्वोत्पत्तौ यज्ञादिकर्मणामपेक्षास्ति न वेति सशये यथा ब्रह्मविद्याया स्वफले मोक्षे यज्ञादिकर्मापेक्षा नास्ति तथा स्वोत्पत्तावपि न कर्मापेक्षेति प्राप्तेऽभिधीयते—सर्वापेक्षेति— विद्याया –स्वोत्पत्तौ सर्वेषामाश्रमकर्मणामपेक्षास्ति । कुत ? यज्ञादि श्रुते । 'तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' 'यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति वेदानुवचनेन ब्रह्मचारिण यज्ञेन दानेन गृहस्थास्तपसा वानप्रस्था अनाशकेन चतुर्थाश्रमिण इति सर्वेषा

ब्रह्मचर्याद्याश्रमकर्मणां ब्रह्मविद्योत्पत्तिसाधनत्वश्रवणात्। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकान्तःकरणमालिन्यनिवृत्त्यादिपरम्परया ब्रह्मज्ञानस्य यज्ञादिजन्यत्वेन यज्ञादीनां ब्रह्मविद्योत्पत्तिसाधनत्वमवगम्यते। विविदिषन्तीत्यत्र वर्तमाननिर्देशेऽपि विधिः कल्प्यते। विविदिषासन्निधानात् यज्ञादीनां बहिरङ्गत्वम्। यथा विद्योत्पत्तौ कर्मापेक्षा तथा विद्याफलभूते मोक्षेऽपि स्यादित्यत आह—अश्ववदिति। यथाऽश्वो योग्यताबलाद्रथचर्यायां विनियुज्यते न लाङ्गलाकर्षणादौ। तथा योग्यताबलात्कर्माणि ज्ञानोत्पत्तावुपयुज्यन्ते न मोक्षे योग्यताभावादिति ॥३।४।२६॥

इति सर्वापेक्षाधिकरणम्।

अथ शमदमाद्यधिकरणम्।

शमदमाद्युपेतःस्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥३।४।२७॥

यज्ञादीनां ज्ञानोत्पत्तौ बहिरङ्गत्वमुक्त्वा शमादीनामन्तरङ्गत्वमुच्यते। किं विद्यानिष्पत्तये गृहस्थैः शमादयोऽनुष्ठेया नवेति संशये गृहस्थानां करणव्यापाररूपकर्माङ्गत्वेन तदनुष्ठानपरत्वात्कर्मासक्तमानसैर्गृहस्थैः कर्मानुष्ठानविपरीतशमाद्यनुष्ठानासम्भवात्। ऊर्ध्वरेतस्सु च शमादिविनियोगस्य चोपपत्तेर्गृहस्थैरननुष्ठेयाः शमादय इति प्राप्तेऽभिधीयते—शमाद्युपेतस्स्यादिति। यद्यपि गृहस्थः यज्ञादिकर्मसु विनियुक्तत्वेन तदासक्तस्तथापि मुमुक्षुर्ब्रह्मविद्यार्थी गृहस्थो यज्ञाद्यनुष्ठानविशिष्टकाले शमाद्युपेतः स्यादेव। कुतः? तदङ्गतया तद्विधेः। "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृ० ४।४।२३) इति सामान्येन

विद्याङ्गतया तेषां शमादीनां विधानात्। विहितानां चैषामवश्यानुष्ठेयत्वात्। यथा यज्ञादीनां बहिरङ्गानां विद्योत्पत्तिहेतुत्वेनानुष्ठानां तथा 'तस्मादेवंविदि' ति विद्यासान्निध्याच्छमादीनामपि विद्योत्पत्त्यन्तरङ्गसाधनत्वेनावश्यानुष्ठेयत्वादिति ॥३।४।२७॥

इति शमदमाद्यधिकरणम् ।

अथ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥३।४।२८

बृहदारण्यके श्रूयते–प्राणविद्यायां "न ह वास्यानन्नं जग्धं भवति (बृ० ६।१।१४) इति। अस्य प्राणोपासकस्य सर्वं पदार्थजातं मनन्नमनदनीयं न भवति किन्त्वदनीयमेव भवतीत्यर्थः। तत्र संशयः। किमियं प्राणोपासकस्य सर्वान्नानुमतिः सर्वदा आहोस्वित्प्राणात्ययापत्तावेवेति किं युक्तम्? अविशेषश्रवणात्सर्वदेति प्राप्तेऽभिधीयते—सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यय इति। प्राणात्यय एव परस्यामापदि विद्वांसमविद्वांसं प्रति सुरावर्ज्यं सर्वमन्नमदनीयत्वेनानुमतं नानापदि। कुतः? तद्दर्शनात्। श्रूतावापत्काले प्राणात्यये चाक्रायणप्रभृतेरभक्ष्यभक्षणत्वदर्शनात्। तथा हि–मटचीहतेषु कुरुषु दुर्भिक्षे जाते क्षुत्तृड्भ्यां पीडितः सभार्यश्चाक्रायण उषस्तिर्ब्रह्मविद्भ्रमन् कदाचिद्धस्तिपालकदेशमाश्रितोऽनशनेन प्राणसंशयमापन्नो हस्तिपालकेन प्रदत्तान् तदुच्छिष्टान् कुल्माषान् भक्षितवान्। पुनरनुपानायहस्तिपालकेनोक्ते 'उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादि' ति प्रतिषेधः कृतः। पुनश्चैते कुल्माषा नोच्छिष्टा इतीभ्येन पृष्टे नेत्याह चाक्रायणस्तत्र हेतुमभिदधौ। कुल्माषभक्षणं यद्यहं न कुर्यां तर्हि मे जीवनमेव न स्यादुदपानन्तु तडागादिषु स्यतो भविष्यतीति स्पष्टमेतच्छान्दोग्योपनिषदः प्रथमस्य दशमखण्डे। तस्मात्प्राणात्ययापत्तौ विदुषा

सर्वान्ननुमतिदर्शनात् प्रकृते प्राणोपासकस्य सर्वदा सर्वान्नानुज्ञानं तत्स्तुत्यर्थतयार्थवादमात्रम् ॥३।४।२८॥

अबाधाच्च ॥३।४।२९॥

इतश्च नानापदि सर्वान्नीनत्वं ब्रह्मविदः। "आहार शुद्धौ सत्व-शुद्धि सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति." इत्याहारशुद्धिविधेरबाधाच्च न सर्वदा सर्वान्नानुमतिः किन्तु प्राणात्यय एव ॥३।४।२९॥

अपि च स्मर्यते ३।४।३०॥

अपि च प्राणसंशय एव सर्वान्नीनत्वं स्मर्यते तत्वविदाम्। "प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्तत। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा" इति ॥३।४।३०॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥३।४।३१॥

यतः सर्वान्नीनत्वमापद्विषयकमेव विदुषामतः कामकारे स्वेच्छाचारे प्रतिषेधकः शब्दोऽस्ति "तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेदि"ति कठसंहितायाम्। तस्मात्प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नानुमतिरिति सिद्धम् ॥३।४।३१॥

इति सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्।

(*अथ विहितत्वाधिकरणम्।*)

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥३।४।३२॥

सर्वापेक्षेत्यादिसूत्रे यज्ञादीनां विद्याङ्गत्वमुक्तम्। इदानीं तानि यज्ञादीनि कर्माणि किममुमुक्ष्वाश्रमस्याङ्गभूतान्युत नेति संशये केवलाश्रमस्याप्यङ्गत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधः स्यादिति न केवलाश्रमधर्मत्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते—विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापीति। केवल-

गृहस्थाश्रमिणाप्यनुष्ठेयानीति । कुत ? 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना मुमुक्षूणामपि जीवननिमित्ततया विहितत्वात् । एकेनैव कर्त्रैकेनैव विनियोगेनोभयाङ्गत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोध उपपद्यते । इह तु यावज्जीवमित्यमुमुक्ष्वधिकारत्वात् 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेने'ति मुमुक्ष्वधिकारत्वाद्विनियोगपृथक्त्वेन न विरोध ॥३।४।३२॥

नन्वेवं यज्ञादिकर्मणाममुमुक्ष्वनुष्ठेयत्वे मुमुक्ष्वनुष्ठेयत्वं न स्यादित्यत आह—

सहकारित्वेन च ॥३।४।३३॥

'तमेत'मित्यादिश्रुत्या यज्ञादीनां विद्यार्थत्वेन विहितत्वात् सत्वशुद्धिद्वारा विद्यासहकारित्वेन मुमुक्षुणाऽपि तान्यनुष्ठेयानीत्यधिकारभेदप्रदर्शनेनोक्तविरोध परिहृत सूत्रकारेण। यथा 'खादिरो यूपो भवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य' इत्येकस्यैव खादिरत्वस्य शास्त्रद्वयात् क्रत्वर्थत्वेन नित्यस्य वीर्यार्थत्वेनानित्यत्वञ्च विरुध्यते तथेहाऽपि ॥ ३।४।३३ ॥

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ॥३।४।३४॥

सर्वथापि नित्यत्वेन विद्यासाधनत्वेन चोभयत्र विनियोगभेदेऽप्यनुष्ठेया यज्ञादयस्त एवोभयत्र सङ्कल्पभेदेन फलत एव भेदो यज्ञादीनां न स्वरूपत इत्यर्थ । कुत ? त एवोभयलिङ्गात्—श्रुतिस्मृत्युभयलिङ्गात् । तत्र श्रुतिलिङ्गम्—"यज्ञेन विविदिषन्ती"ति । स्मृतिलिङ्ग तु—"यज्ञो दानं तपश्चैव न त्याज्य कार्यमेव तत्" इत्यादि ॥ ३।४।३४ ॥

अनभिभवञ्च दर्शयति ॥३।४।३५॥

"एष ह्यात्मा न नश्यति य ब्रह्मचर्येणानुविन्दते" इत्यादिश्रुति ब्रह्मचर्याद्याश्रमकर्मभि सत्त्वशुद्धिद्वारा विद्या प्राप्तस्यात्मनो

रागादिभिरनभिभवं दर्शयति । तस्मात् सर्वाश्रमनित्यकर्मणां विद्यासाधनत्वमिति ॥ ३।४।३५ ॥

इति विहितत्वाधिकरणम् ।

(*अथ विधुराधिकरणम् ।*)

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३।४।३६॥

आश्रमानन्तरा वर्तमानो विधुरादिरनाश्रमी । तस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति न वेति संशये 'यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इत्याश्रमकर्मणामेव विद्यासाधनत्वश्रवणादनाश्रमिणां न तत्राधिकार इति प्राप्तेऽभिधीयते—अन्तरेति । आश्रममन्तरा वर्तमानस्य विद्यायामस्त्येवाधिकारः । कुतः ? तद्दृष्टेः । श्रुतावनाश्रमिणामपि रैक्वभीष्मसंवर्तवाचक्नवीप्रभृतीनां विद्यानिष्ठत्वदर्शनात् । आश्रमानाश्रमसाधारणैर्जपोपासनादिभिरेवानाश्रमिणामपि विद्यानुग्रहो भवतीत्यतोऽस्त्येव विधुराणामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारस्तेनस्तेषां मोक्षसिद्धिरिति । सूत्रे च शब्दोऽवधारणे तु शब्दश्च पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः ॥ ३।४।३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥३।४।३७॥

जप्येनापि च संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥मनु २।८७॥
इत्यनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यासिद्धिः स्मर्यते॥३।४।३७॥

विशेषानुग्रहश्च ॥३।४।३८॥

'तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यात्" (प्र १।१०) इत्यनाश्रमनियतैर्धर्मैर्विद्याविशेषेणानुग्रहः श्रूयते ॥३।४।३८॥

कस्तर्ह्युभयोर्विशेष इत्याशङ्क्याह—

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥३।४।३९॥

तुशब्दश्चोद्यनिवर्तकः । अतोऽनाश्रमित्वादितरदाश्रमित्वं ज्यायः । बहुज्ञानसाधनाधिकारित्वाद्धर्मभूयस्त्वाज्ज्यायः । शीघ्रमेव विधो पत्न्यन्तराश्रमवत स्यादितिभावः । लिङ्गाच्च—"अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः ।" "संवत्सरमनाश्रमीस्थित्वा कृच्छ्रमेव चरेत्" इत्याद्यनाश्रमिण आश्रमग्रहणोपदेशपरस्मार्तलिङ्गादनाश्रमिण आश्रमित्वं ज्यायः ॥३।४।३९॥

इति विधुराधिकरणम् ।

(अथ त ताधिकरणम् ।

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ॥३।४।४०॥

एवमनाश्रमिणो गार्हस्थ्यविधुरस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीत्यभिहितम् । इदानीं नैष्ठिकवानप्रस्थपरिव्राजकानां स्वाश्रमेभ्य प्रच्युतानां कर्माणि विद्यासाधनानि सन्ति न वेति विषये तेषामपि कानिचिज्जपादिरूपकर्माणि विद्यासाधनानि विधुरकर्मवत्स्युरिति प्राप्तेऽभिधीयते—तद्भूतस्य तु नातद्भाव इति । मम सम्मतं जैमिनेरपि सम्मतमितिभावः । कुतः ? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात् । नैष्ठिकादिधर्माभावात्तेभ्यः शास्त्रैर्नियमनात् "ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासीतृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" (छा० २।२३।१।) इति नैष्ठिकस्य नियमात् । "अरण्यमियात्ततो न पुनरेयात्" इति वैखानसस्य । तथा "सन्न्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत्" (यजु का) इति

परिव्राजकस्य नियमात्। तस्मादनाश्रमित्वेनावस्थानस्य नैष्ठिकादेर प्रमाणिकत्वान्न तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकार ॥३।४।४०॥

यदि प्रमादान्नैष्ठिकादे स्वधर्मात्प्रच्यवस्तर्हि तत्प्रायश्चित्तमस्ति न वेति संशये नास्तीति पूर्वपक्षयति—

नचाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥३।४।४१॥

नैष्ठिकादीनामधिकारे यत्प्रायश्चित्तमभिहितं तदपि नैष्ठिकस्यावकीर्णिनो न सम्भवति। कुत ? पतनानुमानात्तद्योगात्। स्वाश्रम धर्मप्रच्युताना नैष्ठिकादीना पतनस्मरणात् पतितानाञ्च प्रायश्चित्तस्यायुक्तत्वात्। "आरूढो नैष्ठिक धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विज। प्रायश्चित्त न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा" इति। तस्मादुपकुर्वाणब्रह्मचारिविषयमाधिकारिक प्रायश्चित्तमिति ॥३।४ ४१॥

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥३।४।४२॥

अस्य महापातकत्वाभावेन न प्रायश्चित्ताभाव। यत एक आचार्या उपपूर्वमुपपदपूर्वकमुपपातकमेवेद मन्यन्ते। गुरुदारादि व्यतिरिक्तगमनवत उपकुर्वाणस्येव नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्त मन्यन्ते। उभयोर्ब्रह्मचारित्वेनावकीर्णित्वस्य समानत्वात्। दृष्टान्तमाह— अशनवदिति। यथा निषिद्धे मध्वशनादौ कृते प्रायश्चित्तेन शुद्धिस्त द्वदित्यर्थं। उपकुर्वाणस्य ब्रह्मचारिण उक्तमाधिकारिक प्रायश्चित्त नाधिकारीणामपि भवतीत्याह—तदुक्तमिति। "उत्तरेषा चैतद् विरोधी" (गौ० १।३।४) ति स्मृतिकारैरुपकुर्वाणब्रह्मचार्यर्थं मुक्तमेतत् ॥३।४।४२॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥३।४।४३॥

तुशब्द पूर्वमत निवर्तयति। नैष्ठिकादीना स्वाश्रमात्प्रच्युति रुपपातक महापातक वेत्युभयथापि कृतप्रायश्चित्ता अकृतप्रायश्चित्ता

वेत्युभयथापि ब्रह्मविद्याधिकारिभ्यो बहि.कर्तव्या एव। कुतः ? स्मृतेः। "प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा" (आग्नेय १६।५।२३) इति। आचाराच्च–अवकीर्णिना सह शिष्टानामध्ययनाद्याचाराभावाच्च। तस्मान्नाधिकारः स्वाश्रमधर्मभ्रष्टाना नैष्ठिकादीनां ब्रह्मविद्यायामिति सिद्धम् ॥३।४।४३॥

इति तद्भूताधिकरणम्।

अथ स्वाम्यधिकरणम्।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥३।४।४४॥

किमङ्गाश्रितोपासनानि यजमानानुष्ठेयान्याहोस्विदृत्विगनुष्ठेयानीति संशये किं युक्तम् ? य कर्त्ता स फलभोक्तेति न्यायमनुसृत्य पूर्वपक्षमाह–स्वामिन इति। स्वामिनो यजमानस्यैवाङ्गाश्रितोपासनान्यनुष्ठेयानि। कुत ? तस्यैव फलश्रुतेरित्यात्रेय आचार्यो मन्यते ॥३।४।४४॥

अत्र समाधत्ते—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ॥३।४।४५॥

ऋत्विगधिकृतस्यैवास्मिन्नुपासनेऽधिकारात् क्रतोरार्त्विज्यत्वेनैव तदङ्गोपासनमप्यार्त्विज्यमृत्विक्कर्तृकमेवेत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। यजमानफलसाधनभूतस्य साङ्गस्य क्रतोर्निष्पादनाय यजमानेनर्त्विक् परिक्रियते। अतो यजमानपरिक्रीतर्त्विगनुष्ठितस्य कर्माङ्गाश्रितोपासनस्य फलं यजमानगामि भवतीति फलश्रुतेरप्यविरोध. ॥३।४।४५॥

इति स्वाम्यधिकरणम्।

अथ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥३।४।४६॥

बृहदारण्यके श्रूयते—"तस्माद् ब्राह्मण पाण्डित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनञ्च मौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मण॰" (बृ० ३।५।१) इति । तत्र मौन विधीयते नवेति विषय । पूर्वतने वाक्ये बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्रैव विधि समाप्तावत्र मौन न विधीयते किन्तु पाण्डित्य निर्विद्येति विहितस्या यमनुवाद: । मौनपाण्डित्यशब्दयोश्च ज्ञानाभिधायकत्वादिति पूर्व पक्षः ।

अत्रोच्यते—सहकार्यन्तरविधिरिति । यद्यपि यज्ञादिवद्ब्राह्मक्र णैनिदिध्यासनमननुष्ठयं तथापि मानसजपादिवद्ब्रह्मासकृच्चिन्तनरूप स्य निदिध्यासनस्यान्त:करणधर्मत्वेन सम्भवत्येवात्र मौनस्य विधानम् । एवञ्चात्र पाण्डित्यं बाल्य मौनञ्चेत्येतत्त्रितयमपि ब्रह्म-विद्याया सहकायन्तर विधीयते विध्यादिवत् । विधीयत इति विधि. । यज्ञदानादिक आश्रमधर्म । आदिपदेन श्रवणमननयो ग्रहणम् । तद्वतोऽध्ययनजब्रह्मसामान्यज्ञानवत श्रवणमननवतो वा तद्विशेषज्ञानप्राप्तावाश्रमधर्मवच्छ्रवणमननवच्च फलभूतब्रह्मसाक्षा दर्शने श्रवणमननद्वयापेक्षया तृतीयमिद सहकार्यन्तर निदिध्यास नात्मक मौनमपूर्व विधीयते । विद्यासहकारितयार्थप्राप्तयोरपि श्रवणमननयोर्यथा 'श्रोतव्यो मन्तव्य'इत्यत्र ग्रहणम् । तथात्रापि सह-कार्यन्तरविधाने निदिध्यासनमेव विधीयत इत्यत आह—पक्षेणेति । निदिध्यासनपदस्य निरन्तरब्रह्मचिन्तनापरपर्यायस्य पक्षेण श्रवण-मननाभ्यामत्यन्तोत्कृष्टत्वम् । अत एव पाण्डित्याद्भिन्नमेव मौनमत्र विधीयते । तत्र पण्डा शास्त्राध्ययनजा शास्त्रीया ब्रह्मसामान्यधी

स्तद्वान् पण्डितस्तत्कृत श्रवण पाण्डित्य तन्निर्विद्य निश्चयेन प्राप्य बाल्येन बालभावेन ज्ञानबलभावेन मननेन स्थातुमिच्छेत् । बाल्यञ्च पाडित्यञ्च निर्विद्याथ मुनि मननशीलो ब्रह्मैकचिन्तनशीलस्तन्नि दिध्यासनपरो भवेत् । अमौनञ्च श्रवणमनने मौनञ्च निदिध्यासन तन्निर्विद्य तत्सिद्धावस्थाम्प्राप्याथ ब्राह्मणो भवतीत्यर्थ । ब्राह्मण श्रवणमननानन्तर निदिध्यासनपरो भवेदिति भाव ॥३।४।४६॥

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसहारः ॥३।४।४७॥

तुशब्द शङ्काव्यावर्तक । कृत्स्नभावात्–सर्वेष्वाश्रमेषु विद्याया सम्भवात् सर्वेऽप्याश्रमिण स्वाश्रमकर्मानुष्ठान कुर्वन्त परमात्मान चिन्तयन्त कैमुत्यन्यायेन ब्रह्मलोक सम्पद्य न पुनरावर्तन्त इत्यस्या र्थस्य प्रदर्शनार्थं गृहस्थधर्मेणोपसहार इति ॥३।४।४७॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥३।४।४८॥

"तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीय" "ब्रह्म सस्थोऽमृतत्वमेति" इत्यत्र 'अथ मुनिरित्यत्र च वाक्ये पुत्रैष णायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चर न्ति" (बृ० ३।५।१।) इति परिव्राजकधर्मेणोपसहार सर्वाश्रमधर्म प्रदर्शनाथ । कुत ? मौनाद्विवदितरेषामप्याश्रमधर्माणा यज्ञदानतप आदीनामुपदेशात् ॥३।४।४८॥

इति सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ।

अथानाविष्काराधिकरणम् ।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥३।४।४९॥

"तस्माद्ब्राह्मण पाण्डित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" (बृ० ३।५।१।) इत्यत्र ब्रह्मविदा स्वस्मिन्बाल्यमाविष्करणीयमिति

श्रूयते। तत्र बालस्य क्रीडनादिकं सर्वं कर्म विदुषोपादेयमाहोस्विन्न दम्भमानादिरहितत्वमेव विशेषकर्मेति संशयेऽविशेषादखिलं बालकर्मोपादेयमितिप्राप्तेऽभिधीयते—अनाविष्कुर्वन्निति। यथा बाल भावशुद्धिपूर्वकं स्वाभिज्ञानादिकमनाविष्कुर्वन् मानापमानौ परिहाय वर्तते तथा विदुषा वर्तितव्यम्। तदेव तस्य कर्म चोपादेयं न तु शौचाचाराराहित्यं विण्मूत्रोचारादिकर्मापि। कुतः ? अन्वयात्। विद्यानुकूलानामेव बालकर्मणामन्वयात्। शौचाचाराराहित्यादीनान्तु विद्या विरोधितयाऽनन्वयात्। तथाच श्रुतिः 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" (का. २।२४।) इति ॥३।४।४९॥

इत्यनाविष्काराधिकरणम्।

अथैहिकाधिकरणम्।

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥३।४।५०॥

किं विद्योत्पत्तिरिहैव जन्मन्युतामुष्मिन्नपीति संशये किं युक्तम् ? इहैव जन्मनि विद्या ममास्त्विति कामनया श्रवणादिषु प्रवृत्त्यैहिकमेव विद्याजन्मेति प्राप्तेराह—ऐहिकमपीति। विद्यार्थमनुष्ठितं फलोन्मुखं कर्म श्रवणं मननं च प्रस्तुतमित्युच्यते। तेन कर्मणा श्रवणादिना च प्रतिबन्धाभावे सत्यैहिकं विद्याजन्म भवति। प्रतिबन्धे सति त्वमुत्रापीत्यनियम एव नत्विहैवेति नियमः। कुतः ? तद्दर्शनात्। श्रुतौ प्रतिबन्धाप्रतिबन्धाभ्यामनियमस्य दर्शनात्। गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिबुबुधे ब्रह्मभावमिति जन्मान्तरानुष्ठितस्य कर्मणः श्रवणादेः फलं जन्मान्तरे दर्शयति। सतिप्रतिबन्धे तु विद्योत्पत्तिर्दुर्लभा ॥३।४।५०॥

इत्यैहिकाधिकरणम्।

अथ मुक्तिफलाधिकरणम् ।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥३।४।५१॥

किं विद्यायामुत्पन्नायामिहैव जन्मनि मुक्तिर्जन्मान्तरे वेति संशये विद्योत्पत्तौ सत्यामिहैव मुक्तिर्भवतीति प्राप्तेराह—एवं मुक्तिफलानियम इति । यथा श्रवणादिक्रमेणा पौष्कल्ये इहैव विद्याजन्म भवति नान्यथा । तथा सततस्मृतिरूपायां विद्याया सत्यामिहैव जन्मनि ब्रह्मप्राप्तिरूपा मुक्तिरुपपद्यते । अन्यथा जन्मान्तरेऽपि सम्पद्यते । अतोऽनियम । कुतः ? तदवस्थावधृतेः । "सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीना विप्रमोक्ष-" (छा० ७।२६।२) इति ध्रुवाया स्मृतेरेव कर्मबन्धविमुक्तिहेतुत्वावधारणादिति सर्वमनवद्यम् । अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥३।४।५१॥

इति मुक्तिफलाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तसगुणपुरुषतस्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धनायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृते
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीपे श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे तृतीयाध्यायस्य
चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीतस्य शारीरकमीमांसाया श्रीजानकी-कृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः

अथावृत्त्यधिकरणम् ।

पूर्वस्मिन्नध्याये ससाधनाया विद्याया विचार कृत । अथास्मिन्नध्याये विद्यास्वरूपनिरूपणपूर्वक विद्याफलपुण्यपापाश्लेषविनाशपूर्वक परब्रह्मप्राप्तिलक्षण चिन्त्यते ।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥४।१।१॥

"आत्मा वारे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्य " (बृ० ४।५।६) "ब्रह्म वेद ब्रह्मेव भवति" (मु० ३।२ ९) 'यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णम्" (मु० ३।१।३) "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" (श्वे० ३।८) इत्यादिष्वौपनिषद्षु वाक्येषु ब्रह्मप्राप्तिसाधनतयाविहित ध्यानवेदनादिक किं सकृदेव कर्तव्यम् आहोस्वित्तस्यावृत्तिरिति सशये सकृत्कर्त्तव्यम् । कुत ? ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मवेदनमात्रस्य तत्प्राप्तिहेतुत्वश्रवणात् । अतो ज्योतिष्टोमादिवद्यथाश्रुत सकृदेवकर्तव्यमितिप्राप्तेऽभिधीयते—आवृत्तिरसकृदुपदेशादिति । ध्यानवेदनाद्यभिहितस्यावृत्ति कर्तव्या । कुत ? असकृदुपदेशात् । "निदिध्यासितव्य " (बृ० ४।५।६।) इति याज्ञवल्क्येनात्मदर्शन साधनत्वेनासकृद्ध्यानकर्तव्यत्वोपदेशात् । निदिध्यासनपदस्या सकृद्ध्यानार्थकत्वात् । असकृन्निदिध्यासनमन्तरेण परमात्मसाक्षात्कारानुपपत्ते । "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीना विप्रमोक्ष " (छा० ७।२६।२।) इत्यत्र सर्वग्रन्थिविप्रमोक्षहेतुत्वेन श्रुताया ध्रुवस्मृतेरपि ध्रुवत्वमचलत्व तैलधारावदविच्छिन्नत्वमन्यथानुपपद्यमानं स्मृते सातत्यमुपपाद्य तदावृत्तिं ज्ञापयति ।

उपास्यविषयिणी स्मृतिरेव तत्र तत्रोपासनवेदनादिपदैरभिधीयते। वेदनोपासने च समानप्रकरणाधीतत्वात्समानार्थके एवेत्यावृत्ति कर्तव्येति ॥४।१।१॥

लिङ्गाच्च ॥४।१।२॥

इतश्च वेदनादरावृत्तिर्विधेया। यत स्मृतरयमर्थोऽवसीयते। "अनन्यचेता सतत यो मां स्मरति नित्यश । तस्याह सुलभ पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन ।" (गी०) "तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमै षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा ।" (वि० पु० ६।७।९१) इत्यादिका स्मृतिरप्यसकृदावृत्तिमेव वेदनादे रवगमयतीति ॥४।१।२॥

इत्यावृत्त्यधिकरणम् ।

अथात्मत्वोपासनाधिकरणम् ।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥४।१।३॥

तुशब्दोऽवधारणार्थक । उपासकेन स्वात्मतयैवोपास्य ब्रह्म। यथा स्वीयशरीरस्यात्मोपासिता प्रत्यगात्मा तथोपासितुरप्यात्मा ब्रह्मेति ममात्मा ब्रह्मत्येवमुपासीतेति तदर्थं । कथमवगम्यते ? उपगच्छन्त्येवमेव पूर्वतना समुपासका । 'त्व वा अहमस्मि भगवो देवते अह वै त्वमसि' इत्युपासकस्य स्वरूपेण स्वभावेन भिन्नमपि ब्रह्माहमित्येवोपासका अभ्युपगच्छन्तीति । कथञ्च तदभ्युपगम इत्याह ग्राहयन्ति चेति । एवमेव श्रुतय उपासकानवबोधयन्ति। "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीर य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" (बृ० ३।७। २२) इत्यादिश्रुतयस्सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगत शरीरतया

परमात्मनश्च तदात्मतया प्रतिपादयन्ति । यथा स्वशरीरं प्रति प्रत्यगात्मन आत्मत्वात् 'देवोऽहम्' 'मनुष्योऽह'मित्यनुसन्धानं तथा परमात्मनोऽप्यात्मत्वादहमित्येवानुसन्धानम् । एतच्च "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ० १।४।१०) इत्याद्यनेकश्रुतिभिरुपपादितम् ॥४।१।३॥

इत्यात्मत्वोपासनाधिकरणम् ।

अथ प्रतीकाधिकरणम् ।

न प्रतीके न हि सः ॥४।१।४॥

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छा० ३।१८।१) इत्येवमादिप्रतीकोपासनेषु संशयः । किं प्रतीके मनआदावात्मत्वबुद्धिः कर्तव्या, आहोस्विन्नेति । तत्र सर्वासूपासनासूपासनत्वसाम्याद् ब्रह्मणश्च स्वात्मत्वान्मनो ब्रह्मेति वचनेन मनआदीनां ब्रह्मरूपत्वादुपासकस्यात्मभूतब्रह्माभिन्नत्वान्मनआदावात्मबुद्धिः कर्तव्येति प्राप्तेऽभिधीयते-न प्रतीक इति । मनआदौ प्रतीके नात्मबुद्धिः कर्तव्या । तत्र हेतुर्न हि स इति । यतः स प्रतीको नह्युपासकस्यात्मा । प्रतीकोपासनेषु प्रतीकस्यैवोपासनमभिमतं न ब्रह्मणः । मनो ब्रह्मेति मनः सामानाधिकरण्येन ब्रह्मपदपाठस्तु मनआदौ ब्रह्मदृष्टिविशेषणार्थम् । अत्र प्रतीकोपासनं हि अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्या भावनम् ॥४।१।४॥

अथैवं मनसि ब्रह्मदृष्टिरुत ब्रह्मण्येव मनोदृष्टिः कर्तव्येत्यत्राह—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥४।१।५॥

ब्रह्मणो मनआदिभ्य उत्कृष्टत्वान्मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव साधीयसी । निकृष्टे अमात्यादावुत्कृष्टराजत्वादिबुद्धेः सफलत्वस्य

दृष्टत्वात्। शास्त्रं ततो ज्ञानस्यासामान्यदृष्टेर्हीनकरत्वाच्च। तस्मादपकृष्टेषु मन आदिषूत्कृष्टस्य ब्रह्मण एव दृष्टिः कर्तव्येति सिद्धम् ॥४।१।५॥

इति प्रतीकाधिकरणम्।

अथादित्यादिमत्यधिकरणम्।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥४।१।६॥

"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" (छा० १।३।१।) इत्यादिषु कर्माङ्गोपासनेषु संशयः। किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः कार्या, आहोस्विदुद्गीथादिषु कर्माङ्गेष्वादित्यादिदृष्टिरिति। तत्र पूर्वतन्न्यायेनोत्कृष्टदृष्टिर्निकृष्टे कर्तव्येति नियमादुद्गीथादीनां कर्मरूपत्वेन फलवत्त्वादफलेभ्य आदित्यादिभ्य उत्कृष्टत्वादादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिरिति प्राप्तेऽभिधीयते—आदित्यादिमतयश्चाङ्ग इति। चोऽवधारणार्थे। अङ्गे कर्माङ्ग उद्गीथादावादित्यादिमतय एव कर्तव्याः। कुतः? उपपत्तेः। यथा प्रोक्षणादिना संस्कृतेषु व्रीह्यादिषु प्रकृतेन कर्मणापूर्वस्य फलमुत्पद्यते। तथादित्यादिदेवतादृष्टिभिः संस्कृतेषु कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु प्रकृतस्य कर्मणः फलाधिक्यलक्षणा समृद्धिरुत्पद्यते। आदित्यादिदेवताराधनेन कर्मणा फलजनकत्वमन्यथा नेति, अत आदित्यादिदृष्टिरेवाङ्गादिष्विति ॥४।१।६॥

इत्यादित्यादिमत्यधिकरणम्।

अथासीनाधिकरणम्।

आसीनः सम्भवात् ॥४।१।७॥

पूर्वत्र मोक्षसाधनतया यदुपासनं वेदनध्याननिदिध्यासनादिपदबोध्यं विहितं तत्तिष्ठन्नासीनः शयानो गच्छन् वाऽनियमेनानु-

तिष्ठेदुत नियमेनासीन एवेति संशये मनोधर्मत्वादुपासनस्य शरीरस्थितेरनियम इति प्राप्तेऽभिधीयते । आसीन इति । आसीन एवोपासनं विदध्यात् । कुत ? सम्भवात् । समानप्रत्ययपरम्परालक्षणस्योपासनस्यासीन एवोपासके सम्भवात् । नहि तिष्ठत पुनः सम्यगुपासनं सम्भवति शरीरधारणप्रयोजकप्रयत्नापेक्षया चित्तविक्षेपात् । न वा गच्छतोऽनेकधा वस्तुदर्शनेन चित्तस्य चाञ्चल्यात् । शयानस्य निद्राप्रसङ्गात् । तस्मान्नासाग्रदृष्टिः सन्नासीन एवोपासनं कुर्यात् ॥४।१।७॥

ध्यानाच्च ॥४।१।८॥

"निदिध्यासितव्यः" (बृ ४।५।६।) "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मु) इत्यादिश्रुतिभ्य उपासनस्य ध्यानरूपत्वात् ध्यानस्य च विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहलक्षणस्यानन्यचेतस्त्वेन ब्रह्मैकसततचिन्तनात्मकस्यासीनेष्वेव सम्भवादासीन एवोपासीतेति इति ॥४।१।८॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥४।१।९॥

"ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्याः" (छा ७।६।१।) इत्येवमादीना श्रुत्युक्ताना ध्यानोपचारवता पृथिवीपर्वतादीना यदचलत्वं दृश्यते तदपेक्ष्य ध्यायमानस्याचलत्वमावश्यकम् । तच्चासीनस्यैव सम्भवति । तस्मादासीन एवोपासीतेति ॥४।१।९॥

स्मरन्ति च ॥४।१।१०॥

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ गी० ६।११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ गी० ६।१२॥

इत्यासीनस्यैव परमात्मन योगाख्य ध्यान स्मर्यते ॥४।१।१०॥
तच्च ध्यानमासीनेन कुत्रदेशे कदा कर्तव्यमित्यत आह—

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥४।१।११॥

यत्र देशे काले वा चित्तस्यैकाग्रता सजातीयप्रत्ययप्रवाहोन्मुखता भवेत्तत्रैवोपासीत। कुत ?। प्राच्यादिदिशो नदीतीरादिदेशस्य ब्रह्ममुहूर्तादिकालस्य च विशेषरूपेणाश्रवणात्। "समे शुचौ शर्कराविह्निवालुकाविवर्जिते" इति वचनन्तु चित्तस्यैकाग्रतानिरूपकमेव देशमभिधत्ते ॥४।१।११॥

इत्यासीनाधिकरणम् ।

अथाप्रायणाधिकरणम् ।

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥४।१।१२॥

एतन्मोक्षसाधनमुपासनमेकस्मिन्नेवाहन्यनुष्ठेयमाप्रायणादहरहर्वेति विषये "अन्तकाले तु मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। य प्रयाति स मद्भाव याति नास्त्यत्र सशय ॥" इत्युक्ते देहत्यागादावेकस्मिन्नेवाह्नीति प्राप्तेऽभिधीयत–आप्रायणादिति। आमरणादावृत्यानुष्ठेयमुपासनम्। कुत ? तत्रापि हि दृष्टम्। उपासनमारभ्याप्रायणान्मध्ये च कालस्तत्रापि हि दृष्टमुपासनम् "स खल्वेव वर्तयन्यावदायुष ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" (छा० ८।१५।१) इत्याप्रायणमुपासनावृत्ति कर्तव्येति ॥४।१।१२॥

इत्याप्रायणाधिकरणम् ।

अथ तदधिगमाधिकरणम् ।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥४।१।१३॥

अतीतेन ग्रन्थेनावशिष्ट विद्यास्वरूपमेव विचारितम्। अथ तत्फलमिदानीं चिन्त्यते किं ब्रह्मविद्याप्राप्तस्य विदुष उत्तरपूर्वाघयोर सम्बन्धविनाशावुपपद्येते न वेति सशये नोपपद्येते। कुत ? "नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इत्यादिशास्त्रविरोधात्। इति प्राप्तेऽभिधीयते–तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशाविति। ब्रह्मविद्याप्राप्तौ तद्बलादुत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशा सम्भवत एव। कुत ? तद्व्यपदेशात्–व्यपदिशन्त्येवमेव श्रुतय। "यथा पुष्कर पलाश ·आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते" (छा० ४।१४।३।) इत्युत्तरस्याघस्याश्लेषम्। तथा "तद्यथेषीकातूल मग्नौ प्रोत प्रदूयेतैव हास्य सर्वे पाप्मान प्रदूयन्ते" (छा० ५।२४।३।) "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २।२।८) इति च पूर्वसञ्चितस्याघस्य विनाशञ्च व्यपदिशन्ति। न च "नाभुक्त क्षीयते कर्म" इत्यस्य विरोध इति वाच्यम्। तस्य च फलोत्पत्तौ दार्ढ्याभिधायकत्वात्। अश्लेषविनाशप्रतिपादकानाञ्च वचसा कर्मणि या फलोत्पत्तिशक्तिरस्ति तस्या विनाशसामर्थ्यमुत्पत्त्यवरोधसामर्थ्यञ्च विद्यायामस्तीत्यभिप्राय। एवञ्चोभयोर्भिन्नविषयत्वान्न विरोध ॥४।१।१३॥

इति तदधिगमाधिकरणम् ।

अथेतराधिकरणम् ।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥४।१।१४॥

उक्तन्याय पुण्याश्लेषविनाशेऽप्यतिदिशति–इतरस्याप्येवमिति। एव पापाश्लेषविनाशवत् पापादितरस्य पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशौ स्याताम् । पुण्यस्यापि विद्याफलमोक्षविरोधित्वेन दुष्कृतसाम्यात्। पुण्यविनाशस्यापि व्यपदेशाच्च—"तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते" (कौ० १।४।) "उभे हैवेष एत तरति" (बृ० ४।४।२२।) "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय" (मु०) इति। एव विदुष उत्तरपूर्वयो पुण्यपापयो शरीरान्तरहेतुभूतयोर्विद्याप्रभावणाश्लेषविनाशाभ्या प्रारब्धकर्मणश्च भोगेनैव क्षयाद्देहपातेऽवश्य मुक्तिरित्याह पाते त्विति । तु शब्दोऽवधारणार्थक ॥४।१।१४॥

इतीतराधिकरणम् ।

अथानारब्धकार्याधिकरणम् ।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधे. ॥४।१।१५॥

पूर्व ब्रह्मविद्यया पूर्वकर्मणा सर्वेषा विनाश उक्त । स किं प्रारब्धकर्मसहितानां भवत्युत प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तानामितिसन्देहे "क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे" इत्यविशेषेण सर्वकर्मणा क्षयश्रवणात्सर्वेषा कर्मणा क्षय इतिप्राप्तेऽभिधीयते । अनारब्धकार्ये इति । न आरब्ध न निष्पादित कार्यं शरीर याभ्या पुण्यपापाभ्या ते अनारब्धकार्ये अप्रवृत्तफले पूर्वे विद्योत्पत्ते पूर्वतने अनादिकालेन सञ्चिते पुण्यपापे । एवकार प्रारब्धकार्यव्यवच्छेदार्थ । न तु प्रारब्धकार्ये विद्यया विनश्यत इत्यर्थ । कुत ? तदवधे "तस्य तावदेव चिर

यावन्न विमोक्ष्ये अथ सपत्स्ये" (छा० ६।१४।२।) इतिदेहपातावधि श्रवणादित्यर्थ । तथा च 'तस्य तावदेवे' ति विशेषश्रुत्यनुसारेण 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी' त्यस्या अविशेषश्रुतेर्नयनात् प्रारब्ध कार्यव्यतिरिक्तयोरनादिसंचितपूर्वपुण्यपापयोर्विद्यया विनाश उप पद्यते न त्वारब्धकार्ययोरित्यवधेयम् ॥४।१।१५॥

इत्यनारब्धकार्याधिकरणम् ।

अथाग्निहोत्राद्यधिकरणम् ।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥४।१।१६॥

आदिना यज्ञदानतपसा ग्रहणम् । तेषा विद्यासाधनत्वश्रुते । पूर्व मनारब्धकार्याणा कर्मणा विद्यया विनाशोऽभिहित । इदानीमग्निहो त्रादिरूपाणा नित्यानामाश्रमधर्माणामप्यनारब्धकार्यत्वात्तेषा विद्यया विनाशो भवति नवेति सन्देहे । अनारब्धकार्यत्वाविशेषादग्निहोत्रा दीनामपि विद्यया विनाश स्यादिति प्राप्तेऽभिधीयते—अग्निहोत्रा दीति । धर्मान्तरेभ्यो विशेषणार्थस्तुशब्द । अग्निहोत्रादिक कर्म तु तत्कार्यायैव विद्याकार्यायैव । कुत ? तद्दर्शनात् । "तमेत वेदा नुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" (बृ० ४।४।२२।) इत्येवमादिश्रुतिष्वग्निहोत्रादीनां विद्यासाधनत्वद र्शनात् । अतो विद्योत्पत्त्यर्थमहरहरप्यग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठेयमन्यथा वर्णाश्रमधर्मविलोपे कल्मषमानसस्य विद्योत्पत्तिरेव न स्यादतो विद्यार्थत्वेन तदनुष्ठानमावश्यकम् ॥४।१।१६॥

ननु यद्यग्निहोत्रादिक विद्योदयैकफल तदा "तस्य पुत्रा दाय मुपयन्ति सुहृद साधुकृत्या द्विषन्त पापकृत्याम्" इति वचन किंविषयकमित्यपेक्षायामाह—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥४।१।१७॥

अतोऽग्निहोत्राद्याश्रमधर्मस्वरूपायाः साधुकृत्याया अन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या । या च विद्याधिगमात्पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यकर्मणोर्बलवत्कर्मावरुद्धफलिका तद्विषयकमेवेदमेकेषां शाखिनां वचनम् । अत्रोभयोर्जैमिनिबादरायणयोः सम्मतिरिति न दोषः । ॥४।१।१७॥

यदेव विद्ययेति हि ॥४।१।१८॥

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा० १।१।१८) इत्युक्तं ह्युद्गीथविद्यायाः फल कर्मान्तरप्रतिबन्धाभावरूपम् । तस्मात्प्रतिबद्धफलाया. साधुकृत्याया एव सुहृत्सूपयानमिति ।

इत्यग्निहोत्राद्यधिकरणम् ।

अथेतरक्षपणाधिकरणम् ।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते ॥४।१।१९॥

किं ब्रह्मविद्यया देहपातात्पूर्वं सुखदु खे अनुभवति, अथवा देहपातादुत्तरमपीति संशये यथा देहपातात्पूर्वं विद्वान् सुखदु.खे अनुभवति तथा देहपातादुत्तरमपीति प्राप्त आह—

अत्राभिधीयते–भोगेन त्वितरे इति । तु शब्द. पूर्वपक्षनिवर्त्तकः । इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे प्रारब्धफलोपभोगेन विनाश्य विद्वान् तत्फलभोगानन्तरमेव ब्रह्म सम्पद्यते 'तस्य तावदेव चिर' मित्यादिश्रुतेः । भोक्तव्ये पुण्यपापे चैकशरीरभोग्यफलके यदि स्यातां तर्हि तच्छरीरान्ते ब्रह्मसम्पद्यते' यदि तु बहुशरीरभोग्यफलके स्यातां

तदा बहुशरीरान्ते सम्पद्यते परं भोगेनैवारब्धकार्ये पुण्यपापे क्षपयित्वेति नियम इति सर्वमवदातम् ॥४।१।१९॥

इतीतरक्षपणाधिकरणम् ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्याकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे चतुर्थाध्यायस्य
प्रथम पादः ॥१॥



श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीते श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ वागधिकरणम् ।

अतिक्रान्ते पादे विद्याधिगमेन भोगेन च पुण्यपापे विनाश्य भोगायतनं देहमपहाय ब्रह्मविद्ब्रह्म सम्पद्यते। तत्र कथं सम्पद्यत इत्यपेक्षायामर्चिरादिमार्गेण परं पदं गत्वेति वक्तुं प्रथममुत्क्रान्ति प्रकारं चिन्तयति—

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥४।२।१॥

इदमाम्नायते—"अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" (छा० ६।८।६) तत्र 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इत्यत्र संशयः । किं वृत्ति मत्या वाचो मनसि सम्पत्तिरुत वाग्वृत्तेरेवेति। किं युक्तम् ? वाग्वृत्तेरेव सम्पत्तिः । कुतः ? वाचो मनसः कार्यत्वाभावेन तत्र वाक्स्वरूपसम्पत्त्यनुपपत्तेः । तात्पर्यानुपपत्त्या वाक्छब्दस्य वाग्वृत्तौ लक्षणया तस्या एव मनसि सम्पत्तिरुपपद्यत इति प्राप्तेऽभिधीयते– वाङ्मनसीति । वागेव मनसि सम्पद्यते संयुज्य तिष्ठतीत्यर्थः । कुतः ? दर्शनात्। दृश्यते हि स्वापादिषु वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनसः प्रवृत्तिः । वाग्वृत्तिमात्रसम्पत्तावप्येतदुपपद्यत इत्यत आह शब्दाच्चेति । श्रुतौ वाङ्मनसि सम्पद्यते' इति वाच एव सम्पत्तिर भिधीयते न वृत्तिमात्रस्य । न हि तदानीं वृत्तिमात्रसम्पत्तौ स्वरूपेण वागिन्द्रियस्य सद्भावे किमपि प्रमाणमुपलभ्यते । यत्तु वाचो मनसोऽकार्यत्वान्नोपपद्यतेसम्पत्तिरिति तन्न सम्पत्तिरत्र संयोगमात्रं न तु लयो येनोक्तदोषः स्यात् ॥४।२।१॥

अत एव सर्वाण्यनु ॥४।२।२॥

यत एव मनसो वागुपादानत्वाभावेन मनसि वाग्लयत्वानुप पत्त्या मनसि वाक्संयोगमात्रं सम्पत्तिरुपपद्यते न तु तल्लयात्मिका

सम्पत्तिस्तस्माद् "उपशान्ततेजा । पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्य मानै"रिति श्रुति सर्वेषामिन्द्रियाणा मनसि सयोग बोधयन्ती मनसि सर्वेन्द्रियसम्पत्तौ प्रमाणमस्तीतिज्ञेयम् ॥४।२।२॥

इति वागधिकरणम् ।

अथ मनोधिकरणम् ।

एव 'मन प्राणे' (बृ० ६।८।६) इत्युत्तरवाक्ये कि सर्वेन्द्रिय सम्पत्त्याधारस्य मनस प्राणे लयो भवति सयोगमात्र वेति विषये 'अन्नमय हि सोम्य मन॰' (छा० ६।२।४) इत्यत्र मनसोऽन्नविकारत्व श्रवणादन्नस्य च 'ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६) इत्यब्विकारत्वश्रवणात् 'आपोमय प्राण '(छा० ६।६।५) इति प्राणस्याप्प्रकृतिकत्वात्तेन 'मन प्राणे' इति प्राणशब्दस्य प्राणकारणभूतास्वप्सु लक्षणया स्वप्रकारण भूतासु परम्परया मनस सम्पत्तिर्लय एवेति प्राप्तऽभिधीयते—

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥४।२।३॥

मनस आहङ्कारिकत्वादाकाशकार्यत्वाच्च प्राणस्याप्सु लक्षणा गौरवाच्च "अन्नमय हि सोम्य मन " "आपोमय प्राण " इति मन प्राणयोरन्नेनाद्भिश्चाप्यायनमात्रत्वोपपत्त्या तयोरन्तविकारत्वानुप पत्त्या मनस प्राणे लयत्वानिष्पत्ते परिशेषात्प्राणे मन सयाग एवोपपद्यत इत्याह—तन्मन इति । तत्सर्वेन्द्रियसयुक्त मनोपि प्राणे सम्पद्यते न तु मनोवृत्तिरेव । कुत ? उत्तरात् । 'मन॰ प्राण" इत्युत्तरवाक्ये प्राणे मनस एव सम्पत्ते श्रवणात् ॥४।२।३॥

इतिमनोऽधिकरणम् ।

अथाध्यक्षाधिकरणम् ।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४।२।४॥

'प्राणस्तेजसी' त्युत्तरवाक्ये किंप्राणस्य तेजसि सम्पत्तिरुत जीव इति संदेहे 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेस्तेजस्येवेति प्राप्तेऽभिधीयते—सोऽध्यक्ष इति । स प्राणः, अध्यक्षे "सकारणं करणाधिपाधिपः" इति सर्वकरणाध्यक्षे जीवे सम्पद्यते । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः । "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति" (बृ० ४।३।३८।) इति प्राणस्य जीवोपगमोऽभिधीयते । एवं "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" (बृ० ४।४।२) इति श्रुतिः प्राणस्य जीवेन सहोत्क्रान्तिं श्रावयति । तथा "कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठास्यामि" (प्र० ६।३) इति श्रुतिर्जीवेन सह प्राणस्य प्रतिष्ठामपि बोधयति । तस्माज्जीव एव प्राणस्य संयोगरूपा सम्पत्तिः ॥४।२।४॥

इत्यध्यक्षाधिकरणम् ।

अथ भूताधिकरणम् ।

ननु तर्हि "प्राणस्तेजसी"ति श्रुतेर्विरोधः "सोध्यक्षे" इति सूत्रेणेत्याशङ्क्याह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥४।२।५॥

तच्छ्रुतेः "प्राणस्तेजसी"ति श्रुतेस्तेजःशब्दोपलक्षितेषु तेजःसहितेषूत्तरदेहारम्भकेषु सूक्ष्मात्मना विद्यमानेषु पञ्चभूतेषूपहितत्वेन विद्यमाने जीवे पर्यवसानात् "एवमेवेममात्मानमन्तकाले" "तमुत्क्रामन्तम्" "कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते" इत्यादीनामन्तकाले सर्वेषां प्राणानां जीवसम्पत्तिबोधिकानां तथा मुख्यप्राणस्थित्युत्क्रान्त्योर्जी-

वस्थित्युत्क्रान्त्यधीनत्वबोधिकाना श्रुतीनामनुसाराच्च "सोऽध्यक्षे" इतिसूत्रस्य प्रवृत्तेर्न "प्राणस्तेजसी"ति श्रुत्या विरोध ॥४।२।५॥

ननु प्राणस्तेजसीत्येकस्यैव तेजसः श्रवणात् तेज सहितेषु भूतेष्विति कथमुक्तमित्याशङ्क्याह—

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥४।२।६॥

उत्क्रान्तिसमये जीव एकस्मिंस्तेजस्येव नावतिष्ठते किन्तु सूक्ष्मेषु पञ्चस्वेव भूतेषु। दर्शयतो हि श्रुतिस्मृति इममर्थम्। तथाहि "पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमय" इत्यादि श्रुतिः। "अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धाना तु याः स्मृता। ताभि' सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः।" इति स्मृतिश्च। ॥४।२।६॥

इति भूताधिकरणम्।

(*अथासृत्युपक्रमाधिकरणम्* ।)

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥४॥२॥७॥

किमिदमुत्क्रमणं ब्रह्मविदोऽन्यस्य च समानमाहोस्विद्ब्रह्मविद एवेति संशयेऽन्यस्यैवेति। कुत ? ब्रह्मविदस्त्वत्रैवामृतत्वश्रवणा दुत्क्रमणाभावात्। तथा च श्रुति' "अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (का० २।६।१४) इति प्राप्तेऽभिधीयते—समाना चाऽसृत्युपक्रमादिति। ब्रह्मविदोऽप्यासृत्युपक्रमादुत्क्रान्ति' समानैव। आसृत्युपक्रमादित्यस्य प्राङ्नाडीप्रवेशादित्यर्थे। नाडीप्रवेशस्तु ब्रह्मविदोऽपि गमने श्रूयत एव—"शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" (का० २।६।१६) इति। बृहदारण्यके च "तेन प्रद्यो-

तेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य" (बृ० ४।४।२) इति श्रूयते। तत्र "शत चैके"ति श्रुत्यभिहितसुषुम्नानाडीद्वारा प्राणप्रयाणस्य प्रकृतश्रुत्यापि मूर्ध्नोवेत्यनुमोदितस्य तस्य ब्रह्मविदभिप्रायकत्वात्। चक्षुरादिभ्य प्राणगतिस्त्वन्याभिप्रायेति गम्यते। "अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (का० २।६।१४) इत्यस्य का गतिरित्यत आह—अमृतत्वञ्चानुपोष्येति। उष दाहे इत्यस्य रूपम्। चोऽवधारणे। करणकलेवरादिसम्बन्धवेलायामेवोत्तरपूर्वाघयोर्यस्त्याग स एवामृतपदव्यपदेश्य। एतच्च तच्छ्रुतिपूर्वार्धेन स्पष्टीक्रियते "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता।" इति ॥४।२।७॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥४।२।८॥

अपरित्यक्तदेहसम्बन्धस्यैवामृतत्वमिति। अपीतिर्देशविशेष माश्रित्य या ब्रह्मप्राप्तिरूपावस्था सा। आतदवस्थं देहसम्बन्धलक्षण संसारो व्यपदिश्यते "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा० ६।१४।२) "ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" (छा० ८।१३।१) इत्यादिश्रुतिभिरिति ॥४।२।८॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥४।२।९॥

ब्रह्मविदोऽपि क्रममुक्तो सूक्ष्मशरीरसम्बन्धोऽस्त्येव। कथमव गम्यते ? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः। अर्चिरादिमार्गेण गमने "तं प्रतिब्रूयात्" (कौ० १।२) इति चन्द्रमसा सवादश्रवणात्। चकाराच्छरीरं विनार्चिरादिमार्गेण गमनानुपपत्तेश्च। तथोपलब्धे। तथा सूक्ष्मशरीरत्वेनोपलब्धे ॥४।२।९॥

नोपमर्देनातः ॥४।२।१०॥

अत. "यदा सर्वे प्रमुच्यन्त" इति श्रुतिर्न शरीरसम्बन्धस्योपमर्देनामृतत्वमभिधत्ते ॥४।२।१०॥

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥४।२।११

मत्येव सूक्ष्मदेह उपलभ्यमान एष ऊष्मास्यैव सूक्ष्मदेहस्यैव धर्म । मरणानन्तर स्थूलदेह ऊष्मणोऽनुपलब्धिर्भवति । तत ऊष्म धर्मिणा सूक्ष्मशरीरेण सहैव ब्रह्मविद उत्क्रान्ति द्योतयतीति । अत आसृत्युपक्रमाद्ब्रह्मविदोऽन्यस्य च समानमुत्क्रमणमिति ॥४।२।११॥

ब्रह्मविद उत्क्रान्तिर्नोपपद्यत इति भूयस्सञ्चोद्य समाधत्ते—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥४।२।१२॥

आत्मकामस्य विदुष उत्क्रान्तिर्नोपपद्यते । कुत ? "अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (बृ० ४।४।६।) इत्यनया ब्रह्मविद उत्क्रान्ते प्रतिषेधादिति चेन्न । शारीरात्–शरीराध्यक्षा जीवात्प्राणानामुत्क्रान्तिरत्र प्रतिषिध्यते । न तु शरीरात् । पूर्वत्र 'अथाकामयमान' इति ब्रह्मविदो जीवस्यैव श्रुतिरतस्तस्यैव 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तो' त्यनेन परामर्श । एव तस्येत्यत्र तच्छब्देन विद्वज्जीवस्तदुत्तरषष्ठ्या च तस्यैव जीवस्य सम्बन्धोऽभिधीयते । उत्क्रमणस्यापादानताऽपि शारीर एव सान्निध्यात् न तु शरीर इति । अस्मिन्नर्थे न विवाद । स्पष्टो ह्येकेषाम्–"योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति" (बृ० ४।४।६।) इति माध्यन्दिना शारीरमेवापादानमामनन्ति । अयम्भाव । ब्रह्मविद शरीरत्यागसमय एव ब्रह्मसम्पत्ति "तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्ये" इत्यभिहिता–तदा प्राणवियोगोऽपि सम्भवति । सञ्जातप्राणवियोगस्य स्वर्चिरादिमार्गेण गमन ब्रह्मप्राप्तिश्च नोपपद्येते । अतो ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्ते प्राङ्न प्राणाना मुत्क्रान्तिरिति ॥४।२।१२॥

स्मर्यते च ॥४।२।१३॥

स्मर्यते च ब्रह्मविदोऽप्यर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मप्राप्तिः "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः" इति ॥४।२।१३॥

इत्यासृत्युपक्रमाधिकरणम्।

अथ परसम्पत्त्यधिकरणम्।

तानि परे तथा ह्याह ॥४।२।१४॥

पूर्वत्र करणप्राणसहितस्य जीवस्य समुत्क्रान्तिसमये तेजआदिभूतसूक्ष्मेषु सम्पत्तिरभिहिता। तानि पुनर्जीवसहितानि भूतसूक्ष्माणि कुत्र गच्छन्तीति संशये। तत्र यथाकर्म यथाविद्य फलोपभोगार्थमेवोपयान्तीति प्राप्तेऽभिधीयते–तानि परे इति। तानि सजीवानि भूतसूक्ष्माणि परस्मिन्नात्मन्येव सम्पद्यन्ते। तथा ह्याहेति। उक्तार्थे श्रुतिं प्रमाणयति 'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इति। सुषुप्तौ सति सम्पन्नस्य यथा दुःखाभाव सुखानुभवश्च 'सुखमहमस्वाप्समि'ति। तथाऽपि परदेवतासम्पन्नस्य दुःखाभाव सुखानुभवश्चानुमीयते ॥४।२।१४॥

इति परसम्पत्त्यधिकरणम्।

अथाविभागाधिकरणम्।

अविभागो वचनात् ॥४।२।१५॥

किमियं परमात्मनि सम्पत्तिः 'पृथिव्यप्सु लीयते' इति पृथिव्यादीनां जलादिकारणरूपापत्तिवत्सर्वकारणपरमात्मापत्तिरूपाहोस्वित्

'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इति वदविभागस्वरूपेति विषये, सर्वकारण स्वरूपपरमात्मनि कारणरूपैवेति प्राप्तेऽभिधीयते अविभाग इति। विभागप्रतियोगिसंयोगोऽविभाग इति परमात्मना विलक्षणसयोग रूपेय सम्पत्ति । कुत ? वचनात्। 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इत्यत्र सयोगार्थकस्य सम्पद्यतेस्सर्वत्रान्वयात्। 'तेज परस्या देवताया' मित्यत्राप्यन्वय ॥४।२।१५॥

इत्यविभागाधिकरणम् ।

अथ तदोकोऽधिकरणम् ।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्या-त्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥४।२।१६॥

"समाना चासृत्युपक्रमा"दित्यनेन विदुषामविदुषा चोत्क्रान्ति समानोक्ता। आसृत्युपक्रमादुपरि नाडीप्रवेशमारभ्य विदुष उत्क्रान्ति विशेषोऽनेन सूत्रेणोच्यते तदिति। तस्य भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तस्योचि क्रमिषोर्जीवस्यौक आयतन हृदय तस्य यदग्र हृदयनाडीसयोग देशस्तस्य ज्वलन प्रकाशन "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्र प्रद्योतते" इति श्रुत्युक्त प्रद्योताख्यमार्गो भवति। तेन प्रद्योतेन प्रकाशितनाडी द्वारो विद्वानविद्वाश्च भवतीति। इत्थमेव वदति "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रम्" इत्येषा श्रुति । तत्र "चक्षुष्टो वान्यप्रदेशेभ्य" इत्य विदुषो हृदयाग्रप्रद्योतनज्ञापकम्। मूर्ध्नो वेति विदुषो हृदयाग्रप्रद्योत नस्य ज्ञापकम्। तत्र सशय किं विदुषा च सर्वेषामनियमेन केन चिन्नाडीद्वारेणोत्क्रान्तिरस्तास्ति कश्चिद्विशेष इति। तत्र चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरप्रदेशेभ्य इत्यनियमवचनादनियमेनेति

प्राप्त उच्यते—विद्यासामर्थ्येत्यारभ्य शताधिकयेत्यन्तम्। विद्वान् हि "ध्यानाच्च" "आत्मेति तूपगच्छन्ति" इत्युक्तप्रकारेण स्वात्मतया परमात्मैकचिन्तनलक्षणाया विद्याया सामर्थ्यात्, तस्या विद्याया या गतिरर्चिरादिमार्गदेवयानशब्दाभ्या शब्दिता तस्या अनुस्मृतेरनुध्यानस्य योगाच्च प्रसन्नेन हार्दपुरुषेणानुगृहीत. शताधिकाया नाड्या प्रवेशितो विद्वाञ्छतनाडीभ्योधिकया मूर्धन्ययैव निष्क्रामति। अविद्वांस्त्वितराभिर्नाडीभि । तथैव श्रूयते—शत चैका हृदयस्य नाड्य इत्यादि। तस्माद्धृदयसम्बन्धिन्या भास्वया मूर्द्धानमभिनिसृतया सूर्यरश्मिभि सूप्तया व्याप्तया ब्रह्मनाड्यैव विद्वानुत्क्रामतीति ॥४।२।१६॥

इति तदोकोऽधिकरणम्।

अथ रश्म्यनुसाराधिकरणम्।

रश्म्यनुसारी ॥४।२।१७॥

विद्वान्मूर्धन्यया नाड्या निर्गत्य रश्म्यनुसारी गच्छत्यन्यथा वेति सशये "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती"ति श्रुतिबलेन शरीरान्मूर्धन्यया नाड्या निर्गतस्य शरीरान्निस्सरणकालेमृतत्वश्रवणान्न रश्म्यनुसारित्वमुपपद्यत इति प्राप्त आह—रश्म्यनुसारीति। "तयोर्ध्व मायन्" इति श्रुतेरमृतत्व पुनर्जन्ममरणाभावत्व प्राप्नोतीत्यर्थकत्वाद्विद्वान् मूर्धन्या शरीरान्निष्क्रम्य रश्म्यनुसरी गच्छति रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रम्यादित्य प्राप्य तदूर्ध्वं सनातन परब्रह्म गच्छतीति ॥४।२।१७॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥४।२।१८॥

नन्वहनि हृदयनाडीसूर्यरश्मिसम्बन्धस्य सत्त्वादहन्येव मृतो रश्म्यनुसारी सूर्यम्प्राप्योर्ध्वं गच्छति, रात्रौ तु तत्सम्बन्धस्यासत्त्वान्न

रश्म्यनुसारित्वमुपपद्यते । कुतस्तरां तदूर्ध्वगमनमिति चेन्न । नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् रात्रावपि रश्म्यनुसारित्वेनादित्यं प्राप्य तद्द्वारा ब्रह्मप्राप्त्युपपत्ते । दर्शयति च नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वं श्रुतिः—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता' (छा० ।८।६।२।) इति । ननु रात्रौ रश्मय एव न भवन्ति कुतस्तदनुसारेण गमनमिति चेन्न, निदाघादौ रात्रावप्यूष्मोपलम्भाद्रश्मिसद्भावस्तदानीमप्यस्त्येव । तस्माद्रात्रावपि मृतोब्रह्मविद्रश्म्यनुसारेणादित्यमुपसङ्क्रम्य ब्रह्म प्राप्नोतीति ॥४।२।१८॥

इति रश्म्यनुसाराधिकरणम् ।

अथ दाक्षिणायनाधिकरणम् ।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥४।२।१९॥

यतो नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादहनि रात्रौ वा मृतो विद्वान् रश्म्यनुसारी सन्नादित्यद्वारा ब्रह्मलोकं गत्वा ब्रह्म प्राप्नोत्यतः सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्धेताश्चकाराद्दक्षिणायनेपि दह औष्ण्यस्यदर्शनात्तत्रापि नाडीरश्मिसम्बन्धस्यानुमानाद्दक्षिणायनेपि मृतो विद्वान् सद्यो रश्म्यनुसार्यादित्यद्वारा ब्रह्मापैतीति ॥४।२।१९॥

ननु स्मृतिषु 'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ' (गी० ८।२३) 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' (गी० ८।२४।) इत्यादिना कथमुत्तरायणकालस्यैवानावृत्तौ हेतुताभिहितेत्यत्राह—

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्ते चैते ॥४।२।२०॥

अथ "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षम्" (छा० ५।१०।१।) इति क्रमेणार्चिरहःशुक्लपक्षादिप्राप्तेः श्रवणात्। नह्येकस्य एतद्यौगपद्येन सम्भवत्यतोऽग्न्यादेः कालपरत्वानुपपत्तेः कालशब्दस्य कालाभिमानिन्यामातिवाहिकदेवतायां लक्षणाकरणात्। 'सन्दिग्धन्तु वाक्यशेषा' दिति न्यायेनोपक्रमे संदिग्धार्थकस्य कालशब्दस्य 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते' 'नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन' (गी० ८) इत्युपसंहारश्रुतेः "सृती" पदानुसारेण नेतव्यत्वात्। एते शुक्लकृष्णे गती स्मार्ते स्मृतिविषयभूते चिन्तितव्ये योगाङ्गत्वेन प्रतिदिन स्मरणाय योगिनः प्रतिस्मर्येते श्रीगीताचार्येण 'नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन' (गी० ८) इति तस्मान्मुमूर्षून्प्रति नात्रकालनियमनमिति ॥४।२।२०॥

इति दक्षिणायनाधिकरणम्।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तमसगुणपुरुषतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यकबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥२॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीत श्रीजानकीकृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अथार्चिराद्यधिकरणम् ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥४।३।१॥

एवमतीतेन ग्रन्थेन ब्रह्मविद उत्क्रान्तिरभिहिता । इदानीमा-ब्रह्मप्राप्तेस्तस्याध्वा विचार्यते । तत्रानेकधा श्रुतिषु सोऽध्वा समाम्नायते । यथा छान्दोग्ये—"तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽह्" (छा० ५।१०।१) इत्यर्चिरादिक एकः । पुनस्तत्रैवाष्टमे प्रपाठके 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" (छा०८।६।५) इति भिन्न एव । 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति पुनरन्यः । 'सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति' (मु० १।२।११) इति चापर.। तत्रायं विषयः समुदेति । किमेभिर्नाना श्रुतिषु प्रभिन्नरूपेण प्रतिपादितैरध्वभिरुपासकोऽनियमेन गच्छत्याहोस्विद्-नेकविशेषणविशिष्टेन तत्र तत्र प्रतिपादितेनैकेनैवार्चिरादिनाध्व-नेति । तत्र प्रकरणभेदात्प्रकारभेदाच्च भिन्ना एवैते सर्वेऽप्यध्वान इति सर्वैरेवानियमेनोपासनाद्यनुष्ठानभेदादब्रह्मविद्गच्छति । तथैव प्रतिपादितत्वादिति प्राप्तेऽभिधीयते–अर्चिरादिनेति । अनेकविशे-षणविशिष्टोऽर्चिरादिरेक एवाध्वा सर्वत्र प्रतिपाद्यते । अत सर्वे हि ब्रह्मविदोऽर्चिरादिनाऽध्वनैव गच्छन्ति । कुत ? तत्प्रथिते । तस्यैव बहुश्रुतिषु प्रसिद्धे· । न च प्रकरणभेदान्मार्गभेदः । सर्वासा मार्गपराणां श्रुतीनामैक्यात् । प्राप्तव्यस्य ब्रह्मण एकत्वाच्च । अन्यत्र श्रुतानां पदानामन्यत्रोपसंहारेण सर्वासामेकवाक्यतोपपत्त्यैकस्यै-वार्चिरादिमार्गस्य प्रतिपादकत्वनिष्पत्ते । तस्माद्ब्रह्मप्राप्तेरेक एवा-र्चिरादिलक्षणोऽध्वेति सिद्धम् ॥४।३।१॥

इत्यर्चिराद्यधिकरणम् ।

अथ वाय्वधिकरणम् ।

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥४।३।२॥

इदानीमर्चिरादिमार्गस्य विभिन्नासु श्रुतिषु क्रमभेद उपलभ्यते । तस्य व्यवस्था क्रियते । तत्र छान्दोग्ये "मासेभ्य संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्" (छा० ४।१५।५) इति श्रूयते । बृहदारण्यके "मासेभ्य देवलोकं देवलोकादादित्यम्" (बृ० ६।२।१५) इति पञ्चमाध्याये "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति" (बृ० ५।१०।१) एव श्रूयते । तत्र संशय । किं वायुशब्देन देवलोकशब्देन चैकार्थस्यैव प्रतिपाद्यत्वादुचितक्रमेण ब्रह्मविद् गच्छत्याहोस्वित् संवत्सरादूर्ध्वं देवलोक गत्वा वायुलोकमिति । किम्प्राप्तम् ? अविशेषाद्यथेष्टम् । इति प्राप्तेऽभिधीयते । वायुमब्दादिति । संवत्सरादूर्ध्वं वायुमभिगच्छतीति । कुत ? अविशेषविशेषाभ्याम् । देवलोकशब्दो हि देवाना लोकमित्यविशेषेण व्याख्यानेन वायुमेवाह । तथान्यत्र 'स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति विशेषेण रूपेण वायुमाचष्टे । तस्माद्देवलोकवायुशब्दाभ्यामविशेषविशेषाभ्या वायुरेवाभिधीयते । अत संवत्सरात्पर वायुमेवाभिगच्छतीति ॥४।३।२॥

इति वाय्वधिकरणम् ।

अथ वरुणाधिकरणम् ।

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥४।३।३॥

"स एतं देवयान पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" (कौषी० १।३) इति श्रूयते। तत्र संशय । किं वरुणादीना

पाठमनुसृत्य वायोः परं निवेश आहोस्विद्विद्युत ऊर्ध्वमेवेति संशये । कुतः ? यथाश्रुतं वायोरूर्ध्वं वरुणादीनां निवेश इति प्राप्तेऽभिधीयते–तडितोऽधिवरुण इति । तडित ऊर्ध्वमेव वरुणो निवेशनीयः । कुतः ? सम्बन्धात् । मेघाधिपतिना वरुणेन मेघोदरवर्तिन्या विद्युतः सम्बन्धस्य लोकवेदयो प्रसिद्धत्वात् । पाठावैयर्थ्याय क्वचिदपि निवेशनीये बलीयासमर्थक्रममनुसृत्य विद्युतोऽधिवरुणो निवेशनीयः । तत ऊर्ध्वमिन्द्रादीनामन्यत्र श्रुतानां निवेशः । 'आगन्तूनामन्ते निवेश' इति न्यायमनुसृत्येति । ततश्चायं क्रम. सम्पन्नः नाडीरश्मिप्रवेशानन्तरमर्चिषमर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुत्तरायणमासांस्तेभ्यः सवत्सरं संव-त्सराद्वायु वायोरादित्यमादित्याचन्द्रमस चन्द्रमसो वैद्युत वैद्युता-द्वारुण वारुणादैन्द्रमैन्द्राद्धातृलोक धातृलोकाद्विरजा तत्र स्नात्वा श्रीसाकेतलोकद्वारमिति ॥४।३।३॥

इति वरुणाधिकरणम् ।

अथातिवाहिकाधिकरणम् ।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४।३।४॥

किमेतेऽर्चिरादयोऽध्वनश्चिह्नभूता अथवा भोगस्थानानि आहो-स्विद्ब्रह्मप्रेप्सूनामातिवाहिका इति संशयेऽध्वचिह्नभूताश्चैते । कुतः ? लौकिकोपदेशवन्निर्दिष्टत्वात् । अथवा भोगस्थानान्येव । कुतः ? अग्निलोकादिशब्दानां दर्शनात् । इति प्राप्तेऽभिधीयते–आतिवाहिका इति । ब्रह्मविदामतिवहनकर्तारः देवताविशेषाश्चैतेऽर्चिरादयः । कुतः ? तल्लिङ्गात् । अतिवहनात्मिकात् गच्छतां जनानां गमयि-तृत्वमेवातिवाहिकत्वम् । तच्च 'स एतान्ब्रह्म गमयती'त्युपसंहारवाक्ये

२४

स्पष्टमेव दृश्यते। एतदनुरोधेन पूर्वतनानामप्यातिवाहिकत्वं सिद्धम्। अर्चिरादिशब्दानाञ्चार्चिराद्यभिमानि देवतापरत्वमिति प्रागेवाभिहितम् ॥४।३।४॥

ननु वैद्युतस्यैव पुरुषस्य 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इति श्रुतेर्ब्रह्मप्रापकत्वदर्शनात् कथमन्येषामुपरितनानामातिवाहिकत्वमित्यत्राह—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥४।३।५॥

वैद्युतेन विद्युल्लोकादागतेनामानवेनैवातिवाहिकेन विद्युत उपरिष्टाद् ब्रह्मविदामाब्रह्मप्राप्तेर्नयनम्। कुत ? तच्छ्रुतेः। 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इति तस्यैवा ब्रह्मप्राप्तेर्गमयितृत्वश्रुतेः। तस्मात्पूर्वेषामर्चिरादीनामप्यतिवाहिकत्वसामान्येन गन्तृगमयितृत्वमुपपद्यते। ॥४।३।५॥

इत्यातिवाहिकाधिकरणम् ।

अथ कार्याधिकरणम् ।

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥४।३।६॥

ब्रह्मविदामर्चिरादिमार्गेण गमनमर्चिरादिमार्गस्य स्वरूपञ्च प्रदर्शितम्। इदानीमेतद्विचार्यते। किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं हिरण्यगर्भं तदुपासीनान् गमयति उत परं ब्रह्मैव ब्रह्मोपासीनान्। आहोस्वित्प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकतयोपासीनान् परं ब्रह्मेति सन्देहे कार्यमुपासीनानेव कार्यं हिरण्यगर्भं गमयतीति बादरिराचार्यो मन्यते। कुत ? अस्य परिच्छिन्नहिरण्यगर्भोपासकस्य देशविशेषस्थस्य हिरण्यगर्भस्य प्राप्त्यर्थतया गत्युपपत्तेः। सर्वगतस्य सर्वात्मभूतस्य परब्रह्मणः प्राप्तये गत्यनुपपत्तेरिति भावः ॥४।३।६॥

विशेषितत्वाच्च ॥४।३।७॥

'पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति" (बृ० ६।२।१५) इति श्रुतिस्थबहुवचनान्तेन लोकशब्देन लोकविशेषान्तर्वर्तितया परिच्छिन्न हिरण्यगर्भमेव गमयन्त्यर्चिरादय । "प्रजापते सभा वेश्म प्रपद्ये" इति कार्यब्रह्मण सभाया वेश्मनश्च प्राप्त्यनुसन्धानाच्च तत्रैव गतिरुपपद्यते ॥४।३।७॥

ननु नपुसकब्रह्मशब्दस्य परस्मिन् ब्रह्मणि मुख्यत्वात्कथ ब्रह्म गमयतीति व्यपदेश कार्ये ब्रह्मण्युपपद्यत इत्याह—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥४।३।८॥

"यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वम्" (श्वे० ६।१८) "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजन्यत्वेन ब्रह्मसामीप्यात् ब्रह्मशब्देन व्यपदेश उपपद्यते ॥४।३।८॥

ननु हिरण्यगर्भप्राप्तस्य 'आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन' (गी ८।१६) इति शास्त्रेण पुनरावृत्तिरभिधीयत इति कथमर्चिरादिना गतस्य 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (का० २।६।१६) इत्यमृतत्ववचनमुपपद्यतामित्यत्राह—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥४।३।९॥

कार्यस्य ब्रह्मलोकस्यात्यये नाशे सति तदध्यक्षेण तल्लोकस्वामिना हिरण्यगर्भेणाधिकारिणा सह तत्रैवाधीतविद्योऽय पुरुष । अतो हिरण्यगर्भलोकात्पर ब्रह्म प्राप्नोति । कुत ? अभिधानात् । 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे' (मु० ३।२।६) इति श्रौताभिधानादिति ॥४।३।९॥

स्मृतेश्च ॥४।३।१०॥

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्" (कू० पु० १ ख० १२।२६७) इति स्मृतेश्च कार्यब्रह्मोपासकानर्चिरादिगणो नयतीत्यवगम्यते ॥४।३।१०॥

एवं बादरिमतमुक्त्वा जैमिनिमतमभिधत्ते—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥४।३।११॥

'स एनान् ब्रह्म गमयति' इत्यादौ ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव ब्रह्मणि मुख्यत्वात्परमेव ब्रह्म गमयत्यर्चिरादिको गण इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥४।३।११॥

दर्शनाच्च ॥४।३।१२॥

"स एतं देवयानं पन्थानमापद्य" त्यादिकौषीतकिश्रुतिरर्चिरादिमार्गेण गन्तव्यस्य ब्रह्मलोकस्य प्रजापतिलोकादुपरितनत्वं दर्शयति। ततः पृथक्त्वं चेति। एतदनुरोधेन ब्रह्मलोकानित्यत्र कर्मधारय आश्रयणीयः। बहुवचनं तु श्रेष्ठत्वज्ञापनार्थम् ॥४।३।१२॥

न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः ॥४।३।१३॥

यश्चार्चिरादिना गतस्य कार्यब्रह्मणि प्रत्यभिसन्धिः सङ्कल्पः 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य' इत्यनया श्रुत्यावगम्यते, सोऽपि परस्मिन्नेव ब्रह्मणि ज्ञेयः। न च कार्ये हिरण्यगर्भे। कुतश्चैतत्। तत्प्रत्यभिसन्धातुः 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छा० ८।१४।१) इति वाक्यशेषे सर्वात्मभावाभिसन्धानात्। अतोऽर्चिरादिको गणः परमेव ब्रह्मोपासीनं नयतीति जैमिनिमुनेर्मतम् ॥४।३।१३॥

तदेवं जैमिनेर्मतम्प्रदर्श्येदानीं स्वमतेन सिद्धान्तमाह भगवान् बादरायणः —

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ॥४।३।१४॥

किमर्चिरादिको गणो बादर्युक्तप्रकारेण ब्रह्मविदः कार्यं ब्रह्म नयत्याहोस्विज्जैमिन्युक्तप्रकारेणेति संशये परस्परविरोधित्वाद्द्वयोरपि वचनमप्रमाणमिति प्राप्ते नानयोर्वचनं सर्वथाऽप्रमाणम्। किन्तु दोषग्रस्तमेव। तदाह—अप्रतीकेति। उभयथा च दोषाद् बादरिजैमिन्युक्तप्रकारेण दोषापत्तेः। बादरिपक्षे "अस्माच्छरीरात्" "स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" इत्येवमादिश्रुतीनां स्वार्थबाधेन तदर्थबाधरूपो दोषः। जैमिनिपक्षे च 'तद्य इत्थं विदुर्येचेमे" इति श्रुतेरर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिश्रुतेश्च स्वार्थबाधरूपो दोषः। तस्मात् सर्वासां श्रुतीनां स्वार्थे स्वतन्त्रप्रमाणत्वाद्यथाश्रुतमप्रतीकालम्बनान् प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् सर्वानपि तत्तदुपासकांस्तत्तदुपास्यं प्रति नयत्यर्चिरादिको गण इति भगवान् बादरायणो मन्यते। सर्वेऽप्युपासकाः स्वोपास्यमेव प्राप्नुवन्तीत्यत्र हेतुमाह—तत्क्रतुश्चेति। "यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इत्यादिश्रुतेः, अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरमित्यादिस्मृतेश्च परब्रह्मोपासकः परं ब्रह्म प्राप्नोति, हिरण्यगर्भोपासकश्च तं प्राप्नोति। प्रकृतिवियुक्तात्मचिन्तकस्तादृशमात्मानं प्राप्नोत्येव तत्तदुपासकांस्तं तमुपास्यं नयत्यर्चिरादिकोऽतिवाहिको गण इति ॥४।३।१४॥

विशेषञ्च दर्शयति ॥४।३।१५॥

नामादिप्राणपर्यन्तप्रतीकोपासकानां फलविशेषमेव श्रुतिर्दर्शयति "यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" (छा० ७।१।५)

इति। अतः परब्रह्मोपासकान् प्रत्यगात्मानञ्च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनांश्चार्चिरादिको गणो नयतीति सिद्धम् ॥४।३।१५॥

इति *कार्याधिकरणम्* ।

इतिश्रीकान्यकुब्जद्विजोत्तमकुलोत्तमगुणपुरुपतत्त्वाभिज्ञविरक्तवैष्णवप्रवर
श्रीसम्प्रदायाभिवर्धकायोध्यक्षबिन्दु श्रीपीठसंस्थापक
श्रीमद्रामानन्दीयाचार्यश्रीरामप्रसादस्वामिकृत
ब्रह्मसूत्रभाष्यदीप श्रीजानकीकृपाभाष्य
संक्षिप्तसारे चतुर्थाध्यायस्य
तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

श्रीभगवद्रामप्रसादाचार्यप्रणीतस्य शारीरकमीमांसाया श्रीजानकी कृपाभाष्यस्य संक्षिप्तसारे

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

अथ सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥४।४।१॥

एवं ब्रह्मविदोऽर्चिरादिना पुनरावृत्तिवर्जितं गमनं तत्र च ब्रह्म प्राप्तिमभिधाय मुक्तानामैश्वर्यनिर्णय इदानीं क्रियते । तत्रेदं श्रूयते—"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८।१२।२।) अत्र संशयः । किं परंज्योतिरुपसम्पन्नस्य कर्मसाध्यदेवादिरूपाभिनिष्पत्तिवत् ब्रह्म विद्यासाध्येन केनापि रूपेण सम्बन्धोऽनया श्रुत्याभिधीयते आहो स्वित्स्वाभाविकस्य स्वरूपस्यैवाविर्भाव इति । तत्र साधनानां साध्य निष्पादकत्वदर्शनात् कर्मसाध्यदेवादिरूपसम्बन्धवद्विद्यासाध्येन रूपेण सम्बन्ध एवेति प्राप्तेऽभिधीयते—सम्पद्याविर्भाव इति । कर्म फलस्यानित्यत्वेन तद्दृष्टान्तस्यात्रानवकाशात् । अत्र तूपासनरूप विद्यया कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्यात्मस्वरूपस्य तिरोधाननिवृत्त्या स्वाभाविकरूपस्याविर्भावो भवत्यतोऽयं प्रत्यगात्माऽस्माच्छरीरात्स मुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्याविद्यातिरोधानविरहितस्वाभाविकस्व रूपाविर्भावरूपं विद्याफलं प्राप्नोति नत्वपूर्वाकारोत्पत्तिरूपम् । कुतः ? स्वेन शब्दात् । 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति रूपविशेषणेन स्वेनेति कथनेनागन्तुकरूपपरिग्रहस्य व्यावर्तनात् ॥४।४।१॥

ननु स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात्कः पुनः पूर्वावस्थातो विशेषो येन 'उपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति वचनं सार्थकं स्यादित्यत्राह—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥४।४।२॥

'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यनेन कर्मसम्बन्धतत्कृतदेहादिसर्वानर्थविनिर्मुक्तः स्वाभाविकेन रूपेण समवस्थित उच्यते। पूर्वन्तु अवस्थात्रयकलुषित. संसारी चेति विशेष. कर्मरूपाविद्याकृतं यदात्मस्वरूपस्य तिरोधानं तन्निवृत्तिपूर्वक य स्वाभाविकस्वरूपस्याविर्भाव स 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति वाक्यविषय·। कुतश्चैतद्विज्ञायते तत्राह—प्रतिज्ञानात्। "य आत्मापहतपाप्मा विजर" (छा० ८।७।१) इति प्रकृत्य 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य' इत्यनेनाविद्यासम्बन्धकृतजरामृत्युशोकादिसकलदोषविनिर्मुक्तस्यात्मनोऽन्वेष्टव्यत्व विजिज्ञासितव्यत्वञ्चाभिधाय यस्तादृशमात्मान विजानाति "स सर्वांश्चलोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्" (छा० ८।७।१) इति तादृशात्मस्वरूपविद सर्वलोकसर्वकामप्राप्ते प्रतिज्ञानात्। तस्मादत्र परञ्ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्ति कर्मसम्बन्धनिर्मुक्तिरूपा मुक्तिरेवाभिधीयते। स्वाभाविकस्वरूपाविर्भावः स एवास्य जीवात्मन इति ॥४।४।२॥

ननु यस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरुक्ता तस्य तत्स्वरूप किंशब्दवाच्य किंलक्षणञ्चेत्यपेक्षायामाह—

आत्मा प्रकरणात् ॥४।४।३॥

अयमात्मा स्वरूपेणापहतपाप्मत्वादिगुणक एव। कुत.? प्रकरणात्। "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोक" (छा.८।७।१) इति प्रकरणादवगम्यते। अयमाशय। कर्मसंज्ञयाऽविद्यया तिरोहितस्वरूप ससारीत्युच्यते। स एव ब्रह्मविद्ययास्माच्छरीरात्समुत्थायार्चिरादिना परञ्ज्योतिरुपसम्पद्याविद्यातिरोधाननिवृत्त्याविर्भूतस्वरूपो मुक्त इत्युच्यते। अस्य चात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिसत्यसकल्पत्वान्ता ये गुणा ये च ज्ञानानन्दादयो गुणास्ते ससारदशाया

तिरोहिता आसन्। ततस्त एव गुणा विद्यया विनष्टे कर्मबन्धे परज्योतिरुपसम्पन्नस्याविर्भवन्ति नोत्पद्यन्ते।

तथा चोक्तं भगवता शौनकेन—

यथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः।

प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते॥ वि० ध० १०४।५७

॥४।४।३॥

इति सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्।

अथाविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम्।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४।४।४॥

किमयं परंज्योतिरुपसम्पद्य प्रक्षीणकर्मबन्धः प्रत्यगात्मा ब्रह्मविभागेन तिष्ठत्याहोस्विदविभागेनेति संशये 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।' (श्वे० १।६) इति स्वस्मात्पृथङ्मत्वा सेवितात्परमात्मनः पृथक्त्वेन जीवस्थितेःसत्त्वात् ब्रह्मविभागेनावतिष्ठत इति प्राप्तेभिधीयते—अविभागेनेति। 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते' (श्वे०।४।५) इति जीवस्याजत्वेन नित्यत्वात्। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः' (बृ० ३।७।२२) इत्याद्यासु श्रुतिष्वात्मपरमात्मनोर्व्याप्यव्यापकत्वनियम्यनियन्तृत्वश्रवणाद्व्याप्यनियम्यस्वरूपस्थितिप्रवृत्योस्तद्व्यापकनियन्त्रधीनत्वोपपत्तेः। व्याप्यस्य व्यापकात्पृथक्सिद्धेश्च व्याप्यव्यापकयोरविभागेन स्थित्युपपत्तेः। तस्माद् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति व्यपदेशादविभागेनैव तिष्ठतीति ॥४।४।४॥

इत्याविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम्।

अथ ब्राह्माधिकरणम् ।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥४।४।५॥

पूर्वं परं ज्योतिरुपसम्पद्य निवृत्तावविद्यातिरोधानस्यात्मनः स्वरूपाविर्भावो भवतीत्यभिहितम्। तत्र येन स्वरूपेणाविर्भूय तिष्ठति तत्स्वरूपं मतभेदेन विचार्यते। किमयं जीवोऽपहतपाप्मत्वादिनाविर्भूय तिष्ठति, उत चैतन्यस्वरूपेणाहोस्विदविरोधादुभयस्वरूपेणेति संशये जैमिनिराचार्यस्तु ब्राह्मेणापहतपाप्मत्वादिना स्वरूपेणेति मन्यते। कुतः ? उपन्यासादिभ्यः। दहरवाक्यावगतापहतपाप्मत्वादयो हि ब्रह्मगुणाः प्रजापतिवाक्येऽप्यात्मनो गुणतया 'य आत्मापहतपाप्मे'त्यारभ्य 'सत्यसंकल्पः' इत्यन्तेन वाक्येनोपन्यस्यन्त इति। तस्मात्प्रत्यगात्मनः स्वरूपतो गुणतश्चापहतपाप्मत्वादिकमेवोपपद्यते न विज्ञानमात्रस्वरूपत्वमिति जैमिनेर्मतम् ॥४।४।५॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥४।४।६॥

"एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (बृ० ४।५।१३) इत्याद्यनेकश्रुतिभ्यः प्रत्यगात्मनस्तदात्मकत्वात्प्रज्ञानघनात्मकत्वाच्चैतन्यमात्रस्वरूपत्वात्; चिति तन्मात्रेण रूपेणायमवतिष्ठत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥४।४।६॥

एवं मतद्वयम्प्रदर्श्य बादरायणो भगवान् स्वमतं सिद्धान्तयति—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥४।४।७॥

एवमपि—आत्मनो विज्ञानमात्रस्वरूपत्वाङ्गीकारेऽपि "उपन्यासात्पूर्वभावात्" अपहतपाप्मत्वादीनां प्रकरणावगतानां गुणानामविरोधं बादरायणो भगवान् मन्यते। कुतो विज्ञायते। उपन्यासात्पूर्वभावात्। 'अपहत पाप्मे' त्यादिश्रौतवचनोपन्यासात्प्रमाणात्। पूर्वेषामपहतपाप्मत्वादिगुणानामपि भावाद्विद्यमानत्वात्। चेतन-

स्वरूपविरोधिपाप्मत्वादिदुष्टगुणनिषेधेनापहतपाप्मत्वादीनां चेतनस्वरूपप्रकाशकानां गुणानामविरोधादिति भावः । तदेवमपहतपाप्मत्वादीनां स्वरूपधर्मतया नाविद्यापरिकल्पितत्वम् । यथा च रसनेन्द्रियेणावगतस्य कृत्स्नस्य सैन्धवघनस्य रसमयत्वेन चक्षुराद्यवगततद्रूपकाठिन्यादिभिर्न विरोधः, तथैव 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इति वाक्यावगतेनात्मनो विज्ञानघनस्वरूपेण 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादिवाक्यावगतापहतपाप्मत्वादिधर्माणामविरोध इति ॥४।४।७॥

इति ब्राह्माधिकरणम् ।

अथ सकल्पाधिकरणम् ।

सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः ॥४।४।८॥

एवं ब्रह्मोपसम्पत्त्यनन्तरं मुक्तात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिसत्यसकल्पत्वान्तगुणकत्वमाविर्भवतीत्यभिहितम् । इदानीं स एव मुक्तात्मा साकल्पिकान्विषयाननुभवतीति छान्दोग्येऽभिधीयते । 'स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा" (छा० ८।१२।३) इत्यादिना । अत्राय सशयः । किं मुक्तात्मप्रयत्नान्तरजन्येय स्त्र्यादीनामुपस्थितिराहोस्वित्परमात्मन इव सकल्पादेवेति । तत्र लोके कार्यमात्रस्य तत्तत्पुरुषप्रयत्नजन्यत्वदर्शनादस्यामपि मुक्तात्मनः प्रयत्नान्तरसाध्यत्वमेव स्यादिति प्राप्तेऽभिधीयते— सकल्पादेवेति । सकल्पादेवास्य सर्वकामावाप्तिः । कुतः ? तच्छ्रुतेः । "स यदि पितृलोककामो भवति सकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (छा० ८।२।१) इति सकल्पादेव पित्रादिसमुत्थितिः श्रूयते । एवकारः साधनान्तरनिरपेक्षतां द्योतयति । सकल्पमात्रादेव सर्वकामावाप्तिरिति निर्गलितोर्थः ॥४।४।८॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥४।४।९॥

अत सत्यसङ्कल्पादेवानन्याधिपति —नास्त्यन्य पुरुष कर्मादिर्वा नियामक सङ्कल्परोधको यस्य तादृशो भवति। इदन्तु युक्तम्। ब्रह्मोपासनयैवास्य सत्यसङ्कल्पत्वादिसिद्धिरिति न ब्रह्माधिपत्यमत्र वार्यते किन्तु तदतिरिक्तस्य कस्यचिदप्याधिपत्य नास्तीत्यभिधीयते। अत एव परब्रह्मप्रसादेन लब्धसत्यसङ्कल्पत्वात् तस्यानन्याधिपतित्वसिद्ध्या स्वराट्त्वनिष्पत्ते 'स स्वराड् भवति' (छा० ७।२५।२) इत्यभिहितम् ॥४।४।९॥

इति सङ्कल्पाधिकरणम् ।

अथाभावाधिकरणम् ।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥४।४।१०॥

इदानीं मुक्तात्मन सङ्कल्पसत्त्वात्तस्य शरीरेन्द्रियादिविषये विचार्यते—किं मुक्तात्मन शरीरेन्द्रियाणि सन्ति नवेति सशये शरीरेन्द्रियाणामभाव बादरिराचार्यो मन्यते। कुतश्चैवम् ? आह ह्येवम्। 'न वै सशरीरस्य सत प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीर वा वसन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत।' (छा० ८।१२।१) इति मुक्तस्य शरीराभावमभिधत्ते। सङ्कल्पस्य मनोऽधीनत्वान्मनोऽतिरिक्ताना मिन्द्रियाणामभाव इत्यपि मतम्। अत एव 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। य एते ब्रह्मलोके'' (छा० ८।१२।५।६।) इति श्रुति सगच्छत ॥४।४।१०॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥४।४।११॥

जैमिनिराचार्यो मुक्तस्य शरीरेन्द्रियाणा भाव मन्यते। कुत ? विकल्पामननात् 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा'

(छा० ७।२६।२) इति त्रिविधभावस्य कथनात् शरीरस्य भावोस्तीत्य वगम्यते। 'अशरीरं वाव सन्त'मिति श्रुतिस्तु कर्मादिनिमित्त कशरीराभावमभिधत्त इति ॥४।४।११॥

एवं मतद्वयम्प्रदर्श्य स्वकीय सिद्धान्तमाविष्करोति भगवान् बादरायण—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥४।४।१२॥

अत एव सकल्पादेवोभयविधं शरीरेन्द्रियादिसहित तद्रहितञ्च मुक्त जीवं मन्यते भगवान् बादरायण। द्वादशाहवत्। यथा 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयु' रित्युपैति चोदनया द्वादशाहस्य सत्रत्वम् 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' इति यजति चोदनया च द्वादशाहस्यैवाहीनत्वं भवति। तथा सकल्पवैचित्र्यादत्राप्युभय विधम् ॥४।४।१२॥

शरीरेन्द्रियरहितस्य कथं भोगोपपत्तिरित्यपेक्षायामाह—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥४।४।१३॥

स्वसंकल्पसृष्टतन्वाद्युपकरणाभावे सन्ध्यवदुपपत्ते स्वप्नभोगव-दीश्वरसृष्टैरुपकरणैर्भोगोपपत्ते। अयम्भाव। करणकलेवराद्यभा वेऽपि मुक्त. परमात्मप्रदत्तैस्तैस्तैरेव पितृलोकादिभिश्च लीलारसमनु भवति ॥४।४।१३॥

भावे जाग्रद्वत् ॥४।४।१४॥

स्वसंकल्पेन प्राप्तकरणकलेवरादिभावे पितृलोकादिविषयसद्भावे च जाग्रज्जीवभोगवन्मुक्तपुरुष स्वप्नभोगविलक्षण लीलारसमनु भवति ॥४।४।१४॥

नन्वात्मनोऽणुत्वात् 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादि-नोक्तेष्वनेकशरीरेषु व्याप्त्यनुपपत्तेर्नानेकैर्निरात्मकै शरीरैर्मुक्तस्य भोग उपपद्यत इत्यत्राह—

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥४।४।१५॥

यथैकस्मिन्प्रदेशे समवस्थितस्यैकस्यैव प्रदीपस्य स्वप्रभाद्वारा देशान्तरावेशः, यथा चैकस्मिन्नपि देहे हृदयाद्येकदेशावस्थितस्यात्मनश्चैतन्यव्याप्त्या सर्वस्मिन्नपि शरीर आत्माभिमानस्तथा मुक्तस्याप्यनेकशरीरेषु समान एवात्माभिमानो व्यवहारश्च। एतदुक्तम्भवति। बद्धानांजीवानामनादिकर्मणा संकुचितज्ञानत्वाद्देहान्तरे चैतन्यद्वारा व्याप्तिर्न भवति स्वदेहे तु तेषामावेशोऽस्त्येव। मुक्तानान्तु परमात्मोपासनयापगतकर्मबन्धानां परमात्मानुग्रहेणासंकुचितज्ञानत्वात् स्वदेहवद्देहान्तरेऽपि व्याप्तिरुपपद्यते। तेन च सर्वोऽपि व्यवहारः सम्यगुपपद्यते। तथा हि दर्शयति। "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" (श्वे० ५।७) तथा च स्वसंकल्पेनैव मुक्तस्य सर्वमुपपद्यते' इति न कश्चिद्दोषः ॥४।४।१५॥

ननु "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंच न वेदनान्तरम्" (बृ० ४।३।२१) इत्येषा श्रुतिर्मुक्तस्य बाह्यान्तरज्ञानाभावं वदत्यतः कथं तस्य सर्वज्ञत्वमुच्यत इत्यत्राह—

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥४।४।१६॥

एतज्ज्ञानाभाववचनं स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षं न तु मुक्तिविषयकम्। स्वाप्ययः सुषुप्तिस्तत्र ज्ञानाभावः श्रुत्यन्तरेऽपि प्रतिपाद्यते "नाहं खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति" (छा० ८।११।२) इति। तथा 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इत्यादिदर्शनात् सम्पत्तिर्मरणम्। तत्रापि ज्ञानाभावः श्रुतौ प्रतिपादित "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति" (बृ० २।४।१२) इति। मुक्तस्य हि सार्वज्ञ्यं श्रुतावाविष्कृतम्—"स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान्

पश्यन् रमते । य एते ब्रह्मलोके" (छा० ८।१२।५।६) इति मुक्ताव-स्थायां सर्वविषयकं ज्ञानं स्पष्टमेवाविष्कृतम् । तस्मात्सङ्कल्पेनैव मुक्तस्य शरीरेन्द्रियादीनां सत्त्वमसत्त्वं सर्वज्ञानाश्रयत्वञ्चेति सिद्धम् ॥४।४।१६॥

इत्यभावाधिकरणम् ।

अथ जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् ।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥४।४।१७॥

पूर्वं संकल्पमात्रेण मुक्तस्य सर्वकामावाप्तिरभिहिता । अनन्या-धिपतित्वञ्चोक्तम् । तथा सतीदमिदानीं विचार्यते । किं मुक्तस्य संकल्पमात्रेण परमपुरुषस्येव सर्वेश्वरत्वमपि प्राप्यत आहोस्वित्सर्व-कामप्राप्तिरूपमैश्वर्यमेवेति संशये जगदीश्वरत्वमपि । कुतः ? मुक्त-स्यानन्याधिपतित्वेनार्थात्सर्वाधिपतित्वोपपत्त्या परमेश्वरस्येव सर्व-नियन्तृत्वोपपत्तेः । "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति परमपुरुष-साम्यापत्तिश्रवणाज्जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वमपि मुक्तस्य सम्भवतीति प्राप्तेऽभिधीयते—जगद्व्यापारवर्जमिति । जगद्व्यापारो जगदुत्प-त्त्यादिकर्तृत्वं तेनाशेषचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनं तद्वर्जमविद्यातिरोधानराहित्यपूर्वकपरब्रह्मानुभवरूपम् 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणे'तिश्रुत्यभिहितसंकल्पमात्रेण सर्वकामा-वाप्तिरूपं मुक्तस्यैश्वर्यमस्ति । न तु जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वमपि । तत्तु परमपुरुषस्यासाधारणम् । कुतः ? प्रकरणात् । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" (तै० ३।१) इति परमात्मानमेव प्रकृत्या-म्नातम्—न तु मुक्तात्मानम् । एवं "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" (छा० ६।२।३) इत्यादि प्रकरणान्तरेष्वपि ज्ञेयम् ।

असन्निहितत्वाच्चापि मुक्तस्य । न हि जगन्नियमनादिविधायकप्रकरणे मुक्तस्य सान्निध्यमप्यस्ति येन तस्याप्यय व्यापार स्यात् ॥४।४।१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥४।४।१८॥

ननु च "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छा० ७।२५।२) इत्यादौ प्रत्यक्षेणैव स्वातन्त्र्योपदेशा न्मुक्तस्य निरङ्कुशमैश्वर्यं स्यादितिचेन्न । आधिकारिकमण्डलस्थोक्ते । अधिकारे नियुक्तानां हिरण्यगर्भादीनां लोकेषु स्थितान् भोगान्प्रति मुक्तस्य कामचारस्त्वोक्ते विमुक्तबन्धो मुक्तः ब्रह्मविभूतिभूतेषु हिरण्यगर्भादीनां विकारलोकेषु यथासङ्कल्प विहरतीति तदर्थं । न हि तेन वाक्येन जगद्व्यापारोऽपि मुक्तस्यास्तीति प्रतिपाद्यते ॥४।४।१८॥

तर्हि ससारिवन्मुक्तस्यापि विकारान्तर्वर्तिभोगभाक्त्वाद्बद्धस्येव मुक्तस्यापि भोग्य क्षयिष्णु स्यादित्यत्राह—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥४।४।१९॥

चकार पूर्वोक्तहिरण्यगर्भादिलोकभोगसमुच्चयार्थक । न केवल माधिकारिकलोकस्थानेव भोगाननुभवति मुक्तोपि तु विकारे-जन्मादिके न वर्तत इति निरस्ताखिलविकार निरवधिककल्याण गुणसागर पर ब्रह्म सविभूतिकमप्यनुभवति । तथा हि मुक्तस्य परमात्मनि सर्वात्मकेऽनन्तकल्याणगुणेऽनुभवितृत्वेन स्थितिमाह श्रुति –' यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभय प्रतिष्ठा विन्दते । अथ सोऽभय गतो भवति' (तै० २।७) "रसो वै स रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति ' (तै० २।७) इति ॥४।४।१९॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥४।४।२०॥

जगत्सृष्टिनियमनादिरूपो व्यापारस्तु परमात्मन एवेति दर्श यतश्चैवमेव श्रुतिस्मृती ' पतिं विश्वस्य" 'एष सर्वेश्वर एष भूताधि